प्रकाशक
स्वामी सत्यदेव परिव्राजक
सत्यज्ञान प्रकाशन
ज्वालापुर (उत्तर प्रदेश)

अप्रैल, १९५४

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सर्कस
नई दिल्ली

पुराय-स्मृति



परम श्रद्धेय तात !

आप तो चले गए, परन्तु आपकी अमर यश-सुरभि दिग्दिगन्तरों में फैल रही हैं। निःसन्देह आप युग-प्रवर्तक थे, और आपने सभ्य संसार के लोगों को नवीन विचारधारा की ओर मोड़ दिया। यह आपका 'गांधी-युग' भगवान् बुद्ध के बाद विश्व में शान्ति लाने के लिए महान् प्रकाश-स्तम्भ का काम करेगा। मैं बड़ी श्रद्धा और स्नेह से आपके पवित्र चरणों में अपनी यह कलाकृति पहले की तरह (सन् १९३६ में) सादर समर्पित करता हूँ।

पुस्तक-परिचय

यह पुस्तक पहली बार सितम्बर सन १९३५ में छपी थी। इसे मेरे प्रेमी पाठकों ने बहुत पसन्द किया था। इसकी १००० प्रतियां जब निकल गईं तो मुझे दूसरा संस्करण निकालने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इच्छा रहते हुए भी दूसरा संस्करण जल्दी न निकल सका। दृष्टिहीनता की वजह से मेरा उत्साह जरा मन्द सा होगया, क्योंकि प्रूफ देखने का काम मैं नहीं कर सकता था।

सन् १९४७ के अगस्त मास में जब ईश्वर की कृपा से देश स्वाधीन हुआ और हम लोग अपने घर के मालिक बन गये तो बालक-बालिकाओं के हाथों में चरित्र-संगठन करने वाली पुस्तकें देने की आवश्यकता हुई। तब मेरी इस "ज्ञान के उद्यान में" नामक प्रसिद्ध पुस्तक का प्रकाशित कराना अत्यन्त आवश्यक हो गया। यह युग राष्ट्र-निर्माण का है। इस ग्रन्थ में कर्तव्य-परायण नागरिक बनाने के लिए बड़े सुन्दर ४० निबन्ध दिये गये हैं, जिन्हें पढ़कर विद्यार्थियों को राष्ट्र-धर्म की शिक्षा मिलती है। "शिक्षा का आदर्श" नाम की एक छोटी-सी पुस्तक बहुत वर्ष हुए मैंने लिखी थी। उसे भी इसमें सम्मिलित कर दिया गया है, जिससे शिक्षाप्रेमी अध्यापक-अध्यापिकाएँ मेरे विचारों से पूरा लाभ उठा सकें। चरित्र का व्यापक स्वरूप समझाने की पूर्ण चेष्टा की गई है और कौमें कैसे उठा करती हैं, इस महत्वपूर्ण प्रश्न की मीमांसा भी की गई है। यदि किसी प्रकार यह मेरी पुस्तक स्कूलों और पाठशालाओं में पाठ्य पुस्तक बन जाये तो अवश्य ही इसके द्वारा राष्ट्र की महती सेवा हो सकेगी।

मुझे आशा है कि यह मेरा ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की उपयोगी सेवा करेगा और इसके द्वारा देशवासी राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने की सामग्री पा सकेंगे।

निवेदक

सत्यदेव परिव्राजक

नई देहली
अप्रैल, १९५४

विषय-सूची

चरित्र-संगठन-कुञ्ज

बाग़ की बहार

ज्ञान के उद्यान में

चरित्र-संगठन-कुञ्ज



The aim of knowledge is Truth,
And Truth is a need of the soul.

—*Lessing*

He who would make a real progress in knowledge must dedicate his age as well as his youth—the latter growth as well as the first fruits—at the altar of Truth.

—*Bishop Berkeley*



ज्ञान के उद्यान में

पहला पुष्प

उद्यान का सौन्दर्य

संसार एक उद्यान है। प्रभु ने इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के सुन्दर पदार्थ उत्पन्न किये हैं। जिस ओर दृष्टि दौड़ाइये, प्राकृतिक विभिन्नता हमें विस्मित करती है। प्रातःकाल जिस समय भगवान् भास्कर अपनी सुनहरी रश्मियों को वन-उपवनों में फैलाते हैं तो कैसे रंग-बिरंगे फूल जंगल की शोभा को बढ़ाते हैं! वृक्षों के पत्ते और गाने वाले पक्षियों का कलरव कैसा प्यारा मालूम होता है! किसी भी ज्ञान के प्यासे को वहाँ काफ़ी सामग्री अध्ययन करने के लिए मिल जाती है। वनस्पति-शास्त्र के मर्मज्ञ वर्षों अपनी जीवनियाँ जंगलों में बिता देते हैं, परन्तु तिस पर भी वे नहीं अघाते। उनके अन्वेषणों से भरे हुए ग्रन्थ पुस्तकालयों में विद्यार्थियों के हृदयों को पुलकित करते हैं और जिज्ञासु उनका आनन्द लेता हुआ सृष्टिकर्त्ता को लाख बार धन्यवाद देता है कि जिसने इस उद्यान को ऐसा ख़ूबसूरत बनाया है।

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने बिल्कुल सत्य कहा है—

सकल पदारथ हैं जग माहीं।
कर्महीन नर पावत नाहीं॥

प्रभु ने तो संसार को स्वर्ग-रूप में बनाया है, जिसमें किसी भी चीज़ की कमी नहीं। स्वर्ग सातवें आसमान पर नहीं है, वह मरने के बाद नहीं

मिलता, उसे ढूँढने के लिए किसी दूसरे लोक में जाने की आवश्यकता नहीं, और न वह किसी पीर-पैग़म्बर की सिफारिश से ही प्राप्त होता है; वह तो है हमारे अपने उद्योग का फल—जिसे हम इसी संसार में अपने पुरुषार्थ से पा सकते हैं।

सचमुच प्रभु का यह उद्यान सौन्दर्य से परिपूर्ण है। मानव-समाज भी इसका पूरा आनन्द उठा सकता है, यदि वह अपन नागरिकों को चरित्रवान् बना दे। जैसे बाग़ में पुष्प अपनी शोभा बढ़ाते हैं, जैसे फलदार वृक्ष अपने मधुर फलों से संसार की तृप्ति करते हैं, इसी प्रकार समाज के चरित्रवान् नर-नारी अपने चारों ओर अमृत की वर्षा करते हैं। गुलाब का फूल अपनी मीठी महक के द्वारा सब को बुलाता है, रजनीगन्धा अपनी सुखद सुरभि से सबको आकर्षित करती है, इसी प्रकार चरित्रवान् मनुष्य अपने सद्गुणों से अपने यश को फैलाता है। बर्फ से ढकी हुई हिमालय की चोटियाँ अत्यन्त दूर होने पर भी बहुत नज़दीक मालूम होती हैं। इसी प्रकार सच्चरित्र नागरिक समाज में बर्फानी चोटियों की तरह दूर से चमकते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं मानों वे हमारे अत्यन्त निकट हैं। उनके सम्पर्क में आने वाले सभी लोग उन्हें अपने अत्यन्त नज़दीक बोध करते हैं।

मानव-समाज में सच्चरित्र नर-नारियाँ निस्सन्देह सुख का आगार हैं। उन्हीं के कारण समाज में शान्ति फैलती है और प्रत्येक सदस्य अपने अधिकार को प्राप्त करता है। स्वाभाविक विकास होने के लिए सच्चरित्रता एक अमोघ साधन है। जिन जातियों ने अपने नागरिकों के चरित्र-बल को बढ़ाने का प्रयत्न निरन्तर जारी रक्खा, वे विश्व में अमर कीर्त्ति पा गईं। सन्त सुकरात के कारण यूनान का यश भुवन में विख्यात होगया। चरित्रवान् जार्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य अमरीका के बच्चों के लिए प्रकाश-स्तम्भ बन गया और उसकी जीवन-स्फूर्ति से प्रत्येक जाति के नवयुवक शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार हमारे देश के लोकनायक बाल गंगाधर तिलक के बलिदान की गाथा भारतवर्ष के बच्चों को

उत्थान-पथ दिखलाती है और वर्तमान युग के महापुरुष महात्मा गान्धीजी का चरित्र-बल सारे संसार को ज्ञान-पथ की ओर ले जाता है ।

ओहो ! चरित्र में कितनी महान् शक्ति है ! जातियां तोपों और बन्दूकों से बलशाली नहीं होतीं, बड़ी-बड़ी फौजें उन्हें प्रभावशाली नहीं बनातीं, और नाहीं साइन्स के आविष्कार उनकी कीर्त्ति को फैलाते हैं ! जो जाति चरित्रवान् नर-नारी उत्पन्न करती है, जिसमें धीमान्, दृढ़व्रती, सत्यवक्ता और न्यायशील सदस्य उत्पन्न होते हैं, वही जाति—वही राष्ट्र—उन्नत मुख किये साभिमान अपनी संस्कृति का प्रसार करती है । इसलिए वे मनुष्य धन्य हैं जो अपनी सारी शक्ति, अपना मस्तिष्क और अपना सर्वस्व होमकर समाज के बच्चों को जीवन-पथ दिखलाते हैं, उनमें सच्चरित्रता भरते हैं, उन्हें नीरोग विचार देते हैं और जनता की भाषा में ऐसे ग्रन्थ लिखते हैं जो अन्धकार का नाश कर ज्ञान का प्रकाश करते हैं । ऐसी ही जाति का जीवन सार्थक है, क्योंकि उसी के पास सबसे बड़ी सम्पत्ति है ।

अच्छा, उस सच्चरित्रता का स्वरूप क्या है ? वह कौन-सा ऐसा स्रोत है जिसका निर्मल जल पान कर हम चरित्रवान् हो सकते हैं ? सच्चरित्रता के उस सुन्दर स्वरूप, उसके सुखद स्रोत के विषय में हम अगले पुष्प में बतलायेंगे । संसार के इस लावण्यमय उद्यान को हम कैसे सुरम्य बना सक़ते हैं, यही एक महान् प्रश्न है । हमने अपने ही पापों से इसे नरकमय बनाया हुआ है, अपने ही स्वार्थ से इसे दुर्गन्ध-युक्त कर दिया है । वह कौन सा स्रोत है जिसके विमल जल को लेकर हम अपना परित्राण कर सकते हैं और इसी पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य ला सकते हैं ? सच्चरित्रता के इस अत्यन्त उपयोगी विषय पर अब हम प्रकाश डालते हैं ।

God Almighty first planted a garden. And, indeed, it is the purest of human pleasures.

—*Francis Bacon*

दूसरा पुष्प

चरित्र-संगठन-स्रोत

चरित्र की उस महान् शक्ति का स्रोत कौन-सा है ? जार्ज वाशिंगटन, अब्राहम लिंकन, जॉन स्टुअर्ट मिल, नैपोलियन बोनापार्ट, प्रिन्स बिस्मार्क, जोजफ मेजिनी, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि महापुरुषों ने सच्चरित्रता के उस ब्रह्मास्त्र की प्राप्ति कहां से की थी ? ये प्रश्न हैं जिन पर विचार करना परमावश्यक है । प्राचीनकाल के आर्यों ने सच्चरित्रता का स्रोत माता को बतलाया है और गृहस्थाश्रम को सात्विक गुणों का आगार कहकर उसकी बड़ी प्रशंसा की है। वे मानते थे कि जिस राष्ट्र ने अपने गृहस्थाश्रम का जितना अधिक सुधार किया है, उसी पैमाने में वहां के नर-नारी सद्गुणों से विभूषित हो जाते हैं । इसीलिए महर्षि मनु ने यहां तक कह डाला कि जहां नारियों की पूजा होती है वहीं देवता निवास करते हैं। विदेशी लेखकों ने उसी को Home Power अर्थात् गृह-शक्ति कहकर उसकी प्रतिष्ठा की है । आज भारतवर्ष की अवनति का मुख्य कारण यही है कि यहां गृह-शक्ति की महत्ता को अनुभव नहीं किया गया । हमारी जनता विवाह-सम्बन्ध के आदर्श को समझती नहीं और उस सम्बन्ध से जो फूल खिलते हैं उनका मूल्य नहीं जानती। प्रकृति ने जो हमारे अन्दर काम-वासना उत्पन्न की है उसकी तृप्ति तथा घर में हमारी सेवा करने वाली एक दासी, यही भावना हम लोगों के मन में स्त्री के प्रति बसी रहती है । यह सत्य है कि हमारे समाज में कुछ सुसंस्कृत घर अपवाद स्वरूप भी हैं, लेकिन वे बहुत थोड़े। इसी-लिए हम पिछले एक हजार वर्षों से अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को हल नहीं कर सके, क्योंकि हमने गृहस्थाश्रम के सर्वोत्कृष्ट

प्रभाव को कभी भी हृदयङ्गम नहीं किया। हमने इस बात को नहीं समझा कि बच्चे की शिक्षा विदुषी माता द्वारा ही हो सकती है और वही उसे संसार-संग्राम के योग्य बना सकती है। जीवन के वे पहले कुछ वर्ष संस्कार-धारण के होते हैं, जब बच्चा केवल नकल करता है। अपने इर्द-गिर्द के वातावरण को वह आसानी से पकड़ लेता है और जो कुछ उसके बड़े-बूढ़े, नौकर-चाकर और पड़ौसी करते हैं उन्हीं को वह अपने लिए भी हितकर समझता है। सोचने का मादा तो वयस्क होने पर ही आता है, किन्तु पहले वर्ष केवल अनुयायी होने के ही होते हैं। जो संस्कार इन पहले वर्षों में बच्चों पर पड़ जाते हैं वे बुढ़ापे तक साथ जाते हैं और अमिट हो जाते हैं।

इसीलिए आर्य-जाति के महापुरुषों ने जब अपने गुरुकुल स्थापित किये थे, जब वे अपने शिशुओं को वानप्रस्थी कुलों में विद्याध्ययन के लिए भेजते थे, तो वहां ऋषि-पत्नियां ही उन्हें उत्तम शिक्षा देती थीं। जब वे बड़े हो जाते थे तब उनका अध्ययन-कार्य ऋषियों द्वारा होता था। यही कारण था कि आर्य-जाति ने उस काल में बड़े ऊंचे दर्जे के दार्शनिक, शक्तिशाली क्षत्रिय, तेजस्वी ब्राह्मण और त्यागी महापुरुष पैदा किये थे। सच्चरित्रता का स्रोत है माता। जिस घर में पढ़ी-लिखी माता है, वही घर धन्य है। वहां से जो सन्तान बाहर आयेगी वह राष्ट्र के आदर्श को पूर्ण करेगी। योरुप की जातियों ने भी इस सत्य सिद्धान्त को भली प्रकार समझा है, इस कारण शताब्दियों के अनुभव के बाद वे भी आज इस परिणाम पर पहुंची हैं कि बच्चे के पहले पांच-सात वर्ष जीवन में सबसे अधिक कीमती होते हैं। योरुप की उन्नतिशील जातियों ने अपने बच्चों की शिक्षा स्त्रियों के हाथों में दे दी है और वहां सभी प्रारम्भिक स्कूल अच्छी अध्यापिकाओं द्वारा सुशासित होते हैं। वे अध्यापिकायें मनोविज्ञान की सहायता से शिक्षा के सुलभ तरीके निकालती हैं और प्राकृतिक नियमों के अनुसार इन शिशुओं का विकास करती हैं। रोमन कैथोलिक ईसाई भी अपने मठों में छोटे बच्चों को भिक्षुणियों

के सुपुर्द कर देते हैं और आज शताब्दियों से उनके यहां की शिक्षा की धाक सारी दुनिया पर पड़ी हुई है ।

अतएव यदि हम चाहते हैं कि हमारा राष्ट्र उन्नत हो, हम संसार की सभ्य जातियों के मुकाबले में खड़े हो जायें, हमारा कूड़ा-कचरा निकल जाये और हम में श्रेष्ठतम संस्कृति का विकास हो, तो हमें अपने घरों को सुधारना चाहिए । हमें ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए जिसके द्वारा हम सदाचारिणी, धर्मात्मा और सुगृहिणी देवियां पैदा कर सकें। हमारे बच्चे अपने प्रारम्भिक वर्षों को अनाचारी नौकरों की संगत में खर्च न करें, बल्कि सुशिक्षिता माता के प्रभाव में रहकर सच्चरित्रता को धारण करें । धनी लोग अपने घरों में जिन आदमियों को नौकर रखते हैं, बहुधा बच्चे उनके द्वारा बिगड़ जाते हैं। हम मूर्खतावश यह समझते हैं कि छः महीनों का बच्चा कुछ भी नहीं समझ सकता, एक वर्ष की लड़की कोई बुरा संस्कार पकड़ नहीं सकती; इसी प्रकार तीन-चार वर्ष के बच्चे को हम अबोध मानकर उसके सामने सब प्रकार की कुचेष्टायें कर बैठते हैं। निस्सन्देह बच्चे अबोध होते हैं, पर उनकी इन्द्रियां संस्कारों को बड़ी जल्दी पकड़ती हैं । बच्चे की पहली मुस्कराहट से ही उसकी शिक्षा का समय प्रारम्भ हो जाता है । बहुत से व्यभिचारी माता-पिता अपने पांच-छः महीने के शिशुओं के सामने ऐसे दुष्कर्म करते रहते हैं जो आगे चलकर उस बच्चे के जीवन को नाश करने वाले बन जाते हैं । जिन्हें हम बिल्कुल साधारण बातें समझते हैं, जो घटनायें हमारे लिए बिल्कुल मामूली हैं, वे ही उन बच्चों के लिए बड़े नतीजे पैदा करती हैं ।

स्वर्गीय पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अपनी माता के पुण्यप्रताप से ही इतने बड़े दिग्गज विद्वान् हुए थे। उसी विदुषी माता के उपदेश से उन्होंने विधवाओं के उद्धार का संकल्प किया और हिन्दू-समाज में अमर-कीर्ति प्राप्त की । जितने भी महापुरुष संसार में हुए हैं, उन सबकी महत्ता का स्रोत 'माता' इस शब्द में छिपा हुआ है । नये-नये आवि-

ष्कारों के भूखे भले ही अपनी स्त्रियों को राजनीति के पचड़ों में डाल दें, भले ही उन्हें पापी पेट के मायाजाल में फँसा दें, भले ही वे स्वतन्त्रता-युग की आड़ लेकर नारियों को पुरुषों के मुक़ाबिले में खड़ा करने की डींग हाँकें, परन्तु जब इस आँधी-तूफान की मिट्टी निकल जायगी, आकाश निर्मल होगा और सूर्यदेव चमकेंगे, तो इन्हें अपनी भूलें मालूम होंगी। वे फिर उसी सत्य को ग्रहण करेंगे जिसे शताब्दियों से संसार की उन्नत जातियों ने अपने अनुभव से सीखा है। नारी का स्वराज्य घर में है; वही वहाँ की रानी है और उसी के द्वारा राष्ट्रों का उत्थान हो सकता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्यों फिर सभ्य मनुष्य बहक जाते हैं? क्यों आज स्त्रियों को घरों की देवी न बनाकर राजनीतिक हलचलों में खींचे लिए जा रहे हैं? क्यों आज घरों को बिगाड़ कर होटलों की प्रतिष्ठा बढ़ाई जा रही है? और क्यों युवा लड़कियों के हृदयों में आर्थिक स्वतन्त्रता के साँप ने घर कर लिया है, जिसके कारण वे नौकरियों के लिए दौड़ी जा रही हैं? सच्चरित्रता के इस पवित्र विषय में पूर्णतया प्रवेश करने से पहले हम इन प्रश्नों पर प्रकाश डालना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। अतएव आइये, पहले बीसवीं सदी की इस अशान्ति के कुछ कारणों की पड़ताल कर लें; तभी अपनी लेखनी को आगे बढ़ायेंगे।

The mother's heart is the child's school room.

—*Henry Ward Beecher*

Men are what their mothers made them.

—*Emerson*

The future destiny of the child is always the work of the mother.

—*Napolean Bonaparte*

तीसरा पुष्प

वर्तमान अशान्ति का मुख्य कारण

भारतवर्ष आज नवीन युग में प्रवेश कर रहा है। इस नवीन युग का उत्पादक योरुप है। जब से हमारा सम्बन्ध योरुप की सभ्य जातियों से हुआ है, तभी से हम वहाँ की शिक्षा और संस्कृति से प्रभावित होते जा रहे हैं। योरुपीय जाति का भारतवर्ष में शासन रहा है, इस कारण स्वाभाविक ही इस देश का शिक्षित समुदाय, जिसकी रोटी अधिकारियों की कृपा पर निर्भर रहती है, योरुपीय प्रभाव से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता था। बहुत सी बातें तो शासकों को खुश करने के लिए अपनाई जाती हैं और बाक़ी धीरे-धीरे खुला स्थान पाकर स्वयं प्रवेश कर गई हैं। हमारे घर हमारी सन्तान को किसी प्रकार की उच्च शिक्षा नहीं देते, इसलिए भी स्कूलों और कालिजों में पढ़े हुए लड़कों पर विदेशी वातावरण का ही असर होना स्वाभाविक था। ऐसी परिस्थिति में हमारे देश के लोग विवेक-शून्य होकर नकलची बनने में लग गए हैं। उन्होंने बिना किसी सोच-विचार के, अपने समाज और देश के जल-वायु को ध्यान में न रखकर, योरुप वालों की नकल करना प्रारम्भ कर दिया है और जब नकल के विषैले फल हिन्दी-समाज को चखने पड़ते हैं तो फिर योरुप को बुरी तरह से कोसा जाता है। यही कारण है कि हमारे देश में आज अशान्ति की लहरें उठ रही हैं और बहुत से लोग हमसे यह पूछते हैं कि वे अपनी सन्तान को क्या पढ़ायें, लड़कियों को किस प्रकार की शिक्षा दें?

इतना ही नहीं बल्कि जब से हमारे यहाँ राजनीतिक जागृति हुई है तब से हम इस क्षेत्र में भी योरुप वालों की बुरी तरह से नकल करने

लगे हैं। स्त्रियों को राजनीति-क्षेत्र में लाकर हम उनके द्वारा अपनी समस्यायें हल करवाने के प्रयत्न में लग गए हैं। प्रगतिवाद के नशे में चूर कुछ वहके हुए लोग औरों के पद-चिह्नों पर चलकर गृहस्थाश्रम का नाश करने पर उतारू होगए हैं और वे यह खुले तौर पर कहते हैं कि गृहस्थाश्रम एक प्रकार का जेल है। वह रूढ़िवाद सिखलाता है, वही पुरानी दकियानूसी वातों का केन्द्र है, इसलिए स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध अटूट न होकर उसे स्वच्छन्दता का रूप धारण करना चाहिए ताकि वर्तमान युग के सभी आविष्कारों का मज़ा हम लोग ले सकें। वे यह भी कहते हैं कि वच्चों को पालने की जो मुसीवत है उसे राष्ट्र को देकर, मातृ-स्नेह नामक जो जंगलीपन की निशानी है उसे हटाकर, विलकुल स्वतन्त्र होकर इस संसार में विचरना चाहिए। कुछ लोग ऐसे हैं जो 'सुगृहिणी' शब्द को निकम्मा सिद्ध करने के लिए होटलों में भोजन कर अपने फुर्सत के समय को सिनेमाओं में लगाना चाहते हैं ताकि जीवन का आनन्द मिल सके। इस प्रकार स्त्री को गृह-शक्ति मान-कर उसके द्वारा नागरिकों को सच्चरित्र वनाने का जो आदर्श मानव-समाज ने लाखों वर्षों के अनुभव के वाद सीखा था, उसका वे मूलोच्छेद करना चाहते हैं। समाज की ऐसी हलचल और अशान्ति को दूर करने का उपाय क्या है ? संसार के इन वहके हुए प्रगतिवादियों और सिनेमा के शौक़ीनों को हम किस प्रकार ठीक मार्ग पर ला सकते हैं जिससे व्यथित मनुष्य का हृदय शान्त हो और स्त्रियों की क्षुभित इन्द्रियाँ आध्यात्मिक सुख लाभ करें ? इस विकट प्रश्न पर हमने विचार करना है।

सच वात यह है कि योरुप वालों ने अपनी संस्कृति और सभ्यता की आधार-शिला ग़लत सिद्धान्त पर रखी है। वे लोग यह मानते हैं कि आवश्यकताओं की वृद्धि सभ्यता की जननी है और उसी के द्वारा जीवन-संग्राम में तेज़ी आती है, जिसकी सहायता से सक्षम मनुष्यों को ही ज़ीवन-दान मिलता है और निकम्मे आलसी नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। इसी आधार-शिला के कारण पैसे ने योरुपीय जीवन में वड़ा ऊँचा दर्जा

पाया है और समाज को उसकी होड़ ने पागल बना दिया है। क्योंकि योरुपीय समाज शिक्षित है, वह सच्चरित्रता के गुणों को समझता है, इस कारण उन सद्गुणों को तत्काल तिलांजलि देना उसके लिए शक्य नहीं, पर जीवन की होड़ उसे पैसा कमाने पर मजबूर करती है। मगर पैसा आसानी से पैदा हो नहीं सकता, उसके लिए करना पड़ता है मकर-फरेब। तब अत्यन्त लाचार होकर योरुपीय समाज के सुशिक्षित मनुष्य को अपने मस्तिष्क को विकृत करना पड़ता है और सच्चरित्रता के अर्थों की पवित्रता को बिगाड़ना पड़ता है। कुछ लोग इससे भी आगे बढ़कर रोटी के मोह में ऐसे फँस गए हैं कि अपने पुरखों की लाखों वर्षों की कमाई पर टनों मिट्टी डालकर नई सभ्यता और संस्कृति का आविष्कार करने चले हैं और पागलों की तरह दुनिया को यह सिखलाते हैं कि जब तक उनकी शैली के विचार वाले सब लोग नहीं हो जाते—जब तक संसार में बोल्शेविक स्टेट स्थापित नहीं होती—तब तक संसार में सुख और शान्ति नहीं फैल सकती।

इस प्रकार जितना तूफान आज दुनियां में रोटी के सम्बन्ध में उठा है वह केवल इस ग़लत आधार-शिला के कारण ही है। चाहिए तो यह था कि मनुष्य जीवन की आवश्यकताओं को कम कर ज्ञान-प्राप्ति के साधन की वृद्धि करता, जीवन में संयम लाकर ज्ञानप्राप्ति के आविष्कारों के लाभ को सबके लिए सहल बना देता; लेकिन यह न कर सभ्य समाज आज जीवन में आवश्यकताओं की वृद्धि को ही सर्वतोमुखी उन्नति का मूल कारण समझ बैठा है, जिसकी वजह से उसका लाखों वर्षों का संग्रह किया हुआ खज़ाना लुटा जा रहा है और जो आविष्कार उसने अत्यन्त परिश्रम और अध्यवसाय के साथ किए हैं वे अपना भयंकर स्वरूप दिखला कर उसके हृदय को व्यथित कर रहे हैं। अतएव सबसे पहिले पूर्वीय संस्कृति की सर्वोपरि शिक्षा—आत्म-संयम और जीवन में आवश्यकताओं की कमी—का महत्व हमारे पाठकों को समझ लेना चाहिये, क्योंकि इसी पर सच्चरित्रता का सारा आधार है। हम

सामाजिक सदस्यों को तभी सच्चरित्रता का उपदेश कर सकते हैं जब पहले रोटी की विषम समस्या का हल उनके सामने रख दें। अतएव जीवन में आवश्यकताओं की कमी का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर थोड़ा विचार करते हैं।

मनुष्य एक पशु है। उसमें पशुपन की सभी बातें मौजूद हैं। शिक्षा द्वारा उस पशुपन का नाश कर जो व्यक्ति दैवी गुणों को पकड़ता है, उसे ही हम मनुष्य कहते हैं। पशु अपने सारे समय को भोजन के प्रयत्न में खर्च करता है और पक्षी भी दिन-रात उसी धुन में रहते हैं। जब मनुष्य पशुपन के इस स्वभाव को छोड़ कर इन्द्रिय-संयम करता है, तब उसकी आवश्यकताएं कम होने लगती हैं और ज्यों-ज्यों उसमें इस गुण की वृद्धि होती चली जाती है त्यों-त्यों उसके पास अवकाश की अधिकता होने लगती है; साथ ही धन-संग्रह करने की बीमारी उससे कोसों भागने लगती है। यह उसी अवस्था में सम्भव है कि जब पुरुष जिस पैमाने में आत्म-संयम करे उसी के अनुसार वह ज्ञान की वृद्धि भी करता जाए। यदि वह केवल अपनी आवश्यकताओं को कम करता है और ईश्वरीय ज्ञान की वृद्धि नहीं करता, तो वह या तो आलसी हो जायेगा या महाकंजूस। भारतवर्ष में यही हुआ है। हम लोगों को आत्म-संयम की शिक्षा देते हैं, जीवन की आवश्यकताओं को घटाना सिखलाते हैं, लेकिन उसी पैमाने में ज्ञान-संचय करने के साधन पैदा नहीं करते। परिणामस्वरूप हम बनियापन की बीमारी में डूब गए हैं। योरुप ने जीवन की आवश्यकताओं को बढ़ाया है और उसी पैमाने में साइन्स की उन्नति भी की है, इस कारण वहां विद्या देवी अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ नाचने लगी है। विविध दिशाओं में उन्नति करने वाला योरुपीय समाज अपनी पहली भूल के कारण रोटी की भयङ्कर समस्या में फंस गया है, जिसकी वजह से समाज के सभी सदस्यों को पैसा कमाने का ज्वर-सा चढ़ गया है, क्योंकि बिना पैसे के जीवन की आवश्यकताएं पूरी नहीं हो सकतीं। उसी भूल का विषैला फल गृहस्थाश्रम का नाश है। होटलों

में भोजन करने से कम खर्च पड़ता है; गृहस्थ बांधने में पैसे की बड़ी ज़रूरत है। वह पैसा कहाँ से पैदा हो ? जब सारा समाज पैसा कमाने की धुन में लग जाये तो मनुष्यों का मनुष्यपन नष्ट क्यों न होने लगे और सच्चरित्रता के सद्‌गुणों का विकृत स्वरूप क्यों न हो जाये ? इङ्गलैण्ड को अपने कल-कारखानों की खातिर हिन्दुस्तान की ज़रूरत थी; अपना पक्का माल बेचने के लिए उसे हिन्दुस्तान की मण्डी चाहिए थीं; अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे हिन्दुस्तान का सोना दरकार था; तब फिर वह हिन्दुस्तान को कैसे छोड़ता ? सच्चरित्रता की कसौटी को समझता हुआ भी एक अंग्रेज अपनी निजी आवश्यकताओं तथा अपने देश की ज़रूरतों के कारण साम्राज्यवादी बन जाता है और उसी कसौटी से वह नैतिक गुणों की व्याख्या करने लगता है। क्या इसमें उसका कोई दोष है ? बिल्कुल नहीं । दोष है केवल उसकी उस आधारशिला का जो उसे आवश्यकताओं की अधिकता के सिद्धान्त को सिखलाती है।

इसी प्रकार योरुपीय समाज की रमणियाँ जब अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में दिक्कत देखती हैं तो वे मनुष्य की तरह जीवन-संग्राम में उतरती हैं । वैसे ही मकर-फरेब कर उन्हें भी अपनी नौकरियों की रक्षा करनी पड़ती है और राजनीतिक क्षेत्र में जाकर ख्याति-लाभ तथा पैसा बटोरने का चाव पूरा करना पड़ता है। योरुप का सुशिक्षित सभ्य समाज अपनी पहली भूल के कारण ही ऐसी सब व्याधियों में फँसा हुआ है और वही भूल सर्वव्यापक होकर सारे संसार को अशान्त कर रही है।

भारतवर्ष को भी आज यही बीमारी लग गई है । पढ़े-लिखे लोग योरुप के नकलची बन कर अपनी ज़रूरतें बढ़ा रहे हैं। लेकिन यहाँ पैसा पैदा करने के साधन बहुत थोड़े हैं। ऐसी अवस्था में शिक्षित समुदाय यदि रिश्वत और अनाचार की ओर चला जा रहा है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? हमारा योरुप को कोसना व्यर्थ है। योरुप तो अपनी भूल

से निकलने का मार्ग तलाश कर ही लेगा; मूर्ख तो हम ही लोग हैं जो अपने पास विद्यमान सुन्दर सुसंस्कृत उपाय को छोड़कर दूसरों की नक़ल करने में लगे हुए हैं। योरुप के पास तो थोड़ी जन-संख्या है। उसके पास बड़े-बड़े उपनिवेश हैं। वह सुशिक्षित और पुरुषार्थी है। वह अपनी बीमारी का इलाज अवश्य ही तलाश कर लेगा, परन्तु उसकी भूल के चक्कर में पड़कर न तो हम दीन के रहेंगे और न दुनिया के। हमें बहुत शीघ्रता से अपनी भूल समझ लेनी चाहिए और आर्यों की सर्वोत्कृष्ट संस्कृति की आधारशिला का आदर कर उसी पर योरुप के सद्गुणों की पेवन्द लगाना उचित है; तब हम न केवल अपने आपको ही बचा लेंगे बल्कि सारे संसार को शान्ति-पथ दिखलायेंगे।

जब हम किसी काम को अपने सिद्धांतानुकूल, आत्मा की ध्वनि के अनुसार, करते हैं तो हमें उसके करने में कितना सुख मिलता है! इसके विपरीत जब किसी काम को करने से भय और आतंक की उत्पत्ति होती है तो वे काम हमारे जीवन में अशांति पैदा करते हैं। संसार की वर्तमान अशांति के कारण राष्ट्रों के वे कुटिल राजनीतिक ढंग हैं जिनके द्वारा वे दूसरे राष्ट्रों को धोखा देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। अतएव यदि हम अपने जीवन में शांति के इच्छुक हैं तो हमें अपनी आत्मा की ध्वनि के अनुसार अपना आचार बनाना चाहिए।

—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

चौथा पुष्प

आत्मा की आन्तरिक उत्कण्ठा

यह व्यापारिक युग है। चारों ओर कल-कारखाने बनाकर पक्का माल तैयार करने का भूत जातियों पर सवार है। व्यापार की होड़ में सब राष्ट्रों के पूंजीपति अपने पैसे का मायाजाल फैलाकर तृष्णा का अत्यन्त क्षुभित वातावरण उत्पन्न कर रहे हैं। योरुपीय समाज सभ्यता की अपनी ग़लत आधार-शिला के कारण व्यवसाय के भयंकर भँवर में फँस गया है। पहले जिस व्यापारिक युग का उसने बड़ी प्रसन्नता से स्वागत किया था, उसी के विषैले फलों के परिणाम को देखकर आज उसके चिन्ताशील विद्वान् अत्यन्त व्याकुल हो उठे हैं। संसार में आर्थिक संकट का तूफान खड़ा होगया है। उसी के कारण आज चारों ओर "रोटी! रोटी!!" की हाय-तोबा मच रही है। ऐसी अवस्था में यदि जनता के नेता पुकार-पुकार कर यह कहने लग जायें—"रोटी की समस्या ही संसार की मुख्य समस्या है", तो इसमें आश्चर्य ही क्या है, क्योंकि एक भूल से दूसरी भूल पैदा होती है और वह होती है बड़ी विकट। एक उलझन से दूसरी उलझन और दूसरी से तीसरी—इस प्रकार उलझनों का जङ्गल बनकर हमारी विवेकिनी बुद्धि का ह्रास कर देता है।

अतएव हमें सबसे पहले मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति पर विचार करना चाहिए। हमारे आश्रम में एक छोटा-सा कुत्ता है, जिसे हमने बड़े प्रेम से पाला है। जब हम उसे जंजीर से बांध देते हैं तो वह व्याकुल होकर चिल्लाने लगता है। हम उसे रोटी देते हैं, दूध देते हैं, पीने के लिए ठण्डा जल देते हैं, और समय-समय पर पुचकारते भी हैं; तिस पर भी वह अशान्त हो उठता है और जञ्जीर से छूटने के लिए भरसक

उद्योग करता है। तब हम सोचने लगते हैं कि क्या जीवन में रोटी का ही प्रश्न मुख्य है? यदि रोटी का प्रश्न ही सबसे महान् समस्या होती तो यह पशु रोटी पाकर शान्त हो जाता और चुपचाप बैठ जाता। इस पशु की अवस्था का अध्ययन करने से पता चलता है कि हमारे जीवन में रोटी मुख्य वस्तु नहीं, इससे भी बढ़कर एक दूसरी वस्तु है जिसके लिए हमारी आत्मा लालायित रहती है।

जिन दिनों 'होम-रूल लीग' का आन्दोलन चल रहा था, तो भारत सरकार ने उस आन्दोलन की नेत्री स्वर्गीया देवी 'ऐनी बीसेन्ट' को मद्रास के अत्यन्त नीरोग स्थान में नज़रबन्द कर दिया था, जहाँ पर उनके सुख के सभी साधन जुटा दिये गये थे। भोजन की कोई कमी नहीं थी, पर्याप्त रूप में फल भी मिलते थे; तिस पर भी उनकी आत्मा छटपटा रही थी और वे वहाँ बीमार होगईं।

महात्मा गांधी जी के 'सत्याग्रह-युद्ध' के दिनों में देश के बड़े-बड़े नेता जेलों में डाल दिये गये। वहाँ वे 'ए' क्लास में रखे गये थे। खाने-पीने के लिए उन्हें काफ़ी मिलता था। फल भी टोकरियों में भरे हुए आ जाते थे। खाने की किसी प्रकार की शिकायत नहीं थी। लेकिन तो भी उनकी आत्मा वहाँ पर बेचैन थी। पं० मोतीलाल जी नेहरू, पं० जवाहरलाल जी नेहरू, ला० लाजपतराय जी, श्री देशबन्धु चितरंजनदास आदि भारत के माननीय नेता जेलों में रोटी के दुःख के कारण दुःखी नहीं थे। सरकार उन्हें खाने को तो काफ़ी देती थी। लेकिन आत्मा की उस अनादिकाल की लालसा, उसकी उस आन्तरिक उत्कण्ठा—स्वतन्त्रता महारानी—के अभाव से उन्हें वहाँ किसी प्रकार का भी सुख-बोध नहीं होता था।

इसलिए वर्तमान काल का रोटी का प्रश्न अस्वाभाविक परिस्थितियों का अस्वाभाविक परिणाम है। आत्मा की उत्कण्ठा तो स्वतन्त्रता खोज रही है। उसे किस प्रकार पूर्ण स्वाधीनता मिले, यही सबसे बड़ी समस्या है। इसी तथ्य को समझ कर आर्य लोगों ने अपने समाज को अध्यात्मवाद की शिक्षा दी थी और आत्मा की अनुभूति का रास्ता

बताया था। वे कहते थे कि संयमी पुरुष ही स्वतन्त्रता सुख को समझ सकता है। जितना अधिक तुम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाओगे, जितना अधिक तुम प्राकृतिक भोगों की खोज करोगे, जितने अधिक पैमाने में तुम अपनी इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ाओगे, उतना ही अधिक तुम स्वाधीनता से दूर हटते जाओगे। उन्होंने इसीलिए आत्म-संयम का मार्ग बतलाकर जीवन की आवश्यकताओं को कम करने का उपदेश दिया, ताकि मनुष्य धन-संग्रह करने की बीमारी से ग्रसित न हो जाय। उन्होंने समाज में उन्हीं लोगों को आदरणीय स्थान दिया जो सर्वोत्कृष्ट ज्ञान का संग्रह तो करें, किन्तु अपने नित्य के जीवन की आवश्यकताओं पर अपना कब्ज़ा जमा लें। जब मनुष्य में ज्ञान की लालसा बढ़ने लगती है तो उसका हृदय उस ज्ञान को बाँटने के लिए आतुर हो उठता है। जब उसकी आवश्यकतायें बढ़ने लगती हैं तो उसका हृदय संकुचित होकर दूसरों से राग-द्वेष करने लगता है। इसी लिये हमारे यहाँ के विद्वानों ने ज्ञान-संचय करने को ही जीवन का श्रेष्ठतम आदर्श माना। जो ज्ञान-संचय करने पर अपने जीवन को बलिदान करता है, स्वाभाविक ही उसे अपनी जरूरतें कम करनी पड़ती हैं, ताकि उसे अधिक से अधिक अवकाश मिल सके और वह आजादी से अपने मस्तिष्क को ज्ञान की खोज में खर्च कर सके। इसी आधार-शिला पर उन्होंने अपनी संस्कृति की नींव रक्खी थी और बड़ी सुगमता से आर्थिक प्रश्न का हल तलाश कर लिया था। इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने सच्चरित्रता का दरवाजा खोलकर उसके मार्ग की सभी बाधाओं को दूर कर दिया।

आज हम अपने देश के लोगों के सामने उसी आधारशिला का आश्रय लेकर चरित्र-संगठन के गुणों का बखान करेंगे। योरुप के संस्कृति-प्रेमी अपनी सारी शक्तियों को अपनी समस्याओं के हल करने में लगा रहे हैं। रूस में जो विकृत ढङ्ग से सामाजिक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न हो रहा था उसका दुष्परिणाम भी दुनिया के सामने

आ रहा है। हमें इस विषय में योरुप की नकल न कर, वहां की सभ्यता और संस्कृति को कोसना छोड़कर, अपने सद्गुण मिलाकर वर्त्तमान युग की जरूरतों के अनुसार अपनी सन्तान का चरित्र बनाना चाहिए। आत्मा की आन्तरिक उत्कण्ठा स्वाधीनता के लिए है। आत्मा की यह हार्दिक इच्छा है कि उसे प्रभु का अनन्त ज्ञान मिले। उस अनन्त ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र साधन शरीर है। शरीर की रक्षा इस ढंग से होनी चाहिए कि जिससे इसका पूर्ण विकास हो। इसकी जरूरतें तो बहुत कम हैं; हम इसे थोड़े से परिश्रम से ही नीरोग रख सकते हैं और इसे आत्मिक उन्नति का सर्वोत्कृष्ट साधन बना सकते हैं। जब सारा समाज इस आदर्श को समझ कर अपनी शिक्षा की व्यवस्था इसी की सिद्धि के लिए करेगा तो रोटी के प्रश्न की विषमता शीघ्र ही दूर हो जायेगी और हम विकास के स्वाभाविक मार्ग पर चलने लगेंगे। संसार में जो आज दुःखद दृश्य दिखलाई देते हैं, वे सब मिट जायेंगे और मनुष्य मनुष्य का मित्र बनकर अनन्त का अन्वेषण करने लगेगा। ज्ञान-प्राप्ति की लालसा ही मनुष्य को मनुष्य के साथ प्रेम करना सिखला सकती है; वही स्पृहा मनुष्य को चरित्रवान् बना सकती है और उसी के सहारे यह संसार स्वर्ग बन सकता है। सच्चरित्रता का वह स्वरूप हमने पाठकों को दिखलाना है, उसके भिन्न-भिन्न अंगों का वर्णन करना है और उसके सब पहलुओं पर विचार कर अपने समाज को पूर्ण विकास का रास्ता बतलाना है; अतएव हम अगले पृष्ठों में चरित्र-संगठन के भिन्न-भिन्न अंगों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।



आत्मा की आन्तरिक उत्कंठा यह है कि उसे उत्तरोत्तर नवीन ज्ञान की प्राप्ति हो। उसमें रचना की साध बड़ी जबरदस्त है। इसलिए जो लोग अपने जीवन का लक्ष्य ज्ञान-प्राप्तिबनाते हैं उनका आत्मा सदा प्रसन्न रहता है।

—देवदूत

पाँचवाँ पुष्प

जीवन का स्वरूप

हम अपने जीवन को क्या समझते हैं, इस पर आज गम्भीरता से विचार करने का समय आ गया है। हम लोगों में स्पष्ट विचार करने की आदत न होने के कारण बहुत से भ्रमात्मक विचार हमारे समाज में फैले हुए हैं। बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग हम अपनी भाषा में करते हैं जिन्हें हम समझते नहीं। यह संसार मिथ्या है, हमारे सामने जो कुछ है वह सब माया है, संसार नाशवान् है, यह दुनिया चन्दरोज़ा है, आखिर हमें मिट्टी में मिल जाना है—इन सब वाक्यों का क्या अर्थ है? क्या वे लोग जो इस प्रकार के वाक्य काम में लाते हैं, उनका उच्चारण करते हैं, उनके अर्थ भली प्रकार समझते हैं? हमारा ख्याल यह है कि इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करनेवाले, सामने आई हुई किसी कठिन परीक्षा के विरुद्ध अपने मन को सान्त्वना देने के लिए ऐसे वाक्यों का प्रयोग कर विरोधी वातावरण पैदा करने का यत्न करते हैं। मानव-स्वभाव आसान रास्ता ढूंढता है; वह कठिनाइयों से भागता है और आराम-तलबी से जीना चाहता है। जिस समय भारतीय समाज अत्यन्त विकट अवस्था में पड़ गया था, जब निराशा की तरंगों में समाज डूबने लगा था, जब भयंकर विपत्तियां मुंह बाये भारतीय समाज को निगलना चाहती थीं, उस समय वीरता से उन कठिनाइयों का सामना न कर हमारे कायर नेताओं ने जीवन-सम्बन्धी निराशा की फ़िलासफ़ी की रचना की थी—एक इस प्रकार की शराब बनाई थी जिसके पी लेने से जीवन के दुःख भयदायक न हों और कष्ट आसान हो जाएँ। क्या हमें इसमें सफलता हुई है?

सचमुच हमने जीवन के स्वरूप का ग़लत चित्र अपने सामने खींच रक्खा है। हमारा कोई भी आचार्य क्यों न हो, वह कैसा ही बड़े से बड़ा क्यों न हो, उसे हम कैसी ही श्रद्धा से क्यों न देखते हों—वह चाहे स्वामी शंकराचार्य हो या भक्त कबीर, कोई हो—जिस किसी ने भी हमें यह शिक्षा दी कि 'संसार मिथ्या है और जीवन स्वप्न-मात्र है' उसने सचमुच हमारे समाज के प्रति बड़ा भारी पाप-कर्म किया है।

जीवन सत्य है, मिथ्या नहीं। जीवन के छोटे-से-छोटे काम अपना परिणाम उत्पन्न करते हैं। परिवर्त्तन और नाश, ये दो अलग-अलग अवस्थाएँ हैं, इन्हें मिलाइये नहीं। जिस वस्तु का नाश हो जाता है उसका अन्त हो जाता है। क्या परिवर्त्तन को नाश कहना सत्य है? जीवन में परिवर्त्तन होता है; मृत्यु परिवर्त्तन का नाम है, नाश का नहीं। जब कोई मनुष्य मर जाता है और हम उसे जला देते हैं, तो क्या उसके जीवन का नाश हो जाता है? कदापि नहीं। हमारे समाज ने जीवन को नाशवान् समझ कर विकास के सभी मार्ग बन्द कर लिये हैं। यदि जीवन मिथ्या है, तो हम इसके लिए उद्योग क्यों करें? यदि कोई हमारा घर लूटने के लिए आवे तो हम उसके साथ क्यों लड़ें? लड़ाई सत्य के लिए की जाती है, मिथ्या के लिये नहीं। हिन्दू-समाज के बच्चों में 'जीवन सत्य है', 'जीवन एक संग्राम है', 'संसार एक पाठशाला है, जहाँ हम शिक्षा ग्रहण करने के लिए आये हैं'—इस प्रकार के विचारों को भरने की आवश्यकता है। हम जीवन में तभी दिलचस्पी ले सकते हैं, तभी उसके लिए कठिनाइयाँ सह सकते हैं जब हमको संसार के सत्य होने का पाठ पढ़ाया जाये। हम आज भेड़-बकरी, गाय-बैल की तरह किसी भी बलवान् व्यक्ति द्वारा हँकाये जा सकते हैं। हमारी जनता की बड़ी संख्या ऐसी ही है जैसे कि पशुओं का झुण्ड, जिसे थोड़े से चरवाहे भी हाँक सकते हैं।

ऐसी हीन अवस्था हमारी इसीलिए है क्योंकि हम इस जीवन को

चन्दरोज़ा, नाशवान् चीज़ समझते हैं और इसीलिये हम अपने अधिकारों की कीमत नहीं समझ सकते। जब हम यह कहते हैं—'करे करावे आप ही आप, इस मानस के कुछ नहीं हाथ'—तो क्या हम अपने जीवन के उत्साह की जड़ नहीं काट देते ? आज इस प्रकार के हज़ारों भजन, वाक्य और कहावतें हमारी जनता में प्रचलित हैं जो हमारी शक्तियों को घुन लगा रही हैं। सैकड़ों-हज़ारों वर्षों से हमारा अधःपतन हो रहा है, क्या कभी हम बैठकर गम्भीरता से उस पर विचार करते हैं ? मामूली दुकानदार भी जब एक धन्धे में एक ढंग से सफलता प्राप्त नहीं करता, तो वह दूसरा ढंग सोचने लगता है। लेकिन हम शताब्दियों से बराबर अपने पुराने ढंगों से अपनी जीवन-यात्रा में पराजय पर पराजय पा रहे हैं, लेकिन कभी भी उसे सुधारने, उन्नत करने का नाम नहीं लेते। ऐसा क्यों है ?

यह इसीलिये है कि हमारे जन-साधारण ने जीवन के स्वरूप का स्पष्ट दर्शन नहीं किया और न हमारे आचार्य ही हमें इस विषय में ठीक पथ दिखलाते हैं। जब तक आदर्श स्पष्ट न हो, सामग्री नहीं जुटाई जा सकती। अतएव हम अपने देश-बन्धुओं से सविनय निवेदन करते हैं कि जीवन को सत्य और संसार को नित्य समझ कर उसके एक-एक मिनट को मूल्यवान् जानें। संसार तभी तक दुःखदायी है जब तक कि हम जीवन के स्वरूप को सत्य और शिव नहीं समझते। हमारे में कभी भी निर्भयता नहीं आ सकती, जब तक कि हमें जीवन के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न हो। सब प्रकार के थोदे विचार, झूठे वैराग्य, क़िस्मत की फिलासफी और दासता से सने हुए भक्ति-मार्ग के कीटाणुओं को अपने मस्तिष्क से निकाल कर जीवन के स्वरूप का दिव्य दर्शन कीजिए; तब आपको एक नया ही अनुभव मिलेगा और संसार के पदार्थ अपने हृदय की बातें बतायेंगे।

●

छठा पुष्प

जीवन-स्फूर्ति

मार्च का महीना था। सूर्यदेव उदय हो चुके थे। कनखल के उस पार गङ्गा जी के किनारे खड़ा हुआ मैं जीवन के इस महान् प्रश्न पर विचार कर रहा था। सोचते-सोचते स्नान करने के लिए जल में पांव रक्खा। सुन्दर गोल-गोल पत्थर जल की धारा में पड़े मुस्कुरा रहे थे। एक दो को उठाकर मैंने देखा। सुन्दर, गोल-गोल, गले में शुभ्र यज्ञोपवीत पहरे साक्षात् शालिग्राम! आहा! इन्होंने ऐसी मनोहारिणी मूर्त्ति कहां से पाई? क्या जन्म धारण करते समय ही इनका ऐसा सौन्दर्य था?

कदापि नहीं। हिमालय के ये पुत्र हैं। अपने बाल्यकाल में इनके शरीर टेढ़े-मेढ़े थे। बहुत सी नोकें निकली हुई थीं। किसी के साथ मिल कर बैठ नहीं सकते थे। वाणी में रस नहीं था। जिसको छूयें, जिससे बोलें, उसी के साथ सिर-फुटौवल हो। पिता हिमालय जीवन का रहस्य जानते हैं। उन्होंने इनको संसाररूपी गङ्गा के धारा-प्रवाह में छोड़ दिया। इस प्रवाह में वर्षों ठोकरें खाईं; सैंकड़ों संग्राम किए; खूब रगड़े गए। परिणाम क्या हुआ?

आज ये पूज्य शालिग्राम बनकर हमको जीवन का रहस्य बतला रहे हैं। जीवन क्या है?—इस महान् प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं। इनकी घोषणा यह है—"यदि अपने जीवन को सार्थक करना चाहते हो तो अपने घरों से निकल कर संसार के प्रवाह में घुस जाओ; ठोकरों से मत डरो; बाधाओं को देखकर मत घबराओ; मुसीबतों का सामना करो। स्मरण रखो, इसी से तुम्हें जीवन का सच्चा सुख मिल सकता है।"

अपने घर के किसी सड़े कोने में पड़े रहने वाले कूप-मण्डूक जीवन

की सार्थकता क्या समझ सकते हैं ! संसार की मुसीबतों से डरने वालों के लिए जीवन नरकसम है। वे किसी के साथ मिलकर बैठ नहीं सकते। ईर्ष्या-द्वेष उनको घेरे रहते हैं। सुन्दर महल उनको काट खाने को दौड़ता है। अपने ही मित्र उनको शत्रु बोध होते हैं और शत्रु मित्र जान पड़ते हैं। जीवन के संग्राम में विजय प्राप्त किए विना मनुष्य के सद्गुणों का विकास नहीं हो सकता। महात्मा जार्ज वाशिङ्गटन की आज संसार कभी भी पूजा न करता, यदि वे संग्राम में खम ठोक कर खड़े न होते। राज-भवन में सोने वाला कुमार शाक्य संसार के महान् पुरुषों में अग्रगण्य क्यों है ? इसलिए कि उसने सर्व प्रकार के कष्टों पर विजय प्राप्त की थी। यदि वह राजप्रासादों का कीड़ा वना रहता, ठोकरें न खाता, भोग-विलास में जीवन व्यतीत कर देता, तो दुनिया उसका नाम तक भी न सुनती।

उठो, जीवन के रहस्य को समझो। जीवन खाने पीने के लिए नहीं है, जीवन भोग विलास के लिए नहीं है, जीवन इन्द्रिय-सुख के लिए नहीं है, जीवन शास्त्रार्थ करने के लिए नहीं है। अपने जीवन के उद्देश्य को समझो। देखो, अवसर हाथ से निकला जा रहा है। जीवन-संग्राम में डट जाओ। परमात्मा के सिपाही बनो। किसी से भय मत करो। निर्भय होकर बाधाओं, कष्टों, मुसीबतों का सामना करो। स्मरण रखिए, अग्नि में तपाये विना स्वर्ण शुद्ध नहीं होता। फिर जीवन की अग्नि से क्यों भय करते हो ? यह तुम्हारी निर्बलताओं को जला देगी; तुम्हारी अप्राकृतिक बुराइयों को दूर कर देगी; तुम में धैर्य, सन्तोष, क्षमा, दया, शम के दैविक गुणों का विकास करेगी। तुम कुन्दन हो जाओगे; दैवी तेज आ जायेगा; कठिन से कठिन कार्य तुमको आसान मालूम होगा।

आज मर्य्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी की प्रशंसा क्यों करते हो ? केवल इसलिए कि उन्होंने कर्तव्य-पालन के लिए कष्ट सहन किये थे। राजर्षि भीष्म के गुण वार-वार क्यों वखान करते हो ? इसलिए कि

उन्होंने अपने व्रत के पालनार्थ अति कठिन ब्रह्मचर्य व्रत का सेवन किया। सती-साध्वी सीता आदर्श महिला क्यों होगई ? महलों में रहने से नहीं, बल्कि इसलिए कि उसने अपने जीवन के संग्राम में विजय प्राप्त कर अक्षय कीर्ति लाभ की थी। जीवन कर्मक्षेत्र है, इसका रहस्य कर्मवीर ही जान सकते हैं। आलसी, निकम्मे, प्रारब्ध के दास, खुशामदी और कायर कीड़ों की भांति पैदा होते हैं और उन्हीं की तरह मर जाते हैं। उनका जीवन जीवन नहीं है।

जो दशा एक व्यक्ति की है वही जातियों की हुआ करती है। जाति मनुष्यों का एक समुदाय है। जैसी दशा मनुष्यों की होती है, वैसी ही दशा उनकी जाति की होती है। भारत आज पैंतीस करोड़ व्यक्तियों का एक समुदाय है। क्या भारत जाति अपने स्वाभाविक जीवन का आनन्द ले रही है ? बिल्कुल नहीं। भारत में आज कितने हैं जो जीवन के मर्म को समझते हैं ? करोड़ों हैं जो नित्यप्रति शालिग्राम की पूजा करते हैं, पर उन्होंने उस शालिग्राम से कुछ भी शिक्षा ग्रहण नहीं की। जरा से कष्ट से घबरा जाते हैं। "आत्मा अमर है",—यह सिद्धान्त उनका वेद-वाक्य है, पर कर्तव्यपालनार्थ यदि जरा भी दुःख पहुँचता है तो वे जान लेकर भागते हैं। वे नकलची हैं। बड़ों की नक़ल करते हैं, पर नक़ल असल नहीं हो सकती। आग में पड़कर उनका असली स्वरूप प्रगट हो जाता है।

इसलिए यदि अपना तथा जाति का जीवन सार्थक करना चाहते हो तो सच्चे शालिग्राम बनने के लिए तैयार हो जाओ। अपना झूठा भय छोड़कर इसकी सत्यता को धारण करो। संसार के सामने सीधा खड़े होना सीखो। बाधाओं से चार-चार आँखें करो। जो दुःख आज तुमको हैं वे काफूर हो जायेंगे। जो जीवन आज भार मालूम देता है, वही आनन्दमय हो जायेगा। दैवी गुणों का आविर्भाव होगा और अनन्त प्रभु की गोद में खेलोगे। बिना जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त किए आप मोक्ष-सुख के अधिकारी नहीं बन सकते। बस यही जीवन है; यही आनन्द है।

बाधा बाधा करत है, रे मूरख ! नादान।
बाधा का वध बिन किये, क्या पायेगा मान ॥

सातवाँ पुष्प

जीने का मोह

जिस समय हम मानव-समाज में फैले हुए अत्याचारों पर गम्भीर दृष्टि डालते हैं और अन्य प्राणियों के घोर जीवन-संग्राम की करुणा-जनक कथायें पढ़ते हैं, तब हम आश्चर्य-चकित होकर यह कहने लगते हैं कि इस दुनिया में इतना अन्याय क्यों है। जो लोग ईश्वर को मानते हैं वे तो किसी न किसी प्रकार झूठे-सच्चे तर्क-वितर्क करके अपनी तसल्ली कर लेते हैं और लोक-परलोक के असंख्य जन्मों का तानावाना बुन कर जगत् में फैले हुए दुःख-सुख की मीमांसा करके अपना मन सन्तुष्ट कर लेते हैं; परन्तु जो ईश्वर को नहीं मानते, जो वस्तुस्थिति का सीधा, सच्चा और सरल उत्तर चाहते हैं, वे अंधेरे में टटोलते रह जाते हैं और उनके मुंह से अनायास यही निकलता है—"यह संसार सक्षम प्राणियों के लिए है। इसमें धूर्त, बेईमान और चालाक आदमियों के लिए ही स्थान है। ईश्वर पर विश्वास करना केवल ढकोसला है।"

हमारी अधिकांश मूर्ख जनता भाग्य के गढ़े में गिरकर अत्याचारों के दुःखों को भूलने का प्रयत्न करती है, लेकिन किसी की समझ में कोई बात नहीं आती और कवि भटक-भटक कर कहने लगता है—

पड़े भटकते हैं लाखों दाना,
करोड़ों पंडित हज़ारों स्याने;
जब आख़िरकार ख़ूब देखा,
ख़ुदा की बातें ख़ुदा ही जाने।

पर वह ख़ुदा क्या वस्तु है, कवि स्वयं भी इस उलझन से नहीं

निकल सका। गोलमोल बात कहकर रह गया। इस प्रकार न जाने कब से संसार में फैले हुए घोर पापों के कारणों को समझने का प्रयत्न मनुष्य ने किया और कैसे-कैसे महात्मा, मसीहा और पैग़म्बर, ऋषि-महर्षि और साधु-सन्त अपनी अपनी फिलासफी लेकर आये और चले गये, लेकिन समस्या अभी तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

असल में बात यह है कि जीवन के आदर्श को स्पष्टरूप से समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। मनुष्य और पशु में कहाँ भेद प्रारम्भ होता है, इसकी मीमांसा नहीं की गई। धर्म और अधर्म के पचड़ों में फँस कर असली प्रश्न से लोग दूर हट गये और दया तथा अहिंसा के घने जङ्गल में ऐसे फँसे कि असली प्रश्न का रूप ही बदल गया।

यहाँ हम स्पष्ट रूप से इस प्रश्न को उपस्थित करते हैं। विचारने की सबसे पहली वस्तु है जीवनादर्श। जीवनादर्श ईश्वर-प्राप्ति नहीं, मोक्ष की लालसा नहीं, स्वर्ग की सैर नहीं, निर्वाण-सुख का लेना नहीं; बल्कि जीवनादर्श अनन्त ज्ञान की खोज करना है। हमारे सामने जो यह असीम ब्रह्माण्ड है, जिसके विषय में चिन्तन करते हुए माथा चकराने लगता है, उसी के विषय में हमें जानना है। कोई-कोई यह कहते हैं कि जिसने यह बनाया है वही जान लिया जाय तो बाक़ी सब आसानी से समझ में आ सकता है, अर्थात् इस ब्रह्माण्ड के रचने वाले ईश्वर को जान लेने से हमें सब वस्तुओं का ज्ञान हो जायेगा। हमारा निवेदन यह है कि आज तक ऐसी एक शक्ति को कोई नहीं जान पाया जिसकी सहायता से वह हमें असंख्य तारागणों के विषय में बतला सके। बेपर की बात उड़ा देना दूसरी बात है। कुछ लोगों ने अपने स्वप्नों के अनुभवों को बतला कर इस बात को सिद्ध करना चाहा है कि उनकी आत्मा उड़कर एक लोक से दूसरे लोक को चली गई, लेकिन उनके अनुभवों की सत्यता का कोई प्रमाण हमें नहीं मिल सकता। संक्षेप में हमारा कहना यह है कि आज तक किसी भाषा के साहित्य में इस पृथ्वी को छोड़कर अन्य लोकों के विषय में प्रामाणिक वृत्तान्त नहीं मिलता। हाँ, गपोड़ों से भरे हुए ग्रन्थ सैकड़ों

मिलते हैं।

अच्छा, तो सबसे पहिली बात हमनें यह तय की है कि जीवनादर्श अनन्त ज्ञान की खोज करने में है और प्रत्येक प्राणी को जीने का अधिकार तभी मिल सकता है जब वह इसकी खोज में आगे पग बढ़ाने का प्रयत्न करे। जीने का मोह एक व्याधि है, जिसके कारण पशु और मानव समाज में घोर अत्याचार दिखाई देते हैं। आदर्श को न समझने के कारण सभी पशु अत्याचार को सिर झुकाकर सहन कर लेते हैं। इसी प्रकार मानव-समाज में यह जीने का मोह ही है जो सारे पापों की खान है। हम दूसरों की गुलामी इसीलिए सहन कर रहे हैं क्योंकि हम में जीने का मोह सिर से पैर तक भरा हुआ है। हम अन्धे हैं, लंगड़े-लूले हैं, व्याधि से ग्रस्त हैं, और पागलखाने में बन्द हैं, तो भी हममें जीने का मोह विद्यमान है। जमीन पर रेंग कर चलते हुए हम दूसरों से पैसे की भीख माँगते हैं, ताकि हमारा पापी पेट भरे और हम जीते रहें। व्याधि से हम पीड़ित हैं, तो भी जीने का मोह हमसे चिपटा हुआ है। हम रोज झिड़कियाँ सहते हैं, भयंकर अपमानजनक भर्त्सना सुनते हैं और अपने सामने अपने स्त्री-बच्चों पर अत्याचार होते हुए देखते हैं, लेकिन तिस पर भी हम हाथ नहीं उठाते, क्योंकि हममें जीने का मोह विद्यमान है। पीरों, पैग़म्बरों और धर्मोपदेशकों ने हमें यह बतलाया है कि अपाहिजों और मिस्कीनों को खिलाना चाहिए, क्योंकि इसमें बड़ा पुण्य है। पर हम इसे महापाप समझते हैं, क्योंकि यह तरीका केवल उनके जीवन के दुःखों को लम्बा करने का है। हाँ, यदि हम किसी कला, संगीत अथवा शिक्षा के द्वारा उन्हें जीवनादर्श की ओर ले जा सकते हैं तो बेशक उन्हें जीने का अधिकार मिल सकता है। सिद्धान्त यह है कि या तो हम स्वयं अनन्त ज्ञान की खोज करने वाले यात्री बनें अथवा उन यात्रियों के इस अन्वेषण में साधन-स्वरूप हों। जीना केवल जीने के लिए नितान्त अनुचित है।

उस अनन्त ज्ञान की खोज करने वाले यात्री के पास कैसे साधन होने

चाहिएं ? यह बात ध्रुव सत्य है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्', अर्थात् सबसे पहले आवश्यक साधन जीवन-यात्रा के लिए शरीर है। शरीर अत्यन्त नीरोग, बलिष्ठ और फुर्तीला होना चाहिए। उसमें सोचने का माद्दा भरपूर हो। जिनके पास शरीर-रूपी साधन है वही इस यात्रा पर चल सकते हैं। अतएव वे सब सिद्धान्त, सभी दार्शनिक विचार और महापुरुषों द्वारा कहे हुए सभी उपदेश रद्दी की टोकरी में फेंकने लायक हैं जो शरीर को घृणा की दृष्टि से देखना सिखाते हैं। जो फ़िलासफ़ी शरीर की अवहेलना सिखलाती है और उसे गन्दा, मिट्टी और अनित्य कहकर उसका निरादर करना सिखाती है, वह फ़िलासफ़ी किसी प्रकार भी मानव-समाज के लिए हितकर नहीं है। संसार में दो ही वंशों के लोग ऐसे हुए हैं जिन्होंने शरीर की महत्ता को भली प्रकार समझा था—एक तो प्राचीनकाल के आर्य लोग और दूसरे यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक। आर्यों ने जीवन के सौन्दर्य की उपासना की थी और वे अपने देवी-देवताओं से सुख-भोग के पदार्थ तथा अच्छी बुद्धि मांगा करते थे। उनमें अपना विशाल राष्ट्र बनाने की उत्कण्ठा थी और वे जीवन के आनन्द को भोगना पाप नहीं समझते थे। जीवन की चार अवस्थाएं कर उन्होंने अपनी गम्भीर बुद्धिमत्ता का परिचय दिया और सभी प्रकार की समस्याओं का हल सोचने का ार खोल दिया। यूनानी लोग भी जीवन के आदर्श को समझते थे। वे सौन्दर्य के पुजारी थे। ऊंचे दर्जे की व्यायामशालाओं का उन्होंने आविष्कार किया था और शरीर के पूर्ण विकास के साधन उन्होंने हृदयंगम कर लिए थे। शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिए, यह बात वे भली प्रकार जानते थे। सब प्रकार की कलायें मानव-मस्तिष्क के लिए कितनी आवश्यक हैं, इससे वे खूब परिचित थे। जीवन का अत्यन्त उदार आदर्श रखकर उन्होंने अनन्त ज्ञान की खोज करने का मार्ग ढूंढ निकाला था। इसी कारण अपने काल में उनकी उन्नति सर्वतोमुखी हुई। आर्य लोग भी अनन्त ज्ञान की तलाश में तल्लीन होगये थे, परन्तु उन्होंने अध्यात्ममार्ग पकड़ा और उसी के द्वारा ब्रह्माण्ड

के गूढ़ तत्वों के समझने में यत्नशील हुए। इस प्रकार इस पृथ्वी पर दो धारायें अनन्त ज्ञान की खोज के लिए बहीं। यूनान से निकली हुई धारा योरुप की शस्यदा भूमि में पहुँची और वहाँ उसने अद्भुत चमत्कार कर दिखलाया। चार-पाँच सौ वर्षों के अन्दर ही उस धारा के विज्ञान-सलिल ने योरुप के मस्तिष्क को स्वतन्त्र कर दिया और वहाँ प्रकृति के इस अद्भुत खज़ाने के रत्नों की खोज करने वाले सैंकड़ों यात्री कार्यक्षेत्र में निकल पड़े। यह सच है कि झूठी राष्ट्रीयता ने उनके अन्वेषणों का नाजायज़ फायदा उठाकर संसार में दुःखद सामग्री भी उत्पन्न कर दी है, परन्तु यह बात भी निर्विवाद है कि वहाँ के यात्री आज पंचभूतों को वश में करके नित्य नये आश्चर्यजनक आविष्कार मानव-समाज के सामने रख रहे हैं।

जो धारा प्राचीन काल के आर्यों के मस्तिष्क से निकली वह आगे चलकर सूखने लगी, क्योंकि उसमें शरीर का दुरुपयोग तथा उसका अनादर करने वाले सिद्धान्त मिल गये। निस्सन्देह बौद्धकाल में मस्तिष्क को स्वतन्त्र करने की भारी चेष्टा की गई, परन्तु जीवन के आनन्द का पूर्ण दर्शन बौद्ध फिलासफी में मौजूद न था। अपने एकांगीपन के कारण बोधिवृक्ष के मूल से निकली हुई वह धारा भी अत्यन्त गँदली हो गई और उसमें अधःपतन के सभी सामान मिल गये। परिणामस्वरूप यूनान की वैज्ञानिक धारा के सामने आज वह हाथ जोड़े हुए भिखारिन बनकर खड़ी है और अपनी सड़ान को दूर करने के लिए विज्ञान के ताज़ा जल की भिक्षा माँग रही है, ताकि उसका कूड़ा-कचरा साफ़ हो जाये और वह जीवनादर्श की ओर चल सके।

जीने का अधिकार किसको है? उसको नहीं जिसमें जीवन का मोह है। जीने के मोह के कारण ही प्राचीन आर्यों के इन वंशजों ने शताब्दियों तक गुलामी के डंडे सहे हैं, अत्याचार और अपमान सहे हैं, क्योंकि जीवन का मोह एक भयङ्कर व्याधि है, जिससे निकले बिना मानव-स्वरूप के दर्शन नहीं हो सकते। पशु और मनुष्य में धर्म और

अधर्म के कारण भेद नहीं; भेद केवल वहीं प्रारम्भ होता है, जहाँ मनुष्य जीने के मोह को छोड़कर जीवनादर्श की ओर मुँह करता है। संसार के जितने स्त्री-पुरुष जीवन के मोह में फँसे हुए कालयापन कर रहे हैं वे सब पशुओं की गणना में हैं। उनमें और पशुओं में रत्ती भर भेद नहीं है। जिस समय कोई स्त्री और पुरुष जीने के मोह की निद्रा को भंग कर चैतन्य होकर आँखें खोलता है तब उसका स्वरूप बदल जाता है, जगत् के सभी पदार्थ उसके लिए नव सन्देश देने वाले हो जाते हैं और वह आह्लाद से भर जाता है। तब वह देखता है कि सचमुच यह जगत् स्वर्ग है और इसमें अन्याय केवल तभी तक है जब तक जीने का मोह स्त्री-पुरुषों में विद्यमान है। जीने के मोह में डूबे हुए, अत्याचारियों के पांवों के तले रौंदे जानेवाले इन स्त्री-पुरुषों को जीने का क्या अधिकार है?

हाँ, जीने का मोह क्यों हममें ओत-प्रोत है? यह इसीलिए कि हम यह नहीं जानते कि शरीर भी ऐसा ही परिवर्तनशील है जैसा कि पानी का भाप बनना। जिसको यह ज्ञान नहीं है वह निरा पशु है। प्रत्येक पशु केवल अनन्त ज्ञान की खोज करने वाले यात्री की सहायतार्थ जीता है, और कोई दूसरा लक्ष्य उसके जीने का नहीं। यदि उत्तरी ध्रुव का रहने वाला कोई अनन्त ज्ञान का यात्री मांस खाकर, पशुओं को मारकर अपनी यात्रा का पथ सुगम करता है, तो इसमें पाप के लिए कहाँ गुंजायश है? हमने जीने के मोह को नई परिभाषा देकर एक ग़लत सिद्धान्त का प्रचार दुनिया में कर दिया है और वह ग़लत सिद्धांत अहिंसा का है। अहिंसा का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य मांस न खाये या किसी का वध न करे, बल्कि उसका यह अर्थ है कि क्या उसने वह हिंसा का कार्य निपट स्वार्थ के लिए किया है या मानव-समाज में नये ज्ञान की वृद्धि करने के लिए उसे साधन बनाया है। जिस समय हम अपने आदर्श को स्पष्ट कर लेंगे और वह अपनी पूर्ण ज्योति में हमारे सामने खड़ा हो जायेगा, तब दूसरे थोथे और लचर विचार धुन्ध की तरह काफूर हो

जायेंगे। हम केवल थोथी बातों में अपना समय नष्ट कर रहे हैं और कल्पना के घोड़े दौड़ा कर जन्म-जन्मान्तरों की कहानियाँ गढ़ रहे हैं। यह जीने का मोह इसीलिए है क्योंकि हमने अनन्त ज्ञान की खोज का पथ छोड़ दिया है, ज्ञान की पिपासा हममेंसे निकल गई है, प्रभु के ब्रह्माण्ड की ओर कभी हम देखते नहीं—देखते हैं केवल पेट को और उस पेट से निकले हुए अपने बच्चों को। सबसे अधिक जीने का मोह आज हिन्दुओं में ही है—वे हिन्दू जो अध्यात्मवाद की डींग हांकते हैं पर यह नहीं देखते कि उनका वह स्रोत प्रायः सूख-सा गया है। जिनमें जीने का थोड़ा सा भी मोह साधारण आदर्श के लिए दूर हो जाता है, वे भी ऐसे काम कर दिखलाते हैं कि दर्शक चकित रह जाते हैं। पर जो अनन्त ज्ञान की खोज करने के लिए उद्यत हों, जो निःस्वार्थ भाव से ज्ञान की वृद्धि करने पर तुले हुए हों और जो उसी में आनन्द मानते हों, ऐसे अलौकिक पुरुष जीने का मोह त्यागकर संसार के हज़ारों नर-नारियों के पथ-प्रदर्शक बनते हैं।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जीने का मोह कैसे दूर किया जाय। उत्तर में निवेदन यह है कि यह कार्य साम्प्रदायिकता को नष्ट किये बिना नहीं हो सकता। साम्प्रदायिकता के विरुद्ध घोर आन्दोलन होना चाहिए और समाज को भेद-भाव से भरी हुई धर्मान्धता से निकालना चाहिए। जब मस्तिष्क दासता से मुक्त हो जाता है तब उसमें नीरोग विचार भरे जा सकते हैं। यूनानियों के दार्शनिक विचारों ने सबसे बड़ा पुण्य का कार्य यही किया कि योरुपवालों को धर्मान्धता के जाल से निकल दिया और उनमें विचार-स्वातन्त्र्य के बीजवपन कर दिये। प्राचीनकाल के आर्य लोग भी मेधा अर्थात् बुद्धि की भीख अपने देवी-देवताओं से माँगा करते थे, क्योंकि मस्तिष्क की गुलामी सबसे बड़ी गुलामी है; उससे मुक्त हुए बिना कोई नया विचार मन में आ ही नहीं सकता। प्रचलित धर्म-अधर्म के विचार, आचार-अनाचार के नियम और प्रमाण-वाद के सिद्धान्त तभी छलनी में छाने जा सकते हैं, जब हम मिथ्या

विश्वासों से निकल जायें । अतएव सबसे पहले हमारा काम यह है कि हम साम्प्रदायिकता की ईंट से ईंट बजा दें । जब जनसाधारण इन क़ैदखानों से निकलकर एक दूसरे से मिलेंगे तभी उनमें नये क़ानून बनाने और नये आदर्श क़ायम करने की योग्यता आ सकेगी ।



पाँच क्लेशों का वर्णन करते हुए हमारे आचार्यों ने अभिनिवेश अर्थात् जीने के मोह को महान् क्लेश माना है। इसी के कारण बड़े-बड़े विद्वान् मृत्यु के समय विचलित हो जाते हैं और अपने पांडित्य को जनसाधारण की तरह भूल कर जीने की ममता में फंस जाते हैं। ऋषि-मुनियों ने इसी कारण इसके त्याग को बड़ा ऊँचा दर्जा दिया है, क्योंकि इस प्रकार की सिद्धियाँ जीने का मोह त्यागने से ही मनुष्य को प्राप्त हो सकती हैं।

—स्वामी सत्यदेव

आठवाँ पुष्प

जीने का अधिकार किसको ?

संयुक्त राज्य अमरीका की साऊथ डकोटा रियासत में मैं एक किसान के खेत पर काम करने के लिए गया। मैंने कभी भी इस प्रकार का कार्य पहले नहीं किया था। इसलिए जब मजदूरों के कपड़े पहन कर मैं काम करने के लिए तैयार हुआ तो खेत के मालिक ने बड़े प्रेम से मुझे समझा कर कहा—"इस खेत में, जहाँ आप काम करेंगे, बहुत से निकम्मे पौधे जम गए हैं; वे मकई की खेती को नुकसान पहुंचावेंगे, अतएव आप कृपा कर सब से पहले इन्हें उखाड़ कर फेंक दीजिए, जिससे वे जमने न पावें।"

मैं ऐसे पौधों को नहीं पहचानता था। इसलिए बड़ी नम्रता से बोला—"महाशय, आप एक बार खेत में चल कर मुझे उन पौधों के दर्शन करा दें और कृपया यह भी समझा दें कि वे मक्का की खेती को नुकसान कैसे पहुँचाते हैं ?"

खेत का मालिक मुझे साथ लेकर खेत की ओर चला और वहाँ पहुँच कर उसने कुदाली से उन पौधों को उखाड़ कर बतलाया और मुझे समझाने लगा—

"देख नवयुवक, ये पौधे उस खाद को खा जायँगे जो मैं मक्का की खेती के लिए इस भूमि में डालूँगा। वे केवल खाद ही नहीं खावेंगे बल्कि मक्का की बढ़ती को रोक देंगे और उसके भोजन को स्वयं डा जावेंगे। ऐसी अवस्था में इनका उखाड़ देना ही कल्याणकारी है, ताकि मेरी खेती खूब फूले और फले।"

मैं काम में लग गया। मेरा मस्तिष्क भी गहरे विचार में डूब गया।

मैं खेत में काम तो कर रहा था लेकिन मेरे दिमाग़ में विचारों की बाढ़ आ गई थी। मैं सोचने लगा कि संसार में कितने मनुष्य और स्त्री इन निकम्मे पौधों की तरह ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं। वे दूसरों का भोजन चट कर जाते हैं और समाज को निर्बल बनाते हैं। लाखों भिखमंगे, अन्धे, लंगड़े-लूले और अपाहिज हैं, जिनसे रत्तीभर भी समाज का कोई काम नहीं होता। हज़ारों हट्टे-कट्टे मुस्टण्डे फ़क़ीर, साधु, वैरागी आदि हैं जो न तो समाज की कोई सेवा करते हैं और न अपने हिस्से का अन्न ही पैदा करते हैं। वे धोखा-धड़ी से पेट पालते हैं और इस प्रकार दूसरे ईमानदार, परिश्रमी मज़दूरों का भाग खा जाते हैं। सैकड़ों हज़ारों भंगड़ी, चरसी, गंजेड़ी और शराबी हैं जिनका चौबीस घण्टे यही धन्धा है कि वे राष्ट्र के धन को नशों में फूँक दें। इसी प्रकार व्यभिचार के मद में चूर हज़ारों व्यक्ति ऐसे हैं जो बीमार निर्बल सन्तान उत्पन्न कर समाज का कचरा बढ़ाते हैं। हज़ारों ऐसे स्त्री-पुरुष भी हैं जो ऐसी व्याधियों से ग्रस्त हैं जिनका इलाज कभी नहीं हो सकता और जो उन बीमारियों के कीटाणुओं को पीढ़ी दर पीढ़ी अपनी सन्तान को दे जाते हैं। इस भाँति संसार के इस विशाल क्षेत्र में जो सुन्दर पदार्थ प्रभु ने हमें भोगने के लिए दिये हैं उनका पचास फी सदी भाग बिलकुल निकम्मे लोगों के लिए खर्च होता है और बाकी पचास फी सदी ही उनके हिस्से में आता है जिनके बूते पर समाज आगे बढ़ता है और वंश की वृद्धि होती है।

क्या हमने कभी गम्भीरता से इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया है? सैकड़ों प्रकार के आचार्य, सन्त और धर्माचार्य भिन्न-भिन्न देशों मे पैदा हुए और उन्होंने थोथे सिद्धान्तों का प्रचार कर समाज के इन निकम्मे पौधों की रक्षा करने का उपदेश जनता को दिया। कभी किसी ने भी उस साधारण किसान से इस विषय में शिक्षा ग्रहण न की। दूसरे जन्मों के सब्ज़ बाग़ दिखला कर और स्वर्ग-नरक का मायाजाल रचकर उन्होंने जनता को ऐसा बना दिया कि आज तक ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर समाज-सुधारकों ने अपनी सारी शक्ति लगा कर कुछ परिणाम उत्पन्न

करने की कोशिश नहीं की। संसार में रोटी का हाहाकार मचा हुआ है और सदा मचा रहेगा। आबादी की बढ़ती होने से शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे निर्बल देशों पर बलपूर्वक कब्ज़ा करने का यत्न करते रहेंगे, ताकि उनकी आबादी को बसने का स्थान मिले। इसी जद्दोजहद में वे समाज के बलिष्ठ सैनिकों को युद्धों में जुझा कर उन्हें तबाह कर देते हैं। और उनकी विजय का भोग करने वाले कौन होते हैं ? अधिकतर वही निकम्मे पौधे जिनका धन्धा केवल समाज के परिश्रमी लोगों का भोजन चट करना है। यदि परस्पर युद्ध करने के बजाय, अपने बलिष्ठ सैनिकों की हत्या करने के स्थान पर, प्रत्येक वर्ष निकम्मे पौधों का नाश किया जाय तो संसार में कभी रोटी का हाहाकार न मचे और इस प्रकार आगे बढ़ने वाले वंशों को उन्नति करने का अवसर मिले। जो काम एक साधारण किसान कर सकता है उसे बड़े-बड़े धर्माचार्य, विद्वान् और राजनीतिज्ञ नहीं कर सके। इसमें क्या रहस्य है ? इसके अन्दर यही बात काम कर रही है कि मनुष्य-समाज के उन निकम्मे पौधों को हम स्त्री और पुरुष समझ कर उनकी रक्षा करते हैं और दया-दान का ढकोसला रचकर हम इनकी संख्या-वृद्धि करते हैं। अन्ध-विश्वास ने हमारी बुद्धि पर इतना पर्दा डाल दिया है कि हम ऐसी स्पष्ट बात को भी नहीं देख सकते।

ज़रा सोचिये, अच्छी नस्ल का घोड़ा पैदा करने के लिए हम कितना प्रयत्न करते हैं। हमें अच्छे गाय और बैल चाहियें, इसके लिए कितनी प्रयोगशालायें बनती हैं। लेकिन अफ़सोस ! मानव-समाज में अच्छी नस्ल के स्त्री-पुरुष पैदा करने का कोई यत्न नहीं किया जाता। यहाँ आकर हम मिथ्याविश्वासों के जङ्गल में भटकने लगते हैं। भला सोचिये तो सही कि निर्बल, व्याधिग्रस्त और वीर्यहीन स्त्री-पुरुषों को विवाह कर निकम्मे बच्चे पैदा करने का क्या अधिकार है ? हमारे इर्द-गिर्द चारों तरफ ऐसे निकम्मे झाड़-झंखाड़ खड़े हैं और नये उगते चले जा रहे हैं जो दूसरों का भोजन हज़्म कर समाज को बदले में लाभ देने के बजाय

भारी हानि पहुँचाते हैं। क्या इन्हें जीने का अधिकार है ? क्यों वे पृथ्वी के भू-भागों को घेर कर मुफ्त की गन्दगी बढ़ावें ? जिस प्रकार किसान अपनी खेती की रक्षा करता है, उसे हानिकारक कीड़ों से बचाता है, उसे निकम्मे पौधों से दूर रखता है और सदा बड़ी सावधानी से अधिक-से-अधिक बलिष्ठ अनाज पैदा करने का यत्न करता है, उसी प्रकार हमें भी करना चाहिये; तभी मनुष्य-समाज उन्नति के पथ पर चल सकेगा, अन्यथा नहीं।

आप पूछेंगे कि ऐसे निकम्मे, भंगड़ी-चरसी-गंजेड़ी, व्यभिचारी-बदमाश, नपुंसक और व्याधिग्रस्त स्त्री-पुरुषों के साथ क्या करना चाहिए ? मेरी सम्मति में जो सलूक हम निकम्मे पौधों के साथ करते हैं, वही हमें ऐसे स्त्री-पुरुषों के साथ भी करना चाहिये। तभी वंश बलवान होगा और सुन्दर मस्तिष्क रखने वाले सदस्यों की वृद्धि होगी, जो प्रभु के अनन्त ज्ञान में से अच्छी-अच्छी बातें निकाल सकेंगे। दया और करुणा बड़े अच्छे गुण हैं, परन्तु तभी तक जब तक कि उनका उपयोग नीरोग और बलिष्ठ बीजों के साथ किया जाता है। भारतवर्ष में तो करीब साठ फी सदी संख्या उन स्त्री-पुरुषों की होगी जो भारतमाता पर भाररूप हैं, जिनके अन्दर से केवल बुराई के कीटाणु निकलते रहते हैं, जो विवाह कर भारी पाप करते हैं और रोगी सन्तान की वृद्धि कर भारतीय प्रजा के साथ बड़ा अत्याचार करते हैं। ईश्वर ने जो पदार्थ हमें दिए हैं, वे उन्हीं के भोग करने के निमित्त हैं जो संसार के ज्ञान की वृद्धि करें और अपनी उपयोगिता से समाज को उन्नत बनावें। ऐसे स्त्री और पुरुष जिनसे समाज को हानि ही हानि है, जीने का कोई अधिकार नहीं रखते। वीर स्पार्टन लोगों ने अपनी समृद्धि के दिनों में ऐसा ही किया था; तभी वे ऊँचे दर्जे के नीरोग और शक्तिशाली स्त्री-पुरुषों को उत्पन्न कर सके थे। वंश की वृद्धि और उसकी उन्नति का प्रश्न बड़े महत्व का है। जो कपोल-कल्पित धर्मों और झूठे आडम्बरों में फंसकर तीर्थों पर मगर पालते हैं, वृन्दावन में कछुओं को हजारों मन आटा खिलाते हैं और

हनुमान के नाम पर बन्दरों का सितम सहते हैं, ऐसे अज्ञानी लोग दया और करुणा इन शब्दों का अर्थ भला क्या समझ सकते हैं ! वे धन की खातिर दूसरों के मकान नीलाम करा लेंगे; दुधमुंहे बच्चों को उनकी झोंपड़ियों से निकाल कर उन पर कब्ज़ा कर लेंगे; विधवाओं पर भारी जुल्म करेंगे और नारी-जाति के अधिकारों का कभी भी आदर नहीं करेंगे—ऐसे ही लोग दया-धर्म में फंस कर पशु-पक्षियों के लिए तो बड़े धर्मात्मा बन जाते हैं परन्तु समाज के उत्थान के प्रश्न पर कभी विचार नहीं करते। अतएव हम बड़ी नम्रता से अपने पाठकों से पूछते हैं कि क्या आपने कभी इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर ध्यान दिया है ? यदि नहीं दिया, तो कृपा कर अब दीजिये। भारतवासियों को तो बहुत शीघ्र इस कूड़े-कचरे को साफ करना ही होगा, नहीं तो उनकी आबादी उन्हें इस पर मजबूर करेगी; यहाँ घरेलू युद्ध हो जायेंगे; दिन-दहाड़े डाके पड़ेंगे और व्याधियाँ अपना टैक्स वसूल करेंगी।

संक्षेप में हमारा निवेदन यह है कि आज संसार के चिन्ताशील विद्वानों को इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना ही होगा। वे यु बन्द करना चाहते हैं, यह बहुत ही अच्छी बात है। युद्धों में तो समाज का सर्वश्रेष्ठ तरुण दल ही मारा जाता है, निकम्मे पौधे तो मजे में पलते रहते हैं, लेकिन यदि संसार में शान्ति लाने की इच्छा है, यदि रोटी के प्रश्न का हल भली प्रकार करना है, यदि अनन्त ज्ञान की खोज करने के लिए योग्य स्त्री-पुरुषों को मैदान में खड़ा करना है और यदि इस संसार को स्वर्ग बनाने की इच्छा है तो आपको वैज्ञानिक ढंग से संसार के इस विशाल क्षेत्र में उगने वाले पौधों की छांट करनी होगी। जिन भद्दे कानूनों पर आज हम चल रहे हैं उन्हें हटा कर समाज के लिए नये कानून बनाने होंगे और जिन बातों को हम आज धर्म समझ रहे हैं उन्हें मिथ्या विश्वासों के गढ़े में ढकेल देना होगा। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो फिर प्रकृति तो करेगी ही, परन्तु उससे मानव-समाज की उन्नति शताब्दियों के लिए रुक जाएगी, जैसा कि पीछे होता आया है। यदि बौद्धकाल के उत्तम गुणों से विभूषित

समाज आगे चलकर झूठी दया और अहिंसा के मोह में न फँस जाता और व्यर्थ के भिक्षुवाद की महत्ता को न बढ़ाता—केवल शक्तिशाली और योग्य स्त्री-पुरुषों को ही समाज में स्थान देता, तो कभी भी उसके लाखों भिक्षु मुसलमानों द्वारा गाजर-मूली की तरह न काट दिये जाते और न बसे हुए नगर उजाड़ दिये जाते। प्रकृति के नियम अटल हैं। वे किसी का लिहाज नहीं करते। शताब्दियों का किया हुआ त्यागी बौद्ध भिक्षुओं का काम इसीलिए मिट्टी में मिल गया कि उन्होंने अपने विहारों में निकम्मे पौधों की अत्यन्त वृद्धि कर ली। यही दशा सदा से होती चली आई है। इस कारण में मानव-समाज को चेतावनी देकर यह कहता हूँ कि आपको अभी से अपने खेत में फैले हुए निकम्मे पौधों को ठिकाने लगाने का कुछ प्रबन्ध सोचना चाहिये, ताकि यह रोटी का प्रश्न हल हो जाय और समाज अपने आदर्श की ओर चल सके।



Why are we here for ? It is the eternal question facing us from millions of years. Are we here to eat, drink and be merry ? Sages reply in negative. They declare that we must contribute our quota in the treasure of knowledge and wisdom. Then and then alone our right to life is justified.

—*Swami Satya Dev*

नवाँ पुष्प

उत्थान-पथ पर (१)

ईश्वर ने अपनी इस अद्भुत सृष्टि में नाना प्रकार के पदार्थ रचे हैं। हम किसी ओर भी दृष्टिपात करें, हमारी बुद्धि विस्मय से भरे बिना नहीं रह सकती। यदि हम किसी नदी तट पर चले जाते हैं तो हम वहाँ अपने इर्द-गिर्द भाँति-भाँति के नैसर्गिक पदार्थों को पाते हैं जिनके विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। हजारों मील लम्बा अगाध जल से भरा हुआ समुद्र अपने गर्भ में कैसे-कैसे आश्चर्यजनक पदार्थ रखता है जिनके विषय में हमारा ज्ञान शून्य के बराबर है। इसी प्रकार रात्रि के समय निर्मल आकाश में चमकते हुए असंख्य तारागण के विषय में भी हम कुछ नहीं जानते। रोज़ रात के समय दूध-धारा नभ को सुशोभित करती हुई बहती चली जाती है और हमें उसके रहस्य का कुछ भी पता नहीं चलता।

ऐसा क्यों है ? सत्य बात तो यह है कि मनुष्य ने अभी तक अपने मस्तिष्क का यथायोग्य उपयोग करना नहीं सीखा। वह अपनी आँख, नाक, कान आदि साधनों का भली प्रकार उपयोग नहीं करता। हज़ारों वर्षों से वह केवल सिर झुकाकर प्राकृतिक चमत्कारों को नमस्कार करता चला आया है। उसने निरीक्षण का कठिन मार्ग छोड़कर अन्ध-विश्वास के आसान मार्ग को पकड़ना उचित समझा है। कुछ पुस्तकों को ज्ञान का आगार समझकर वह उन्हीं के मन्त्र, सिपारे और उक्तियाँ रटने में ज्ञान की चरम सीमा समझ बैठा है। ईश्वर के विषय में स्वतन्त्र विचार न कर वह दूसरों के बतलाए हुए श्लोकों को बराबर हृदयङ्गम करने में ही अपना कल्याण माने हुए है। जीवन-सम्बन्धी झगड़े उसने इतने बढ़ा लिए हैं कि उसे दूसरी किसी बात की फ़ुरसत ही नहीं रह गई है। इसीलिए आज

लाखों वर्ष बीत जाने पर भी हम यह नहीं जानते कि चन्द्रलोक की बनावट कैसी है और सूर्य में कौन-सी शक्ति काम कर रही है। इन पदार्थों को देवता समझकर हम अब तक इनकी पूजा करते रहे और कभी भी जान पर खेलकर अनन्त ज्ञान की खोज करने का उद्योग नहीं किया। हमारे पूर्वज जिन ग्रन्थों को लिख गये हैं, जिन दर्शनों को रच गये हैं और जिन स्मृतियों को बना गये हैं, आज सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी हम उन्हीं को बराबर तोते की तरह रटते चले जा रहे हैं। हमें कोई अधिकार नहीं कि हम उनके विरुद्ध अपनी सम्मति भी दे सकें। नई स्मृति और नया दर्शन लिखना तो दूर रहा। यदि कोई विद्वान् बड़ी हिम्मत करके अपने स्वतन्त्र निरीक्षण और अध्ययन द्वारा नया दर्शन अथवा स्मृति लिख डाले, तो हम उसकी निन्दा कर उसके ग्रन्थ को रद्दी की टोकरी में फेंक देते हैं। अन्ध-विश्वास ने हमें आज कैसा पंगु बना रखा है ! जाति का मस्तिष्क सिवाय पिष्टपेषण के दूसरे काम का रह ही नहीं गया। तो अब करना क्या चाहिए ?

आइये, अब हम अनन्त ज्ञान की खोज करने वाले यात्री बनें और उन्नति-पथ पर आरूढ़ हों। हमें किसी इलहामी किताब से कोई मतलब नहीं और न किसी पीर-पैग़म्बर से ही कोई काम है। हमें अपने निजी अनुभव द्वारा ज्ञान-संचय करना चाहिए; इस विशाल पथ पर आँख-कान खोल कर, चैतन्य होकर चलना चाहिए और अपने निरीक्षण द्वारा अनुभव प्राप्त करना चाहिए। दूसरों के अनुभवों से लाभ अवश्य उठाइये, परन्तु उन्हें वेदवाक्य समझकर अपनी अक्ल में ताला न लगाइये। आज से स बात का दृढ़ व्रत कीजिए कि आप सदा अपने फ़ुरसत के समय को ज्ञान-संचय में ख़र्च करेंगे। इर्द-गिर्द की पहाड़ियों, नदी-नालों और वन-उपवनों में विचरिये, लेकिन आँख-कान खोल कर और अपनी नोट-बुक, कैमरा तथा पेन्सिल के साथ। जो चीज आपके सामने आये वह बचकर न निकल जाये। आप उसका निरीक्षण भली प्रकार कीजिए। यदि उसमें कोई चुभती हुई अजीब बात दिखाई पड़े, कुछ नवीनता हो तो फौरन उसे

अपनी नोट-बुक में कैद कीजिए। कोई वृक्ष आपके सामने से ऐसा न गुजर जाये जिसे आप दुबारा मुलाकात के समय पहचान न सकें। उसके पत्तों, फूलों और फलों की जानकारी होनी आवश्यक है। कोई पक्षी किसी टहनी पर बैठा हुआ चहकता हो तो उसका नाम-धाम जानिये और अपने कैमरे में उसका घोंसला बनाइये। इसी प्रकार उद्यान के पुष्पों से परिचय प्राप्त कीजिये। उनके नाम, गुण और यौवनकाल के विषय में आपको ज्ञान होना चाहिए। नदी के किनारे एकान्त में बैठकर अपनी इस दुनिया के निवासियों के विषय में विचार कीजिए जो आपको राग-द्वेष से छुड़ाकर अनन्त ज्ञान की उपलब्धि में सहायता देंगे।

निःसन्देह निरीक्षण ही ज्ञान-संचय करने का साधन है। ठीक निरीक्षण के न होने से आज कितना अज्ञान, कितनी ग़लतफहमियाँ और कितने भ्रम हम में फैले हुए हैं! वृक्षों के तने हमें भूत की तरह डरावने लगते हैं, भूचाल हमें भयभीत करता है और हम दूसरों की बतलाई हुई मिथ्या बातों पर विश्वास कर उनके कारणों के समझने का प्रयत्न नहीं करते। प्रत्येक देश की अधिकांश प्रजा आजकल केवल विश्वास के आधार पर अपना मजहब, धर्म अथवा मत स्थिर किए हुए है। अखबारों में जो कुछ छपता है उसे लोग तत्काल निगल जाते हैं और कभी भी अपनी बुद्धि लगाकर लिखी हुई बातों पर तर्क नहीं करते। फलस्वरूप प्रजा भेड़ों की तरह अपने स्वार्थी नेताओं के पीछे गढ़े में गिरती चली जाती है। अच्छे से अच्छे कानून उनका उद्धार नहीं कर सकते। उनमें स्वतन्त्र सोचने की आदत है ही नहीं, क्योंकि उन्होंने कभी स्वयं निरीक्षण करना नहीं सीखा और न कभी वे मजहबी बातों पर तर्क ही करते हैं। प्रारम्भ से ही उन्हें अन्ध-विश्वास की शिक्षा दी जाती है। उनके गुरु, पादरी, मौलवी-मुल्ला, पंडित और धर्मोपदेशक उन्हें आँखें मूँदकर अपने पीछे चलने की तालीम देते हैं। कितना मिथ्या विश्वास, कितनी भ्रमपूर्ण बातें, कितने नाशकारी रिवाज और कितने थोथे सम्प्रदाय आज दुनियां में मौजूद हैं, जिनके जाल में फँसे हुए करोड़ों नर-नारी अपना समय और शक्ति, धन और बुद्धि,

व्यर्थ में ही खो रहे हैं ! आज उनकी दयनीय दशा को देखकर हमें कितनी व्यथा होती है ! यह सब इसीलिए कि प्रजा को स्वयं निरीक्षण करने की योग्यता नहीं कराई जाती । कोई भी सम्प्रदाय क्यों न हो, उसका आचार्य कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न घोषित किया जाय, परन्तु जब आप उसके विचारों को जाकर सुनेंगे तो आपको वहाँ अन्धी भावुकता और बेतुके मोजज़ों (Miracles) के सिवाय कुछ सुनने को नहीं मिलेगा और उप-स्थित श्रोता बड़ी श्रद्धा से उन असम्भव बातों को निगलते चले जायेंगे । प्राचीनता की चट्टान, बाप-दादाओं की पुरानी बातें, मज़हब की श्रेष्ठता का अभिमान, शहीदों की कथायें, धर्म-संस्थापकों के बलिदानों की बातें, पीर-पैग़म्बरों और उनके चेलों की जोशीली कहानियाँ, सम्प्रदाय के रहस्य-पूर्ण गपोड़े और उनके द्वारा भक्तजनों को मिलने वाली सुखद शान्ति— इस प्रकार की उल्टी-सीधी कथा-कहानियाँ सुनाकर मूढ़ स्त्री-पुरुषों को आज अविद्या के अन्धकारपूर्ण गर्त में गिराया जाता है । यह केवल एशिया के देशों में ही नहीं बल्कि योरुप और अमेरिका में भी इसी प्रकार की मूर्खतापूर्ण कपोल-कल्पित बातों द्वारा प्रजा को ठगा जाता है । यह सब इसीलिए है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली रट्टू और उपाधियाँ वितरण करने वाली मशीन है । हमें स्वतन्त्र सोचना सिखाया ही नहीं जाता और जो स्वतन्त्र सोचने का अभ्यासी है उसे अपने से भिन्न जानकर लोग उसे भला-बुरा कहते हैं । अतएव उन्नति-पथ पर चलने वाले मुसाफिर को प्रमाणवाद, इलहामवाद और पैग़म्बरवाद के बन्धनों को काटकर अपने आपको स्वतन्त्र करना होगा और स्वयं निरीक्षण करके ज्ञान की उप-लब्धि करने की आदत डालनी होगी । जिन बातों को आज बड़े-बड़े विद्वान् मानते हैं, आप उन्हें अपने मस्तिष्क में घर लीजिए, पर सदा अपनी भावना यही रखिये कि जब कभी भी उन कथनों के विरुद्ध आपको कोई अनुभव मिलेगा तो आप फौरन उस सत्य के ग्रहण करने के लिए तैयार रहेंगे । संसार का सुविख्यात विद्वान् गणितज्ञ आइन्स्टाइन आज अपने स्वतन्त्र निरीक्षण के बल पर ही विद्वज्जगत् के सामने एक नई चीज़

रख सका है और लब्धप्रतिष्ठ सर आइज़क न्यूटन के सिद्धान्तों का खंडन कर सका है । यदि वह भी प्राचीनता का पुजारी होता और पूर्वजों की भिक्षा का भिखारी होता तो आज उसे यह यश कदापि प्राप्त न होता।

अतएव अनन्त ज्ञान की खोज करनेवाले यात्री से हमारा नम्र निवेदन है कि वह अपने सब प्रकार के मिथ्या विश्वासों को मिटाकर नया जन्म धारण करे और प्रतिज्ञा कर ले कि वह जिज्ञासु बनकर प्रभु के रचे हुए इस उद्यान में वस्तुओं की स्वतंत्र खोज करेगा और अपने से भिन्न दृष्टि-बिन्दु रखने वाले स्त्री-पुरुष के साथ कभी द्वेष न करेगा; क्योंकि एक ही समय, एक ही चीज़ को कई आदमी भिन्न-भिन्न पहलुओं से देख सकते हैं और उनमें मतभेद हो सकता है। दूसरे यात्रियों के साथ आप अपने अनुभूत विचारों को मिलाइये, आपस में मुक़ाबिला कीजिये, तोलिये और मापिये। यह सब कुछ करने का आपको अधिकार है, परन्तु प्रेम और विनय के साथ। संसार का सारा दुःख मिट जाय यदि हम स्वतन्त्र निरीक्षण करने का अधिकार सबको दें और फिर एक दूसरे के साथ सहयोग कर संसार-यात्रा पर चलें। रोटी का प्रश्न जीवन में साधनमात्र है। उसमें सबका साझा है। परन्तु असली चीज़ अनन्त ज्ञान की खोज है, जो स्वतन्त्र निरीक्षण किये बिना नहीं हो सकती। किताबों को पढ़िये, किन्तु उनके कीड़े न बनिये। असली किताब हमारी आँखों के सामने प्रकृति माता ने रक्खी है। ज़रा उसके पन्ने उलटिये तो सही, और देखिये, कैसा दिव्य ज्ञान आपको प्राप्त होता है। फ़ुरसत का समय जंगलों में बिताइये। छुट्टियों के दिनों में पहाड़ों की सैर कीजिये। अधिक समय न मिले तो रोज दो-तीन घंटे इर्द-गिर्द के ग्रामों में जाइये अथवा अपने नगर की सामाजिक समस्याओं का अध्ययन कीजिए। छोटी से छोटी वस्तु से भी कुछ न कुछ सीखा जा सकता है। शहर के बाग़ में प्रभात के समय वृक्षों और पौधों को जाकर देखिये, जब निशा का अन्त होकर भास्कर का उदय होता है। निशा की निस्तब्ध प्रकृति में प्रभात होते ही कैसा जीवन आ जाता है ! यह प्रभात ? आपके जीवन में ऐसे प्रभात का समय कैसे

आवे ? तभी, जब अविद्या की निशा का अन्त हो। परन्तु जो अनन्त ज्ञान की खोज में जागरूक है उसके जीवन में सदा ही प्रभात है। वह सोता नहीं। गीता के उस श्लोक की तरह जिसमें यह कहा गया है कि जो सब प्राणियों के लिए निशा है, अनन्त ज्ञान की खोज करने वाले के लिए वह प्रभात है और जिन विषैली बातों में फँसे हुए प्राणी अपने आपको जागृत समझते हैं, यात्री के लिए वह निशावत् हैं।

निरीक्षण करने का यह अभ्यास बालकपन से ही पड़ना चाहिए। हम आज अपने बच्चों को प्रारम्भ में ही ऐसी बातें सिखा देते हैं जिनसे उनकी निरीक्षण करने की इन्द्रिय मारी जाती है। जब आप प्रारम्भ से ही बच्चों को यह सिखला दें कि चन्द्र और सूर्य देवता हैं, अग्नि और पवन देवता हैं तथा भूचाल पृथ्वी के शेषनाग के फन पर ठहरे हुए होने के कारण होता है, तो आप किस प्रकार आशा कर सकते हैं कि आपके बच्चों में निरीक्षण करना आ सकता है ? यदि आप अपनी सन्तान को प्रारम्भ से ही अंजील, वेद अथवा कुरान का ईश्वरकृत होना बतलाते हैं और साथ ही साथ पुराणों की कथाएँ और पैग़म्बरों के मोजज़े पढ़ाते हैं, तो क्या कभी यह सम्भव है कि बड़े होने पर आपके बच्चे स्वतन्त्र विचारना सीख सकें ? कृपाकर बच्चों के मस्तिष्क को ऐसी बोझल बातों से न लादिये। इन सिद्धान्तों को पण्डितों और मौलवियों के अखाड़े के लिए रहने दीजिए। मुसलमान लोग अपने बच्चों को प्रारम्भ से कुरान पढ़ाकर कितना बड़ा आघात उनके मस्तिष्क पर करते हैं ! इसी प्रकार ईसाई धर्म के नशे में चूर पादरी लोग छोटे-छोटे बच्चों को बाईबल की अनहोनी और बेतुकी बातें पढ़ाकर उनका कितना समय नष्ट करते हैं ! बच्चे निरीक्षण करने के योग्य नहीं रहते, क्योंकि पहले से ही उनका मस्तिष्क फ़रज़ी बातों से भर जाता है। जिसे हम धार्मिक शिक्षा कहते हैं वह असल में अन्धविश्वास की जननी है, जिसके कारण संसार की उन्नति में भयंकर बाधाएँ उपस्थित हुई हैं। बच्चों को वस्तुओं का ज्ञान कराइये, पशु-पक्षी और वनस्पति का परिचय दिलाइये तथा बुद्धि का

स्वतन्त्र उपयोग करना सिखाइये। बच्चे जब बड़े होंगे, वे स्वयं मजहबों का मुकाबला कर उनके गुण-दोषों को परख लेंगे। आपका काम उन्हें पक्के हिन्दू, पक्के मुसलमान और पक्के ईसाई बनाना नहीं, बल्कि अच्छे नागरिक बनाना है। उन्हें इस प्रकार की शिक्षा दीजिए जिससे वे स्वतन्त्र निरीक्षण करना सीखें और भले-बुरे का ज्ञान उन्हें आवे। शिष्टाचार और विनय उन्हें सिखलाइये, सेवा और बलिदान का भाव भरिये, परन्तु भूलकर भी वे जटिल सिद्धान्त जो आज विद्वानों को भी चकित कर रहे हैं उनके मस्तिष्क में न ठूँसिये। अपनी बालक-बालिका को अपने साथ घुमाने के लिए ले जाइये और वहीं रास्ते में, नदी-तट पर, वृक्ष के नीचे अथवा खेत के किनारे उन्हें प्राकृतिक पदार्थों का निरीक्षण कराइये। यहीं से उनकी सच्ची शिक्षा प्रारम्भ होती है। मृत्युपर्यन्त उन्हें बराबर विद्यार्थी रहने की भावना से ओतप्रोत रहना चाहिए, ताकि वे प्रभु के अनन्त ज्ञान में से अमूल्य पदार्थ पा सकें। नित्य नया ज्ञान मिलना चाहिए। एक आदमी बचपन से पाँच वक्त नमाज़ पढ़ता हुआ अथवा सन्ध्या करता हुआ मृत्यु के समय वैसा ही नमाज़ी और सन्ध्या करने वाला होकर मरे तो इसमें कोई बड़प्पन नहीं। ऐसे मनुष्य ने अपनी सारी ज़िन्दगी खो दी। धन्य जीवन उन्हीं का है जो समाज को आगे बढ़ाते हैं, ज्ञान का भंडार भरते हैं और प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन कर अनन्त ज्ञान की ओर मनुष्य-समाज को ले जाते हैं। यह महान कार्य स्वतन्त्र निरीक्षण द्वारा ही हो सकता है। ज्ञान की वृद्धि का यही पथ है। जब तक हम प्रचलित शिक्षा-प्रणाली और धार्मिक बातों में पूरी क्रान्ति कर प्रकृति-माता के चरणों में बैठने का अभ्यास नहीं करेंगे, उससे शिक्षा ग्रहण करने की आदत नहीं डालेंगे, तब तक कभी भी हम उन्नति-पथ पर आरूढ़ नहीं हो सकते।

दसवाँ पुष्प

उत्थान-पथ पर (२)

सत्संग

ईश्वर की इस अद्भुत सृष्टि में सबके लिए उत्थान के साधन मौजूद हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम उन साधनों की तलाश करें और उनकी प्राप्ति पर पूर्ण शक्ति से उत्थान-पथ पर अग्रसर हों। बहुत से लोग यह समझते हैं कि वे केवल दुःख उठाने के लिए ही इस संसार में आये हैं। उनकी यह धारणा है कि केवल धनवान् ही उन्नति-पथ पर चल सकते हैं। वे धन को ही जीवन की सफलता का सबसे महान् साधन समझते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। ईश्वर सब को आगे बढ़ने के लिए अवसर देता है। अवसर आते हैं और निकल जाते हैं। जिन में इच्छाशक्ति है, पुरुषार्थ है, जीवन का आदर्श है और जो मन को एकाग्र कर अपने ध्येय के पीछे पड़ जाते हैं, वे बाजी मार ले जाते हैं। आलस्य में डूबे हुए, सदा भाग्य के भरोसे पर बैठने वाले और छिद्रान्वेषी कभी आगे नहीं बढ़ सकते। अवसर उनके सामने से गुज़र जाते हैं, परन्तु वे उनसे कुछ लाभ नहीं उठा सकते।

इसलिए सबसे पहले इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम अपने आपको स्वर्ण-अवसर पकड़ने के योग्य बनावें। हम ऐसा वातावरण उत्पन्न करें जिसमें अवसर हाथ से न निकल जावे। हमारा हृदय प्रकाश को ग्रहण करने के अनुकूल बने और हम अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं का यथार्थ उपयोग कर सकें। इसके लिए हमें सत्संग करना चाहिए। यदि हमारे नगर, ग्राम अथवा क़स्बे में कोई महापुरुष रहता है तो हम नित्य-प्रति आध घंटे के लिए उसके पास जायें और उसके वचनामृत का पान

करें । यदि ऐसा मौका न मिल सके तो हम किसी महापुरुष के जीवन-चरित को ही अपने स्वाध्याय की वस्तु बनायें । दो-चार पन्ने प्रातःकाल अथवा सोने से पहले उस जीवनी में से जरूर पढ़ें और जो बातें उत्थान की हमें मिलें उन्हें अपनी नोट-बुक में लिख लें । इससे हमारा मस्तिष्क उत्थान-पथ के लिए तैयार हो सकेगा और हम अपनी कठिनाइयों को जीतने के ढंग सीख सकेंगे ।

कोई भी महापुरुष आपको शिक्षा दे सकता है—चाहे वह अपने देश का हो अथवा विदेश का । महापुरुष किसी जातिविशेष की सम्पत्ति नहीं होते, वे मनुष्यमात्र का उपकार करने के लिए होते हैं । संयुक्त-राज्य अमरीका का महापुरुष जार्ज वाशिंगटन आपके लिए वैसा ही महान् है जैसा वह किसी अमरीकन स्त्री या पुरुष के लिए । जिस महापुरुष में आपकी श्रद्धा है, जिसको आप अपने लिए आदर्श समझते हैं, जो आपको स्फूर्ति दे सकता है, उसे ही आप अपना पथ-प्रदर्शक बनाइये और नित्यप्रति उसकी जीवनी से लाभ उठाइये ।

यह कभी मत समझिये कि आप महान् नहीं हो सकते । इस प्रकार का विचार अपने मस्तिष्क में कभी न आने दें, बल्कि सदा ऐसा ही सोचा करें कि आप भी महापुरुष बन सकते हैं । अपने मन को ऐसे नीरोग विचारों से भर लीजिए और नित्यप्रति अपने आदर्श महापुरुष के साथ सत्संग कीजिए । हम इसे भी सत्संग ही कहते हैं । यद्यपि वे महापुरुष आपके सामने मौजूद नहीं, आप उन्हें चलते-फिरते नहीं देखते, लेकिन यह बात सच है कि वह जीवनी यदि किसी अच्छे लेखक की लिखी हुई है तो उसका एक-एक शब्द आपके हृदय में नवीन साहस भरेगा और आपको अपना पथ स्पष्ट दिखाई देगा ।

अतएव उत्थान-पथ पर जाने वाले के लिए सत्संग की बड़ी आवश्यकता है । जैसे खरबूजे को देखकर खरबूज़ा रंग बदलता है, वैसे ही महापुरुषों का जीवन-पाठ करने से आपका मैल दूर होगा और आप पर उस महान आत्मा का रंग चढ़ने लगेगा । प्रत्येक स्त्री और पुरुष को किसी न

किसी महापुरुष का जीवन-चरित अपने सामने रखना चाहिए और अपना विचार-प्रवाह ऐसा बनाना उचित है कि हम अपने आप को कठिनाइयों पर विजय करने वाला समझें। जब नित्यप्रति सत्संग किया जायगा तो हमारे जीवन की बाधाएँ दूर होने लगेंगी। हमारे सामने अनन्त आकाश है। साधारण व्यक्तियों के लिए उसमें चारों ओर खिड़कियाँ लगी हुई हैं, जिनके दरवाज़े बन्द हैं। जो उच्च विचार नहीं रखते, जिनमें आत्म-विश्वास नहीं है और जिनका कोई ध्येय नहीं, उनके लिए सब रास्ते बन्द हैं और संसार उन्हें अन्धकारमय दिखाई देता है; परन्तु जिनमें ज़बरदस्त शिक्षा-शक्ति है, जो महापुरुषों के चरणों के निकट बैठते हैं, अथवा जो उनकी जीवनियाँ पढ़कर उनके साथ सत्संग करते हैं, सफलता उनके सामने दासी बनकर खड़ी हो जाती है और वे अपने चारों ओर खुले दरवाज़े पाते हैं। सब उनका स्वागत करते हैं और बड़ी प्रसन्नता से उनके लिए मार्ग छोड़ देते हैं।

संक्षेप में, जो उत्थान-पथ के यात्री बनना चाहते हैं उन्हें सबसे पहले किसी महापुरुष की जीवनी को अपना आदर्श बनाना चाहिए। बिना आदर्श के कोई सच्चा यात्री नहीं बन सकता। जब आपको अपना ध्येय मालूम है तब आप आसानी से साधन जुटा सकते हैं। ध्येय के बिना मनुष्य इस संसार में ऐसा ही है जैसे पतवार के बिना नौका। महापुरुषों के जीवन इस कमी को पूरा कर देते हैं और पाठक को प्रकाश दिखलाते हैं। सत्संग की बड़ी महिमा है। महापुरुषों के पास बैठने से शरीर में बिजली दौड़ने लगती है और उनके उपदेश से सात्विक विचार मन में आते हैं। इसीलिए उत्थान-पथ के यात्री को सबसे पहले किसी महापुरुष के जीवन-चरित का पाठ, उसके साथ सत्संग और उसके दिव्य गुणों पर विचार करना आवश्यक है; तभी वह अपनी जीवन-यात्रा पर चलने के योग्य बनेगा और तभी वह इस ईश्वरीय सृष्टि के सुन्दर पदार्थों को देख सकेगा।

दैनिक वृत्त

कोई भी दुकानदार अपनी दुकान नहीं चला सकता जो नित्यप्रति अपना वही-खाता नहीं मिलाता। उसने दुकान में पूंजी लगाई है; किस लिए? यदि वह घाटा सहता रहेगा, तो उसका दिवाला निकल जायगा। इसके विपरीत यदि वह नित्य दुकान बन्द करने से पहले वही-खाता मिला लेता है, तो उसे अपनी स्थिति का पता लग जाता है। तब जिन कारणों से उसे घाटा होता है, उन्हें वह दूर करने की चेष्टा करता है।

आपका जीवन आपकी पूंजी है। आपको इसे नफे पर लगाना है, ताकि जीवन-यात्रा पूरी होने के समय आप आनन्द से चोला बदल सकें। यदि आप चाहते हैं कि आपका जीवन सफल हो, आप घाटे में न रहें और आपका दिवाला न निकले, तो आप रोज रात के समय सोने से पहले अपना वही-खाता मिलाइये। आपने अपनी पूंजी को कहां लगाया है? क्या उसमें घाटा हो रहा है या नफ़ा? इसे आपको देखना है। अपने बुरे-भले कामों की पड़ताल कीजिए और ईश्वर के सामने अपनी भूलों पर पश्चात्ताप कीजिए। वह प्रभु बड़ा दयालु है। जो उसकी शरण में जाते हैं, वह उन्हें गोद में उठा लेता है। सच्चे हृदय से अपनी ग़लतियों पर दुःख प्रकट कीजिए और फिर प्रभु के दरबार का दरवाज़ा खटखटाइये। तब आपको एक चमत्कार दिखाई देगा।

संसार में जितने महापुरुष हुए हैं, सब अपना वही-खाता मिलाया करते थे। आधुनिक युग में दिनचर्या लिखने का रिवाज़ है। पहले लोग सुबह-शाम प्रार्थनाएं किया करते थे और उसी समय अपने कर्तार के सामने दिन-भर के पापों का हिसाब देते थे। रोमन कैथोलिक ईसाइयों में किये हुए गुनाहों को पादरी के सामने प्रायश्चित रूप में कहने की प्रथा प्रचलित है। मुसलमान लोग गुनाहों की तौबा करते हैं और खुदा से माफ़ी मांगते हैं। यह भी एक तरीक़ा अपनी दिनचर्या ईश्वर के सामने कहने का है, परन्तु इससे अच्छा ढंग आधुनिक है, जिसमें भले-बुरे कामों को दैनिक

वृत्त-पुस्तक में लिख लिया जाता है और यदि कोई अच्छी पुस्तक पढ़ी जाय, किसी विद्वान से सत्संग हो, अथवा कोई और अच्छी बात सुनने में आवे, तो उसे नोट-बुक में टीप लेते हैं। इस प्रकार ज्ञान का संचय भी होता चला जाता है, और किस प्रकार हम अपने जीवन की पूंजी को खर्च कर रहे हैं—इसका सविस्तर व्यौरा मालूम होता रहता है। सभी बड़े-बड़े लेखक और महापुरुष अपनी दिनचर्या लिखते थे या रात के समय सोने से पहले अपने दिन-भर के कामों पर विचार करते थे।

एक और बहुत बड़ा लाभ दैनिक-वृत्त लिखने का यह है कि इससे स्मरणशक्ति बहुत अच्छी हो जाती है। जैसे उस्तरे को पत्थर पर लगाने से उसकी धार तेज़ हो जाती है, इसी प्रकार नित्यप्रति दैनिक वृत्त लिखने से स्मरणशक्ति तेज़ हो जाती है और आप अपने वर्षों के अनुभवों को याद रख सकते हैं। ब्राह्मीबूटी खाने अथवा असगन्ध सेवन करने से आपकी स्मरणशक्ति को इतना लाभ नहीं होगा जितना दिनचर्या लिखने से हो सकता है। हमारा अपना निज का अनुभव यही है और हमने वर्षों के अनुभवों को केवल स्मरणशक्ति द्वारा पुस्तकाकार लिख डाला है। सभी विद्यार्थियों के सामने हम यह नुस्खा पेश करते हैं और आशा करते हैं कि वे इसके द्वारा अपनी स्मरणशक्ति बढ़ायेंगे।

प्रत्येक स्त्री और पुरुष को यह देखना चाहिए कि उसका जीवन कहां लग रहा है। क्या उसका शरीर, उसकी तन्दुरुस्ती दिन-प्रति-दिन क्षीण हो रही है या बढ़ रही है? उसे यह देखना है कि पिछले पांच वर्षों में अब वह कितना आगे बढ़ा है। यदि उसने अपना धन खोया है तो उसका कारण क्या है? यदि उसके चरित्र में दोष आ गये हैं, उसकी बात का प्रभाव नहीं पड़ता, उसे व्याधियां सताती हैं और उसका मन अशान्त है, तो इनके क्या कारण हैं? मुफ्त में डाक्टरों के पास जाकर पैसा बरबाद करने से कुछ लाभ नहीं। आप अपने स्वयं मालिक हैं। आपका उत्थान-पतन आपके हाथ में है। आप अपने प्रारब्ध के बनाने वाले हैं। केवल अपनी ग़फलत के कारण ही दुःखों का बोझ आपकी पीठ पर लद गया है। अपना बोझ

हल्का करने के लिए, डाक्टर-वैद्यों से छुटकारा पाने के हेतु और अपनी मानसिक अवस्था सुधारने की इच्छा से आपको अपनी दिनचर्या लिखने का अभ्यास डालना चाहिये। जब आप रोज़ अपना वही-खाता मिलायेंगे तो बड़ी आसानी से अपने दुःखों का कारण आपको मालूम हो सकेगा।

सभी पूंजीपति अपनी पूंजी वहीं लगाते हैं जहाँ से उन्हें नफे की आशा होती है। वे अपने धन को कितना मूल्यवान समझते हैं और उसकी रक्षा तथा उसकी वृद्धि के लिए कैसे जी-जान से कोशिश करते हैं! यदि हम उससे आधी कोशिश अपने जीवन-धन-रूपी पूंजी को ठीक ठिकाने लगाने में करें और रोज़ अपने हानि-लाभ को मिला लें, तो कितना सुख और कितनी शान्ति प्राप्त हो सकती है! हज़ारों जीवन बरबाद होगये, जवानों की जवानी मिट्टी में मिल गई, युवतियों का सौन्दर्य नष्ट होगया और धनकुबेर कंगाल होगये—केवल इसीलिये कि उन्होंने अपना वहीखाता नहीं मिलाया और दिनचर्या लिखने का अभ्यास नहीं डाला। जब समय निकल जाता है तब पछताना व्यर्थ होता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम आज से ही दिनचर्या लिखने की प्रतिज्ञा करें और अपने प्रभु से दो-दो बातें करने की आदत डालें। यह आदत सात्विक बीज वपन करेगी, जिसके मधुर फल हमें शीघ्र चखने को मिलेंगे।

व्यायाम

परमात्मा की सृष्टि में मानव-शरीर एक अत्यन्त अद्भुत वस्तु है। इसकी बनावट में प्रकृति ने विकास का इतिहास लिख दिया है। मानव-शरीर का प्रत्येक अंग ऐसे सांचे में ढाला गया है कि किसी प्रकार का दोष इसमें नहीं रह गया। छोटे से मस्तिष्क में सारे ब्रह्माण्ड के रहस्यों के उद्घाटन के साधन भरे हुए हैं। किस वैज्ञानिक ढंग से आंख, कान, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियाँ बनाई गई हैं और कैसे आश्चर्यजनक यन्त्र शरीर के अन्दर विद्यमान हैं! जब से सृष्टि का निर्माण हुआ है, इस मनुष्य-शरीर द्वारा कैसे-कैसे विस्मयजनक कार्य हुए हैं! परन्तु आज तक यह अद्भुत

मनुष्य अपना नमूना तैयार नहीं कर सका।

इस मानव-शरीर का उत्थान और पतन 'व्यायाम' शब्द में छिपा हुआ है। जिन यूनानियों की संस्कृति ने योरुप को अभ्युत्थान का मार्ग दिखलाया, वे शरीर के बड़े उपासक थे। इटली के प्रसिद्ध नगरों में जगत्-विख्यात यूनानी पहलवानों और वीरों की मूर्तियाँ कुशल शिल्पियों द्वारा निर्माण की जाती हैं, जिन्हें देखकर दर्शक का हृदय गद्गद हो जाता है। आर्यवंश के उन सुपुत्रों ने शरीर के विकास को पूर्णता तक पहुँचाने की चेष्टा की थी; इसीलिए वे साहित्य, संगीत और कला के निर्माता बने। संसार को उन्होंने शिक्षा-पथ दिखलाया। वे जानते थे कि व्यायाम द्वारा ही शरीर नीरोग रह सकता है और नीरोग शरीर में ही नीरोग मन का निवास रहता है। नीरोग मन होने से आत्मा को आनन्द मिलता है और अपने ध्येय—सच्ची शान्ति को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण शिक्षा में उन्होंने व्यायाम को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया था और अपने बच्चों को वीर-शिरोमणि बनाया था। यूनानी व्यायामशालाओं के नाम आज भी शताब्दियों के बाद हमारे कानों को पुलकित करते हैं और ओलिम्पिक खेलों (Olympic Games) का नाद हमारे कानों में गूँजता है।

सचमुच व्यायाम ऐसी ही चीज़ है। जैसे पानी न सींचने से पौधा सूख जाता है, ऐसे ही व्यायाम न करने से शरीर मुर्दा हो जाता है। जो लोग नित्यप्रति व्यायाम करते हैं उनके फेफड़े शुद्ध पवन से साफ़ होते हैं, मानो ताज़ा जल उनके अन्दर प्रवेश करता है। नित्य प्रति जिस सरोवर में जल का आगमन और निष्क्रमण रहे, वह भला गंदा क्यों होगा ? परन्तु जिस तालाब में पानी खड़ा रहता है उसमें कीड़े पड़ जाते हैं और ज़हरीली गैसें उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार व्यायाम न करने वाले लोगों के शरीर में गन्दे विचार भर जाते हैं और उनका मस्तिष्क ज़हरीले कीटाणुओं से ओत-प्रोत हो जाता है। हम हज़ारों स्त्री-पुरुषों को नगरों में घूमते देखते हैं, जिनके चेहरों पर मुर्दनी छाई रहती है, जो गन्दे मकानों में रह कर जीवन व्यतीत करते हैं। यदि आप उनसे बात करें

तो उनके अन्दर से संकुचित विचार अपनी वदबू फैलाते हुए बाहर आते हैं। तन्दुरुस्ती के लिए व्यायाम सबसे बड़ा साधन है। इसी के बल पर आज योरुप वाले इतने परिश्रमी बन गये हैं। शरीर का प्रत्येक अंग व्यायाम चाहता है और उसके बिना जंग खा जाता है। बीमारी के कीटाणु उसी को पछाड़ते हैं जो व्यायाम नहीं करता और जिसके शरीर में बल नहीं। बलवान शरीर जहाँ संसार की बाधाओं का सामना करता है, वहाँ बीमारी के कीटाणुओं को भी पीस डालता है।

अतएव उत्थान-पथ के यात्री को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि शरीर आत्मा का मन्दिर है। इसे तुच्छ न समझ कर सदा इसकी सफ़ाई और विकास का ध्यान रखना हमारा परम कर्तव्य है। भूख उसी को लगती है जो व्यायाम करता है। आरोग्यता का नशा अत्यन्त मधुर होता है। नीरोग मनुष्य जब खाने बैठता है तो प्रत्येक ग्रास उसे अत्यन्त मीठा मालूम होता है। इसके विपरीत व्यायाम से जी चुराने वाले अजीर्णता की जंजीरों में जकड़े रहते हैं और कोई भी वस्तु उन्हें अच्छी नहीं लगती; वह पेट में दर्द करती है। हजारों दवाइयों की एक दवाई नित्य प्रति का व्यायाम है।

इस सत्य सिद्धान्त को समझ कर जर्मनी के लोग अपने बालक-बालिकाओं को व्यायामशालाओं में नित्य भेजते हैं। कोई गली-कूचा, बाज़ार-मुहल्ला व्यायामशाला से खाली नहीं, जहाँ लड़के-लड़कियाँ दोनों सुबह-शाम व्यायाम करते हुए दिखलाई न देते हों। हम घंटों इन नीरोग जर्मन बच्चों को व्यायाम करते हुए देखा करते थे, तो कैसा आह्लाद हृदय में होता था! तभी तो उनमें धैर्य है। जिस काम को पकड़ते हैं, उसे पूर्ण करने में सब शक्तियाँ लगा देते हैं और कठिनाइयाँ आने पर नये आविष्कार रच बाधाओं पर विजय लाभ करते हैं। यह संसार उन्हीं के लिए सत्य है जो नीरोग हैं। बीमार आदमी की टाँगें तो क़ब्र में लटकने लगती हैं। छुट्टी के दिनों में जर्मन बच्चे जंगलों में जाकर खेलते-कूदते हैं। वे पुस्तकों के कीड़े नहीं बनते, क्योंकि वे जानते हैं कि

प्रकृति माता को नीरोग शरीर प्यारा है और वह अपना ज्ञान बड़ी प्रसन्नता से उन्हें ही देती है जिनके चेहरे तन्दुरुस्ती की लालिमा से चमकते हैं।

हम इसी कारण अपने पाठकों से व्यायाम करने की प्रतिज्ञा कराना चाहते हैं, ताकि वे अपने उत्थान में बराबर आगे बढ़ सकें। यह आवश्यक नहीं कि आप जंजीरें तोड़ें, मोटर रोकें, अथवा कोई और ऐसा ही विस्मयजनक काम कर दर्शकों को चकित कर दें। हम इस प्रकार के व्यायामों को व्यायाम नहीं कहते। इनसे शरीर का स्वाभाविक विकास नहीं होता। यह तो पैसा बटोरने के धन्धे हैं। ऐसे लोग दीर्घायु भी नहीं होते। व्यायाम तो शरीर को फुर्तीला और नीरोग रखने के लिए किया जाता है—सैण्डो और राममूर्ति बनने के लिए नहीं। नित्यप्रति अपने घर से बाहर खुले मैदान में जाइये और वहाँ पौना घंटा, घंटा कसरत कीजिए। टाँगों की कसरत दौड़ने से बड़ी अच्छी हो जाती है और हल्के मुगदर फेरने से भुजायें और छाती पुष्ट होती हैं। भूमि पर सीधे लेटकर टाँगों को इधर-उधर घुमाने और सिर की तरफ़ लाने और फिर वापस करने से भी बड़ा अच्छा व्यायाम हो जाता है। जिनका पेट निकल आये वे पेट के बल लेट कर अपनी टाँगों को हाथों से पकड़ आगे-पीछे चलने का अभ्यास करें। रोज़ पन्द्रह-बीस मिनट ऐसा करने से पेट पिचकने लगेगा और अपने स्वाभाविक रूप को ग्रहण करेगा। चौपायों की तरह हाथों और टाँगों के बल चलने से भी बड़ा अच्छा व्यायाम हो जाता है और सपाटे-बैठक निकालने से शरीर को बड़ा लाभ होता है। परन्तु व्यायाम सदा मुंह बन्द करके करना चाहिये, जिससे लम्बी साँस लेने की आदत पड़ जाये। प्रायः बीमारियाँ छोटी साँस लेने से हो जाती हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष को खुली शुद्ध पवन में दस-पन्द्रह मिनट तक लम्बी साँस लेने का अभ्यास करना चाहिये। इसका प्रभाव शरीर पर ऐसा ही पड़ता है जैसे पानी के नल को खोल देने से कमरा धोया जाता है। हम चाहते हैं कि हमारा प्रत्येक पाठक और पाठिका नित्यप्रति व्यायाम की आदत डाले। अपने कमरे में एक कागज़ ऐसा लटका लेना चाहिये जिस पर बराबर यह लिखा जाय

कि किस दिन व्यायाम में विघ्न पड़ा है। यदि इस प्रकार नियमपूर्वक व्यायाम किया जायगा तो कभी कोई बीमारी पास नहीं फटकेगी, डाक्टर और वैद्यों की फ़ीस से छुटकारा होगा और आप उत्थान-पथ पर बढ़ते चले जायँगे।

लाघवं कर्मसामर्थ्यं विभक्तघनगात्रतां।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते।

व्यायाम करने से हल्कापन, फुर्ती, कर्म करने की शक्ति, गात्रों का अलग-अलग और घना हो जाना, दोषों का क्षय और अग्निवृद्धि—ये लाभ होते हैं।



The early bird catches the worm. —*An American proverb*

Awake thee, my lady love, wake thee and rise!
The Sun through the bower peeps into thine eyes.
—*George Darley*

It was a noble Roman
In Rome's imperial day,
Who heard a coward croaker
Before the battle say:
"They 're safe in such a fortress;
There is no way to shake it."
"On, on!" exclaimed the hero,
"I 'll find a way, or make it!"



ग्यारहवाँ पुष्प

शक्तियों की जागृति

क्या योरुपीय देशों के बारह-बारह, चौदह-चौदह वर्ष के लड़के, जो संसार-शासन का दम भरते है, हमारे लड़कों से अधिक योग्य हैं ? उनमें कौन-सा गुण है जिसके कारण वे हमारे लड़कों से अधिक योग्य समझे जाते हैं ? इसका उत्तर स्पष्ट है। वे उन देशों में पले हैं जहाँ के नेता अपने बच्चों को उत्साहित करने के लिए प्रत्येक सम्भव साधन का प्रयोग करते हैं, जहाँ बच्चों को मनुष्य बनने का पूरा मौका दिया जाता है, जहाँ बच्चों में दूसरों पर शासन करने का विश्वास भरा जाता है।

इसके विपरीत, हमारे यहाँ क्या है ? यहाँ के नेता हमेशा ही अपने देशवासियों की अयोग्यता का बेढङ्गा राग अलापते रहते हैं। जिसे देखो वही खुशामद के "पैगम्बर" की पूजा कर रहा है। कोई अपनी किस्मत को कोसता है, दूसरा 'कलियुग' को दोष देता है। बहुत से ऐसे हैं जो नवयुवकों के उठते हुए उत्साह को दबाने के लिए घृणित-से-घृणित उपायों का अवलम्बन करते हैं। जो मिलता है वह आशा-भंग ही करता है; जो उठता है वह ठण्डा पानी ही डालने में अपनी बहादुरी समझता है।

ऐसे समाज में रहने वाले नवयुवकों की शक्तियाँ क्या कभी जागृत हो सकती हैं ? कभी नहीं। लड़का जैसी संगत में रहता है वैसा ही वह हो जाता है। हमारे इर्द-गिर्द जगाने के सामान नहीं हैं; हम लोगों को अपनी जाति के उच्च मिशन पर कोई श्रद्धा नहीं है। ऐसी अवस्था में हमारे बच्चे, हमारे बालक 'सिंह' कैसे बन सकते हैं ?

ज़ार के समय में, जब रूस के यहूदी लोग अमरीका में जाते थे तो थोड़े ही वर्षों में उनकी काया-पलट हो जाती थी। रूस में उन्हें पूरी

स्वतन्त्रता नहीं मिलती थी, इसलिए अन्याय के बोझ से उनकी कमरें झुक जाती थीं। अमरीका में आते ही उनको नये समाज, नये लोक के दर्शन होते थे; वे अपने आपको सबके बराबर पाते थे। अमरीका के प्रजातन्त्र राज्य के प्रभाव से उनकी दबी हुई शक्तियाँ जागृत हो उठती थीं और वे नया जीवन धारण करते थे। उनका मनुष्यत्व विकसित होने लगता था। अतएव शक्तियों को जागृत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले अपने इर्द-गिर्द वैसा वातावरण पैदा करने की चेष्टा करें। शेर का बच्चा यदि गीदड़ों में पाला जाय तो वह उनकी आदतें सीख जायगा। हमारे समाचारपत्रों में कभी उन लड़कों के पकड़े जाने की खबरें छपा करती हैं जिनको भेड़िये अपनी मांदों में उठा ले गये थे। भेड़ियों की मांदों में पलने से उन बालकों की सब आदतें उन हिंसक पशुओं जैसी हो जाती हैं। भला उस जाति के बच्चे वीर कैसे हो सकते हैं जिसके स्कूलों में अपनी हार-ही-हार का इतिहास पढ़ाया जाता है, जहाँ के माता-पिता लड़कों को "हाँ हजूर, हाँ हजूर" कहने ही की शिक्षा देते हैं।

भारतवर्ष के बच्चों को अपनी शक्तियों को जगाने का अवसर नहीं दिया जाता। यदि अपनी सन्तान को वीर और धर्मात्मा बनाना चाहते हो तो उनके इर्द-गिर्द वैसे ख्यालात पैदा करो; उनको निराशा के 'मरसीहें' मत पढ़ाओ। उनके सामने उच्च आदर्श रक्खो। उनको सदा उत्साह से भरो। उनको महापुरुषों के जीवनचरित्र सुनाओ। उनको वीर जातियों के इतिहास पढ़ाओ। उनको डराने वाली बातें सुना-सुना कर कायर मत बनाओ।

कैसा ही दृढ़चित्त पुरुष क्यों न हो, यदि उसके इर्द-गिर्द "बरबादी! बरबादी!" चिल्लाने वाले उल्लू रहेंगे, तो वह बेचारा भी बरबाद हो जायगा। ऐसे उल्लुओं की "हूट! हूट!!" को मत सुनिए। उच्च लक्ष्य बनाकर आगे बढ़ने का सामान कीजिए। लाखों आत्मायें निराशा के मुंह में इसलिए चली गईं क्योंकि उनको कोई उत्साहित करने

वाला नहीं मिला, किसी ने उनकी शक्तियों के जगाने में सहायता नहीं दी।

इसलिए सदा उन आत्माओं का संग कीजिये जिनके आदर्श उच्च हैं, जिनका मन उत्साह से भरा है; ऐसे लोगों में आकर्षक शक्ति है, उनमें मिकनातीसी ताकत है। उनके पास बैठने से आपकी शक्तियों का विकास होगा। अपनी दबी हुई शक्तियों को जागृत करने के लिए बाहर के साधनों की बड़ी भारी आवश्यकता है। कृपा कर अपने समाज, अपने देश को उन साधनों से सम्पन्न कीजिए। इस त्रुटि के कारण हम उठ नहीं सकते; यह हमारी उन्नति के मार्ग में भारी बाधा डाल रही है।

"Energy is eternal delight." —*William Blake*

"जब मनुष्य आत्मा के अनुकूल कर्म करने लग जाता है तो उसकी हृदयतन्त्री बजने लग जाती है और वहीं से आन्तरिक शक्तियों का मधुर स्वर उसके सारे शरीर को पुलकित करने लग जाता है।"

—देवदूत

"यदि तुम अपने अन्दर की छिपी हुई शक्तियों को जगाना चाहते हो तो मन, वाणी और कर्म को एक सीध में लाने का प्रयत्न कीजिये। शक्ति-स्रोत से स्फूर्ति पाने का यही सीधा सच्चा मार्ग है।"

—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

बारहवाँ पुष्प

आत्म-विश्वास

"सिसोदिया वंश का बच्चा अकबर के सामने सिर नहीं झुकायेगा!"

महाराणा प्रताप ने यह भीष्म-प्रतिज्ञा उस समय की थी जब बादशाह अकबर ने भारतवर्ष के सभी हिन्दू राजाओं को अपने वश में कर लिया था। मेवाड़ के छोटे-से इलाके का अधिकारी यह राजपुत्र ऐसी भीष्म-प्रतिज्ञा करता है! वह कौन-सी शक्ति थी जिसने उस वीर मनुष्य में ऐसा अलौकिक बल भर दिया था? यह है आत्म-विश्वास की शक्ति। इसी शक्ति के उपासक महाराणा प्रताप ने अपने मुट्ठी-भर राजपूतों को साथ लेकर हल्दीघाटी के युद्ध में अकबर के हज़ारों सैनिकों के दाँत खट्टे किये थे। उसके सगे भाइयों ने उसका साथ छोड़ दिया, उसके बड़े-बड़े गढ़ एक एक करके उसके हाथ से निकल गये, मगर उसका मन ज़रा भी विचलित नहीं हुआ और वह अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा पर बराबर खड़ा रहा।

राबर्ट ब्रूस जिस समय युद्ध से हार कर भागा, उसने यह समझ लिया था कि मैं अंग्रेज़ों का सामना नहीं कर सकता; परन्तु जाला बुनने वाली मकड़ी ने उसको आत्म-विश्वास की शिक्षा दी। उसके विचार बदल गये। उसको दृढ़ विश्वास होगया कि मैं अपने प्यारे स्काटलैण्ड को स्वतन्त्र कर सकता हूँ। इस विश्वास ने उसको नया आदमी बना दिया और उसने अपने कार्य में सफलता प्राप्त की।

महात्मा बुद्ध, गुरु गोविन्दसिंह, ऋषि दयानन्द और अन्य महापुरुषों को अपने ऊपर अटल विश्वास था। इस विश्वास ने उनकी शक्तियों को बढ़ाने में भारी सहायता दी। यदि इन महात्माओं को अपने मिशन पर

अटल विश्वास न होता तो योग्यता रखते हुए भी वे कुछ न कर सकते थे।

गुरु गोविन्दसिंह जी से मिलने से पहले बाबा बन्दा एक साधारण सा मनुष्य था, पर जिस समय उसको अपने मिशन पर विश्वास हुआ उसकी शक्तियाँ जाग उठीं और वह एक महापुरुष बन गया।

जो मनुष्य यह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर सकता, वह वास्तव में कुछ नहीं कर सकता। उसे अपने ऊपर विश्वास नहीं है। ऐसे मनुष्य की कोई सहायता नहीं कर सकता। जो अपने को तुच्छ समझता है, उसको सब कोई तुच्छ समझेगा। उसके चेहरे पर कायरता के चिह्नों का आविर्भाव हो जाता है। वह उस कुत्ते की तरह है जिसको चारों ओर से फटकार मिलती है। मेरे पास प्रायः उन लोगों की चिट्ठियाँ आती हैं जो अमरीका जाना चाहते हैं। अधिकांश ऐसा लिखते हैं—

"स्वामी जी, मैं बड़ा निर्धन हूँ, मेरी कोई सहायता नहीं करता; आप मुझे एक भिक्षुक समझ सहायता कीजिये। मुझे, बस, आपका ही सहारा है। मैं जन्म-जन्मान्तर तक आपका गुण गाता रहूँगा।"

ऐसे लोगों की चिट्ठियाँ मैं फाड़ कर फेंक देता हूँ। ऐसे लोग संसार में कुछ नहीं कर सकते; वे कायर और भीरु हैं। जीवन-संग्राम से उन्हें डर लगता है; वे भग्गू हैं। वे दूसरों के फेंके हुए जूठे टुकड़ों पर गुजारा करने वाले हैं।

भला वह नवयुवक किसी काम में कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है जो उठते-बैठते, चलते-फिरते अपनी बदकिस्मती पर ही रोता रहता है; जो जिधर देखता है उधर ही उसको निराशा दिखाई देती है; जो सदा अपनी कठिनाइयों का ही जाला बुनता रहता है; जिसके चेहरे पर 'निराशा' मोटे अक्षरों में लिखी हुई है। ऐसे नवयुवक को कभी भी किसी काम में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। जो मनुष्य डरता है उसे रात को भूत दिखाई देते हैं; उसी को संसार नरक के समान सूझता है।

किसी कार्य को आरम्भ करने से पहले यदि मन में उसकी सफलता पर अविश्वास हो, तो निश्चय समझिये कि वह कार्य कभी नहीं होगा।

जो मनुष्य 'छींक' को अपशकुन समझता है वह संसार में क्या कर सकता है ? मन में शंका के उत्पन्न होते ही शक्तियां निर्बल होने लगती हैं और आधा काम बिगड़ जाता है। जब आप स्वयं अपनी अयोग्यता, अपनी नालायकी स्वीकार करते हैं, फिर आप उसे कर कैसे सकते हैं ?

अपने ऊपर विश्वास करो, तब सब कोई आप पर विश्वास करेगा। विश्वास में दैवी शक्ति है। इसी विश्वास ने क्लर्क क्लाइव को सेनापति क्लाइव बना दिया। इसी विश्वास ने सिपाही नैपोलियन को फ्रांस के सिंहासन पर बिठला दिया।

विश्वास ! विश्वास में ग़ज़ब की शक्ति है; यह शक्तियों का पुञ्ज है।

जो दशा व्यक्तियों की है, वही जातियों की भी है। जिस जाति को अपने भविष्य पर विश्वास है, जो अपने आपको महान-से-महान कार्य करने के योग्य समझती है, वह जाति अवश्य ही अपने उद्देश्य को पूरा कर सकती है। जो जाति अपने को अयोग्य समझती है, जिसको अपने ऊपर विश्वास नहीं है, जो दूसरे के सहारे चलने में ही अपना मोक्ष मानती है, जिसको भीख मांगने की आदत है, वह कभी भी अपनी अवस्था को पलट नहीं सकती। जिस राष्ट्र के लोग समझते हैं—"हम अयोग्य हैं; हम कुछ नहीं कर सकते; हमको उठने के लिए शताब्दियां चाहियें; हम में यह नहीं है, हम में वह नहीं है"—ऐसे राष्ट्र के लोग कभी उठ नहीं सकते। उनको साक्षात् ब्रह्मा भी उठा नहीं सकता। सबसे पहले आत्म-विश्वास होना चाहिए—"I will do it or die for it" अर्थात् "मैं यह काम कर डालूंगा या इसके लिए मर मिटूंगा"। ऐसा विश्वास सब प्रकार की जंजीरों को ढीला कर देता है; यह सब किस्म के बन्धनों को काट सकता है। इसलिए उठिए; यह निराशा—यह अविश्वास—दूर कीजिये; जाति के बच्चों में आत्म-विश्वास भरिए। हमारी जाति कठिन-से-कठिन, महान-से-महान कार्य करने के योग्य है—यह विश्वास अपने अन्दर भरिए। भीरुता, कायरता और अयोग्यता के विचारों को हृदय से निकाल दीजिए। जिस दिन भारत जाति को अपने ऊपर विश्वास हो

जायगा उस दिन ये रुकावटें—ये बन्धन—जो आज भयानक बोध होते हैं, तुच्छ मालूम होने लगेंगे और भारत जाति अपने थोड़े से उद्योग द्वारा उन्हें काट सकेगी।

आओ, अपने स्वरूप को पहचानो; अपनी शक्तियों को जानो। तुम्हारे भय, तुम्हारी शङ्कायें सब काफूर हो जायेंगी, यदि तुम अपनी जाति के उच्च मिशन पर विश्वास करोगे। तुम्हारी बड़ी भारी कमजोरी तुम्हारा अविश्वास है—यही तुम्हारा कट्टर शत्रु है।

झुक कर मत चलो, अपना सिर ऊँचा करो। किसी से मत डरो; निर्भय, निश्शङ्क हो जाओ; तुम अमृत-पुत्र हो। स्मरण रखिए, 'आत्म-विश्वास' ही हमारे उत्थान की कुञ्जी है।

नारा बजा अकबरी जब चार कोने,
क्षत्री छिपा मुँह पड़े रनवास में थे;
बेहाल होकर लगे जब वीर रोने,
मेवाड़ का वह प्रताप उठा गदा ले।

('अनुभव' में से)

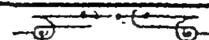


Self-trust is the essence of heroism. —*Emerson*

Trust thyself: every heart vibrates to that iron string." —*Emerson*

"Self-trust is the first secret of success." —*Emerson*

"All my hope for all my help is myself." —*Montaigne*



तेरहवाँ पुष्प

प्रेम-सन्देश

कभी उदास मत होवो। सदा आनन्दित रहो। उदास होने से शरीर रोगी और निर्बल हो जाता है। मानसिक व्याधियों से मनुष्य ग्रसित हो जाता है। ईश्वर ने हमें सब प्रकार की सामग्री दे दी है, हमारा काम उसका ठीक-ठीक उपयोग करना है। उसका ठीक-ठीक उपयोग उन्हीं लोगों से हो सकता है जिनकी बुद्धि ठिकाने रहती है। दुःखी रहने वाले लोगों की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती; वे ईश्वर-दत्त भोगों को काम में नहीं ला सकते। जो सदा प्रसन्न रहते हैं उन्हीं को प्रकृति का सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है।

क्या आप ईर्ष्या की आग से जल रहे हैं? यदि ऐसा है तो इस आग से दूर रहिए। यह आपको समूचा जला देगी। यह आपके जीवन को नरक बना देगी। इससे दूर रहना अच्छा है। दूसरे से ईर्ष्या क्यों? यह संसार बहुत बड़ा है। यहाँ आपके लिए काफ़ी जगह है। दूसरे के साथ ईर्ष्या-द्वेष कर आप अपनी हानि कर रहे हैं और अपना भविष्य बिगाड़ रहे हैं।

सब से प्रेम रखो

यदि आप से कोई द्वेष करता है तो भी आपको उससे प्रेम करना चाहिये, क्योंकि वह तो मानसिक व्याधि से ग्रसित है, उसकी दशा दया के योग्य है। यदि आपने भी द्वेष किया तो दोनों बराबर होगये; कोई भेद नहीं रहा। जब आप उससे प्रेम करेंगे तो आपके मन की प्रबल शक्तियाँ उस व्याधि-ग्रस्त आत्मा के ऊपर अपना प्रभाव डालेंगी और उसकी बीमारी का इलाज होना शुरू होगा। धीरे-धीरे उसका रोग हट

जायगा। वह बिल्कुल नीरोग होकर आपके प्रेम का भाजन बनेगा। यही परमात्मा की आज्ञा है; इसीलिए वे पापियों पर दया करते हैं। परमात्मा का यही आदेश है कि हम सबसे प्रेम करें।

सदा न्यायसंगत पथ पर चलो

हम अपनी आत्मा का हनन क्यों करते हैं ? किस के लिए ? हमारी भलाई इसी में है कि हम अपनी आत्मा के अनुकूल कर्म करें। हमें किसी का डर नहीं है। हम अमर हैं। हम भीरु नहीं बनना चाहते। हम कायर नहीं हैं। हम मनुष्य हैं। मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है कि वह सदा न्याय-पथ का अवलम्बन करे; धन के लोभ से खुशामदी न हो जाए; ख्याति की भूख उसे भीरु न बना दे। जीवन वही सार्थक है जो ईश्वर की आज्ञा पालन में खर्च होता है। ईश्वर हम सब का पिता है। वही हमारा राजा है; उसकी आज्ञा मानना हमारा कर्त्तव्य है। संसार के कष्टों की कुछ परवाह न करो; इनका वीरता से सामना करो। न्याय का पथ छोड़ने से ही हमारी यह दुर्दशा हुई है और उसका अवलम्बन करने से ही हमारा कल्याण होगा।



Knowledge is the parent of love ; wisdom, love itself.

What is love ? 'Tis nature's treasure,
'Tis the storehouse of her joys,
'Tis the highest heaven of pleasure,
'Tis a bliss which never cloys.



चौदहवाँ पुष्प

हिम्मत करो

आप उदास क्यों हैं ? चेहरा क्यों कुम्हलाया हुआ है ? उठो, हिम्मत करो !

जीवन शोक करने के लिए नहीं है। यह जिन्दगी काम करने के वास्ते है। अपने रास्ते में पड़ी हुई रुकावटों को देखकर घबरा मत जाओ। ये रुकावटें आपकी हितचिन्तक हैं। ये जीवन को उन्नत करने के साधन हैं।

इस संसार में प्रत्येक आत्मा का कोई-न-कोई उद्देश्य है। सर्वज्ञ कर्त्ता ने कोई वस्तु निरर्थक उत्पन्न नहीं की। इस महान यन्त्र का प्रत्येक पुरज़ा किसी अभिप्राय की सिद्धि के लिए है। सोचो, वह अभिप्राय कौन-सा है ?

यदि आपने उस अभिप्राय को जान लिया है और उसकी सिद्धि के हेतु आपको बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, तो भी विश्वास करो कि उन कठिनाइयों को दूर करने के साधन भी वहीं मौजूद हैं। उन साधनों को जानना, उनका ठीक-ठीक प्रयोग करना, उनके अनुसार कार्य सिद्ध करना, यही सच्चा जीवन है।

क्या आपने ऐसा किया है ?

यदि ऐसा किया होता तो कभी भी यह उदासीनता न आती। उदासीनता का आ जाना ही इस बात का प्रमाण है कि आपने अपने जीवनोद्देश्य को नहीं समझा। आप हिम्मत हारे बैठे हैं। संसार आपको दुःखमय बोध होता है। सब भाई, बन्धु, मित्र तथा यार आपको अपने शत्रु जान पड़ते हैं। आप जिधर दृष्टि उठाते हैं, कष्ट-ही-कष्ट दीख पड़ता है। निराशा आपको आत्मघात करने के लिए कहती है।

क्या इससे आपके दुःखों का अन्त हो जायगा ?

कभी नहीं। हरगिज़ नहीं। आप एक जगह से भागकर दूसरी जगह जाया चाहते हैं; लेकिन जहाँ आप जायंगे, अपने संकल्प-विकल्पों का चिट्ठा साथ ले जायंगे। वह आपको नहीं छोड़ेगा। आप जहाँ जायंगे, वहीं यह भूत आपके साथ जायगा। यदि स्वर्ग में आप पहुँच जायं, तो वहाँ भी नरक दिखाई देगा। आप इस भूत को पीछे नहीं छोड़ सकते। इस भूत को यहीं मार कर भगाना ठीक है। आप इस निराशा के जाल को यहीं काट सकते हैं। उदासीनता छोड़ ऊपर दृष्टि डालिये। अपनी आत्मा को इन निर्बलताओं से विमुक्त कीजिये। ईश्वर ने यह जीवन काम करने के लिए दिया है। इस जीवन का कोई ख़ास उद्देश्य है। उस उद्देश्य को जानिये। अपनी शक्तियों की पड़ताल कीजिये और उनका ठीक-ठीक उपयोग करना सीखिये।

स्मरण रखिये, रुकावटें और कठिनाइयाँ आपकी हितचिन्तक हैं। वे आपकी शक्तियों का ठीक-ठीक उपयोग सिखाने के लिए हैं; मार्ग के कण्टक हटाने के लिए हैं। वे आपके जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए हैं। जिनके रास्ते में रुकावटें नहीं पड़ीं, वे जीवन का आनन्द ही नहीं जानते। उन्हें जिन्दगी का स्वाद ही नहीं आया। जीवन का रस उन्होंने ही चखा है जिनके रास्ते में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ पड़ी हैं। वे ही महान् आत्मा कहलाये हैं। उन्हीं के जीवन, जीवन कहला सकते हैं।

उठो ! उदासीनता त्यागो। प्रभु की ओर देखो। वे जीवन के पुंज हैं। उन्होंने आपको इस संसार में निरर्थक नहीं भेजा। उन्होंने जो श्रम आपके ऊपर किया है, उसे सार्थक करना आपका काम है। यह संसार तभी तक दुःखमय दीखता है जब तक कि हम इसमें अपना जीवन होम नहीं करते। बलिदान हुए बीज पर ही वृक्ष का उद्भव होता है। फूल-फल उसके जीवन की सार्थकता सिद्ध करते हैं।

सदा प्रसन्न रहो। मुसीबतों का खिले चेहरे से सामना करो। "आत्मा सबसे बलवान् है", इस सच्चाई पर दृढ़ विश्वास रखो। यह विश्वास

'ईश्वरीय विश्वास' है। इस विश्वास द्वारा आप सब कठिनाइयों पर विजय पा सकते हैं। कोई कायरता आपके सामने ठहर नहीं सकती। इसी से आपके बल की वृद्धि होगी। यही आपकी आन्तरिक शक्तियों का विकास करेगा।

अतएव निर्भय होकर अपने जीवनोद्देश्य पर डट जाओ। किसी से भय मत करो, क्योंकि भय आपकी जीवनरूपी लकड़ी को घुन लगाता है और अन्दर-ही-अन्दर से खा डालता है। भय को निकट मत आने दो। यह बड़ा दुष्ट है। इसके वश में पड़ा हुआ मनुष्य निकम्मा हो जाता है। यह मनुष्य को नीच बना देता है। उसके मनुष्यत्व को नष्ट कर डालता है। जो आपको भय दिखाता है, समझो वह बड़ा स्वार्थी है। उसका अपना आत्मा निर्बलताओं से भरा हुआ है। उससे कभी मत डरो।

यह संसार आनन्द से पूर्ण है। उस आनन्द से वही आत्मायें लाभ उठा सकती हैं जिन्होंने जीवनोद्देश्य को समझ कर उसकी सिद्धि पर कमर बाँधी है। भीरु, कायर मनुष्य अपना शत्रु आप ही है। वह कठिनाइयों से भागना चाहता है, पर भाग नहीं सकता। रोता है, चिल्लाता है, इससे उसका दुःख और भी बढ़ता है। उसका जीवन कण्टकमय हो जाता है। वह जहाँ जाता है, अपने दुःख की गठरी साथ ले जाता है।

इसलिए दुःखों तथा कठिनाइयों का मर्द बनकर सामना करो। इनसे हरगिज मत डरो। ईश्वर पर सच्चा विश्वास रख अपने कर्तव्य पर आरूढ़ हो जाओ और अपने दूसरे निर्बल भाइयों को दृढ़तापूर्वक यह महामन्त्र सिखलाओ—"I will find a way or make one"—अर्थात् जब आपको किसी काम के करने में बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़े और कोई रास्ता दिखलाई न दे, उस समय आपके अन्दर से ही यह आवाज आनी चाहिये—"मैं रास्ता पा लूंगा या नया बना लूंगा।" ऐसे हिम्मती लोगों के लिए दुनिया में कोई काम असम्भव नहीं।

अपनी विजयों से उन्मत्त महावीर नैपोलियन बोनापार्ट जब इटली जीतने के लिए एल्प्स के दुर्गम पर्वतों को पार करने लगा तो उसके आगे

चलने वाले सेनानायकों ने मार्ग को असम्भव वतलाया। उस महा-पराक्रमी नैपोलियन ने हँसते हुए कहा—"असम्भव शब्द मेरी डिक्शनरी में नहीं है।" उसी कठिन कथन के अनुसार उसने रास्ता तैयार करवा लिया और उसी मार्ग से ही अपनी वड़ी सेना और तोपों के साथ इटली पर आक्रमण किया। यह है साहसी लोगों का मार्ग! भीरु और कायर वाधायें देखकर मैदान छोड़ जाते हैं। अतएव इस संसार में सिपाही वन कर वाधाओं का मुक़ाविला कीजिए और कभी भी हिम्मत न हारिये। चरित्र-संगठन का यह एक सर्वश्रेष्ठ गुण है।

भाई! सुनो मन लगाकर वात मेरी,
चाहो वने सफलता विन दाम चेरी;
लो मन्त्र-मोहन जपो—"विजयी वनेंगे!
आवें हज़ार विपदा तव भी लड़ेंगे।"
('अनुभव' में से)

सुर्खरू होता है इन्सान सख्तियाँ सहने के वाद।
रङ्ग लाती है हिना पत्थर पर घिस जाने के वाद॥



Presence of mind and courage in distress,
Are more than armies to procure success.

पन्द्रहवाँ पुष्प

कर्तव्य-पालन

यदि आप अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करने में लगे हुए हैं, तो फिर डर ही क्या है ? आपको हरगिज कभी घबराना नहीं चाहिए। मनुष्य का कर्तव्य यही है कि वह अपनी शक्ति के अनुसार काम करे, सब प्रकार की बाधाओं का सामना करने को उद्यत रहे। कभी भी सम्भव नहीं कि उसको कार्य में सफलता प्राप्त न हो।

फिर देखिए, शायद कहीं कर्तव्य-पालन में त्रुटि रह गई हो। त्रुटि के होने से ही ये सब बाधाएँ उपस्थित होती हैं। आप चाहते हैं कि शीघ्र ही आपका काम बन जाए और वह भी बिना पूरा उद्योग किये। भला ऐसा कैसे सम्भव है ? जिस प्रकार का काम हो, उसी प्रकार का उद्योग भी चाहिए। कठिन काम को दृढ़व्रती पुरुष ही कर सकते हैं। जिनकी गति मन्द है, जिनमें धैर्य और सहिष्णुता नहीं, वे भला कठिन काम कैसे कर सकते हैं ?

परेशान मत हूजिए। यदि एक बार काम नहीं हुआ तो यह आवश्यक नहीं है कि फिर भी वह न हो। उसके लिए दोबारा यत्न करना चाहिए। कभी काम को अधूरा न छोड़िए। काम को अधूरा छोड़ना ही निर्बलता का चिन्ह है और जब एक बार मनुष्य इस निर्बलता का शिकार हो जाता है तो धीरे-धीरे उसकी शक्तियां क्षीण होने लग जाती हैं। जिस काम को आरम्भ करो, उसको पूरा करो। इसलिए नहीं कि दुनिया हमारी प्रशंसा करे, बल्कि इसलिए कि हमारी आत्मा निर्बल न हो जाए। काम कैसा ही साधारण क्यों न हो, उसको कभी भी अधूरा न छोड़ना चाहिए। इससे दैवी गुणों का विकास होता है। काम आरम्भ कर उससे मुंह मोड़

लेना मनुष्य के आचार को बिगाड़ता है। यदि छोटे-छोटे कामों में सावधानी की जाय, तो मनुष्य बड़े-से-बड़े काम को भी पूरा कर लेता है। यह केवल अभ्यास पर निर्भर है। कर्मवीर वही लोग होते हैं जो पीठ दिखाना नहीं जानते। कार्यसिद्धि ही जिनके जीवन का आनन्द है वे ही हकीकत में अपना कर्तव्य पालन करते हैं।

यदि आप अपने जीवन में सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो इस बात का प्रण करें कि हम जिस काम को पकड़ेंगे उसे कभी भी अधूरा नहीं छोड़ेंगे। याद रखिए—"Where there is a will there is a way." अर्थात् जहाँ इच्छा बलवती होती है वहाँ पथ भी मिल जाता है। यह सिद्धान्त जिन मनुष्यों का है उनके लिए संसार में कोई भी काम कठिन नहीं है। जब कभी सफलता प्राप्त न हो तो हरगिज़ हिम्मत न हारिए; बल्कि सोचिए, विचारिए, अपनी त्रुटियों को देखिए; फिर दोबारा हिम्मत करके काम के पीछे पड़ जाइये। हमेशा प्रसन्नचित्त रहकर काम करने में मन लगाइये और यही देख लिया कीजिये कि क्या हम अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं ?

वह छोटा-सा लड़का कैसेबियंका अपने बाप की आज्ञा से जहाज़ के डैक पर एक कोने में खड़ा था। उसके पिता ने उसे हुक्म दिया था—"जब तक मैं तुम्हें न पुकारूँ, हरगिज़ अपनी जगह से मत हटना।" वह लड़का सिपाही की तरह अपनी जगह पर डट कर खड़ा रहा। अचानक जहाज़ को आग लग गई। चिनगारियाँ उड़ने लगीं और नीचे से लपटें निकलने लगीं, लेकिन वह बहादुर वहीं खड़ा था। आग धीरे-धीरे उसके नज़दीक आने लगी। लड़के ने अपने पिता को आवाज़ दी—"पिता जी, मैं आऊँ ?" परन्तु उसे कोई उत्तर नहीं मिला। आग तेज़ हो रही थी और उसकी ओर बढ़ रही थी। जब उससे एक गज़ के फासले पर रह गई, तब वह वीर बच्चा चिल्ला कर बोला—"पिता जी, आग मुझे जला देगी, इसलिए मुझे शीघ्र बुला लीजिए।" पर अफ़सोस ! उसका पिता जल चुका था, वह उत्तर कैसे देता ! आग निर्दयता से कैसेबियंका को

ओर बढ़ी, मगर वह निर्भय होकर अपनी जगह पर डटा रहा । अग्नि देवता ने उसे पकड़ लिया और अपनी गोद में लेकर उस बच्चे को आशीर्वाद दिया । उस जहाज पर बहुत से लोग जल गये होंगे, लेकिन कैसेबियंका-जैसा अमरत्व किसी ने नहीं पाया ।

उस घटना को आज कई सौ वर्ष बीत गए, लेकिन कर्तव्य-पालन और अनुशासन का यह दिव्य आदर्श लाखों बालकों को स्फूर्ति देता रहा है और भविष्य में भी देगा । प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक एफ० डब्ल्यू० राबर्टसन ने इस विषय पर कैसे सुन्दर भाव प्रकट किये हैं—

"To stand with a smile upon your face against a stake from which you cannot get away, that, no doubt, is heroic. But the true glory is resignation to the inevitable. To stand unchained, with perfect liberty to go away, held only by the higher claims of duty, and let the fire creep up to the heart, this is heroism."

अर्थात् कर्त्तव्यपालनार्थ यदि किसी व्यक्ति को जलते हुए खम्भे के साथ जंजीरों से बांध दिया जाये, जिससे वह भाग न सके, और वह व्यक्ति तिस पर भी अपने चेहरे पर कोई घबराहट न आने दे, नहीं-नहीं, वह मुस्कराता रहे, निश्चय ही ऐसा व्यक्ति बड़ा वीर और साहसी है । परन्तु अमरत्व पद उसका है जो अनिवार्य के सामने प्रसन्नता से डटा रहता है । उसके हाथों और पांवों में किसी प्रकार की जंजीरें नहीं; यदि वह चाहे तो भाग सकता है, लेकिन वह नहीं भागता, क्योंकि कर्त्तव्यपालन की पवित्र जंजीरों से वह जकड़ा हुआ है, यद्यपि खम्भे की जलती हुई आग की लपटें निर्दयता से उसे जला रही हैं । ऐसा नररत्न सचमुच वीरशिरोमणि है और उसे हम झुक कर नमस्कार करते हैं ।

सोलहवाँ पुष्प

व्यभिचारी कौन है ?

जिस समय कोई स्त्री, विधवा हो या सधवा, बुरी संगत से अथवा अज्ञानवश, अपने रूपलावण्य को बेचने के लिए बाज़ार में जाकर दुकान कर लेती है तो हमारे सभ्य-समाज में बेतरह शोर मचने लगता है । घर वालों तथा बिरादरी वालों की ओर से गालियों की बौछाड़ उस पर पड़ती है; पत्रों के सम्पादक उसको कोसने में अपनी सारी योग्यता खर्च कर देते हैं और ऐसे विह्वल हो उठते हैं मानो उन पर कोई बम का गोला गिरा हो ।

जिस समय कोई नवयुवक, क्वारा हो या गृहस्थ, कामान्ध होकर अथवा बहका हुआ, अपने धन को खर्च कर या काम का भूत बन कर क्षणिक सुख का दास बनता है तो समाज के चारों कोनों से "दुर ! दुर !!" की आवाज़ उठती है; उससे घृणा करने का उपदेश दिया जाता है; उसके अपराध को बहुत बड़ा बना कर आकाश-पाताल को एक किया जाता है ।

इन कोसने वाले स्वयम्भू नेताओं तथा सदाचार की डींग हांकने वालों से कोई कहे—"तुमको दूसरे की आंखों का तिनका तो बहुत बड़ा दिखाई देता है, पर अपनी आंखों का शहतीर भी नहीं सूझता ।" क्या उन्होंने कभी 'व्यभिचारी' शब्द के अर्थ पर पूर्णतया विचार किया है ? हमने मान लिया कि उपरोक्त दो भूलें ऐसी हैं जिनसे जाति के बच्चों की रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है, पर असल में जिनको पक्के दुराचारी और व्यभिचारी कहना चाहिये उनको तो आप अपने सिर पर उठाये हुए हैं । सुनिये, 'कामदेव' की ज़बरदस्त चोटों के आगे यदि कोई अज्ञानी

युवा भाग निकले, तो इसमें कोई आश्चर्य करने का स्थान नहीं। संसार में कोई ऐसा साहित्य नहीं जिसमें वसन्त ऋतु के महाराजा 'कामदेव' के लड़ाई-झगड़ों की गाथायें न हों। बड़े-बड़े ऋषियों को उसने चपतें लगाई हैं, पर इससे उनकी उच्चता में कोई बट्टा नहीं लगा। क्यों ? कारण यही है कि प्रकृति माता के राज्य में 'काम' की एक व्यापक शक्ति है, जिसका प्रभाव पुरुष तथा स्त्री पर उसके शरीर की बनावट के अनुसार, बरसाती पहाड़ी नदी की भांति, पड़ता है, जिसका वेग रोकने के लिए बड़े आत्मिक बल की आवश्यकता है।

भला वह स्त्री व्यभिचारिणी क्यों है जो मूर्खतावश अथवा सामाजिक अत्याचारों से तंग आकर बुराई का पथ अवलम्बन करती है ?

अथवा वह मनुष्य दुराचारी क्यों है जो हिन्दू-समाज में फैली हुई कुरीतियों (कन्याविक्रयादि) अथवा कुसंगवश अपने चरित्र को दूषित करता है ? ऐसे लोग तो हमारी दया के पात्र होने चाहियें; उनके साथ सच्ची सहानुभूति कर उनको धर्म का पथ दिखलाना उचित है।

अब प्रश्न उठता है—व्यभिचारी कौन है ? इस घृणारंजित शब्द से किसको सम्बोधन करना चाहिये ? कौन इसका उपयुक्त पात्र है ? इन प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट है। व्यभिचारी वह है जो प्राचीन अथवा अर्वाचीन शिक्षा की उच्च से उच्च पदवियों से विभूषित, वैज्ञानिक तर्कों से अलंकृत, ईश्वरदत्त शक्तियों से सुसज्जित अपनी असाधारण 'मानसिक सुन्दरता' को मण्डी में ले जाकर बेच देता है; जो रुपये की खातिर दूसरों का क्रीतदास बना हुआ अपनी आत्मा के विरुद्ध कहता है, बोलता है और सलाह देता है।

इसी का दूसरा नमूना देखिये। व्यभिचारी वह है जो बात-बात में धर्म की दुहाई देता हुआ चिल्लाता है, जो प्राचीन महापुरुषों के गुण गाता हुआ नहीं थकता, जो धर्म का ठेकेदार बनता है, पर जब किसी पापी बलवान् से काम पड़ जाता है तो झट उसके पाँव चूमने पर उतारू हो जाता है। असल में इस शब्द का व्यवहार उन मनुष्यों के लिए करना

चाहिये जो अपनी विद्या-बुद्धि को टके के लिए वेंच देते हैं, जो टका दे उसी के गीत गाते हैं। ऐसे मनुष्य देश और समाज के शत्रु हैं, वे घृणा के पात्र हैं। कारण यह है कि उनकी विद्या ज़हर बन कर सारे समाज में प्रवेश करती है और उनकी देखादेखी उनके पीछे आने वाली सन्तान भी उनके दोषों को ग्रहण कर लेती है। शिक्षित होने के कारण वे लीडर कहे जाते हैं और जो उनका अनुकरण करते हैं वे भी गढ़े में गिर जाते हैं। उनका कर्तव्य तो यह था कि अपनी विद्या-बुद्धि द्वारा आत्मिक शक्ति बढ़ा, सिंह बन कर, अपने पीछे चलने वालों को भी वीर बना देते, पर ऐसा न करके वे उलटा जाति को नपुंसक बनाते हैं। ऐसे ही लोगों द्वारा जाति का बल-वीर्य नष्ट हो जाता है। वेश्याओं की तरह, चमकने वाले आभूषण अर्थात् अपनी डिगरियां पहन कर, वे खूब फूले-फूले घूमते हैं और अपने आप को बड़ा सुन्दर बना कर दिखलाते हैं। पर जिनको आंखें हैं वे जानते हैं कि इन पापियों ने अपना मानसिक ब्रह्मचर्य्य नष्ट कर ये सब उपाधियां प्राप्त की हैं।

इसलिए स्मरण रखिए, किसी जाति का अधःपतन उस समय होता है जब उसके कुशाग्रबुद्धि विद्वान्, शिक्षित धीमान्, दिग्गज पण्डित, बड़े-बड़े नेता कहलाने वाले रण्डियों की भांति अपनी विद्या-बुद्धि को वेचने लग जाते हैं। उन्हें जहां अधिक रुपया मिलता है, वे वहीं जाकर मुजरा करने लगते हैं। जब यह दुर्दशा हो जाती है, तब उस जाति की रक्षा कोई नहीं कर सकता। भारत अपने सदाचार में आज भी किसी सभ्य जाति से पीछे नहीं। हमारी पतिव्रता स्त्रियों के सन्मुख दूसरे देशों की स्त्रियां पानी भरती हैं। परन्तु भारत में जैसा विद्या-बुद्धि का व्यभिचार होता है, वैसा और देशों में नहीं पाया जाता। यहां अधिकांश शिक्षित हीजड़ों की तरह हैं। उनमें आत्मिक बल का सर्वथा अभाव है। अपने सिद्धान्तों के लिए वे किसी प्रकार का भी बलिदान करने को तैयार नहीं हैं। इस कारण भारत नीचे पड़ा सिसक रहा है। यही हमारे अधःपतन का मुख्य कारण है। जब तक हमारे शिक्षित समुदाय में, धीमान्

बर्क (Burke) के शब्दों में—

"Chastity of honour which
feels a strain like a wound."

"गौरव की शुचिता जो लांछन को घाव की भांति अनुभव करे"—ऐसा आदर्श न आ जाय, तब तक हमारी दशा शोचनीय बनी रहेगी। जिस देश के शिक्षितों को अपनी 'लियाक़त' बेचने में लज्जा नहीं आती, जो छद्मवेषी हैं, उन से बढ़ कर पतित कौन होगा? पैसे-रुपये की खातिर वे सब प्रकार के कुत्सित कर्म करने को उद्यत हैं।

अमरीका के एक शिक्षित पुरुष, जोसफ़ रीड, अपने देशहित-साधनार्थ योरुप के किसी देश में गये थे। वहां के राजा ने उनको रिश्वत दे कर अपनी तरफ करना चाहा। जो मनुष्य ऐसे नीच कर्म का सन्देश रीड महोदय के पास लाया था, उसे कैसा उत्तर मिला, सुनिये—

"I am not worth purchasing, but such as I am, the king of your country is not rich enough to buy me."

"मैं गरीब खरीदने लायक नहीं हूँ, लेकिन जैसा मैं हूं, आपके देश का राजा मुझे खरीदने योग्य धन नहीं रखता।" ऐसे लोगों से देश का उत्थान होता है; ऐसे ही लोग सच्चे ब्रह्मचारी हैं। हमारे पढ़े-लिखों में ऐसे ब्रह्मचारियों का अभाव है। यहां तो ऐसे पढ़े-लिखों की भरमार है जो रिश्वत मिलने पर सब दुष्कर्म करने को उद्यत हो जाते हैं।

न्यूयार्क (अमरीका) शहर के समाचारपत्र 'न्यूयार्क टाइम्स' के सम्पादक जार्ज जौन्स को वहां के धनवान् लोगों ने कहा—"यदि आप हमारी बुराइयों के विषय में चुप रहें, अपने पत्र में न छापें, तो हम आप को तेंतीस लाख रुपया देंगे।" उस वीर ने ऐसे 'व्यभिचार' पर थूक दिया और उनकी अच्छी तरह पोल खोली। ऐसे ही लोग नवयुवकों के पथ-प्रदर्शक तथा जाति के नेता बनने योग्य होते हैं।

मेरे देश के प्यारे नवयुवको! आप अपने देश के धनलोलुप, स्वार्थी,

पुछल्लड़वाज तथा फोनोग्राफी शिक्षा वाले लीडरों के पीछे मत चलिये। ये लीडर नहीं; ये ही असली व्यभिचारी हैं। ये आपको अपनी तरह नपुंसक बना रहे हैं। आप अभी से अपना चरित्र सुधारिये, वीर्य्यरक्षा कीजिये, आत्मिक बल बढ़ाइये और सब से बढ़ कर अपनी विद्या-वुद्धि, योग्यता का सदुपयोग करना सीखिये। विद्या-वुद्धि को धन के लिए वेचना ही असली व्यभिचार है।



I slept and dreamed that life was beauty ;
I woke, and found that life was duty.



Character is higher than intellect. A great soul will be strong to live, as well as to think.



Unlearn'd, he knew no schoolman's subtle art,
No language but the language of the heart.
By nature honest, by experience wise,
Healthy by temperance and by exercise.



सत्रहवाँ पुष्प

पाप की चरम सीमा

यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ अमरीका के इतिहास में अरनल्ड का नाम ऐसा ही कलङ्कित है जैसा कि भारतवर्ष के इतिहास में राजा जयचन्द का। दुष्टता की चरम सीमा पर पहुँचने वाला भी इतिहास में प्रसिद्ध हो जाता है, क्योंकि उसका उदाहरण दूसरों को बुराई से दूर रहने का उपदेश देता है—खासकर ऐसी बुराई जो जाति अथवा देश को हानि पहुँचाने का करण बन सके। जयचन्द को सभी इतिहासज्ञ घृणा की दृष्टि से देखते हैं और आने वाली सन्तान उसके मुंह पर और ज़्यादह कालिख़ पोतेगी। उसने वह कुकर्म किया जो सभ्य मनुष्य कदापि नहीं कर सकता।

अमरीका के इतिहास में अरनल्ड भी ऐसा ही हुआ है। १७७६ में, जब अमरीका वालों ने स्वतन्त्रता के लिए युद्ध आरम्भ किया, सभी देशभक्त अपने अस्त्र-शस्त्र सँभाल कर रणभूमि में आ डटे। अरनल्ड भी देशभक्त बनकर ख्याति की इच्छा से फौज में भरती हुआ। दो-चार युद्धों में उसने बड़ी वीरता दिखाई। देश में उसकी प्रसिद्धि होगई। बस, फिर क्या था—वह फूल कर कुप्पा होगया। स्वनामधन्य जार्ज वाशिङ्गटन ने उसे एक विश्वासपात्र पद पर नियत कर दिया। यहाँ पर किसी कारण से रुष्ट होकर उसने अपने देश को शत्रुओं के हाथ बेचने का निश्चय कर लिया। सब तैयारी होगई, परन्तु ईश्वर को अमरीका की रक्षा करनी थी। अरनल्ड का भेद खुल गया। उसका भेद खुलने पर वह अपने एक मित्र से मिलने गया। उसके मित्र को अरनल्ड की विश्वासघातकता का पता मिल चुका था। उसने अरनल्ड को बेतरह फटकार कर कहा—

"अरे ट्रैटर, दूर हट जा, मैं तेरा मुंह देखना नहीं चाहता। पापी !

जिस जननी जन्मभूमि ने तुझे जन्म दिया है उसी के प्रति विश्वासघात ? जिसकी प्यारी गोद में बैठ कर तूने दूध पिया है, जिसके अन्न से तेरा यह शरार बना है, जिसका जलवायु तेरी नस-नस में व्याप्त है, उसी के प्रति यह कृतघ्नता ? दूर हो ! दूर हो चांडाल ! अपनी घृणित थोथनी को ले जाकर चुल्लू भर पानी में डुबो दे।

"अरे नराधम ! जिस धन के लिए तू यह निन्दनीय कर्म करता है, क्या उसको तू छाती पर उठा कर ले जायगा ? अरे देशद्रोही ! जिनकी तू खुशामद करता है, जिनके लिए तूने यह सब स्वांग रचा है, वे भी तुझ से घृणा करते हैं। अरे मूर्ख ! वे तेरा रत्ती भर विश्वास नहीं करते। तू किस भूल में पड़ा है ! अरे निर्लज्ज ! वे सब तेरी खिल्ली उड़ावेंगे और तुझको पाखाने के कीड़े से भी बदतर समझेंगे।

"रे नरपिशाच ! जिनका तू क्रीतदास बना है वे तेरे घोर शत्रु हैं। वे तुझे नरक में घसीट रहे हैं। अरे देशद्रोही ! अपनी माता के प्रति कृतघ्नता कर तेरा कहाँ ठिकाना लगेगा ?

"अरे मूर्ख ! सब पाप 'देशद्रोह' के पाप के सामने तुच्छ हैं। अरे पापिष्ठ ! क्या तुझे मालूम है कि ट्रेटर (traitor) इस शब्द में कैसी घृणा भरी हुई है ? इससे बढ़ कर कृतघ्नता हो नहीं सकती। यह कृतघ्नता की चरम सीमा है। देख ! अपनी ओर देख ! शीशे में अपनी शक्ल देख ! कोढ़ियों जैसा तेरा चेहरा है। जननी जन्मभूमि की फटकार तेरे माथे पर है। स्मरण रख, तेरे शरीर को कृतघ्नता के कीड़े नोच-नोच कर खा जायंगे। तेरे प्राण तड़प-तड़प कर निकलेंगे। भावी सन्तान तुमको याद कर कोसेगी, देशद्रोहियों की लिस्ट में तेरा नाम दर्ज होगा। तेरा वंश समूल नष्ट हो जायगा।

"जा, चला जा मेरे सामने से। तू मेरे घर की वायु को अपवित्र मत कर।"

यह है देश के प्रति विश्वासघात का परिणाम। सब जातियों के

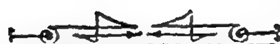
इतिहासवेत्ता अरनल्ड को धिक्कारते हैं, सारे संसार के लोग उस पर थूक रहे हैं। अमरीका के इतिहास में सका नाम काले अक्षरों में लिखा हुआ है।

अच्छा, तो देशद्रोह पाप की चरम सीमा क्यों ? सुनिए। एक होता है व्यक्तिगत पाप और दूसरा होता है समष्टि-सम्वद्ध पाप। जब कोई मनुष्य विषय-भोग के वशीभूत होकर अपने शरीर के साथ अत्याचार कर लेता है, तो वह उसका व्यक्तिगत अपराध है—वह उससे केवल अपनी ही हानि करता है। जब वह पुरुष कामान्ध होकर किसी स्त्री से बलात्कार करता है, तो वह उस नारी की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है, इसलिए उसका अपराध गुरुतर है। जब दो स्त्री पुरुष स्वेच्छा से काम-चेष्टा कर लेते हैं, तो उनका अपराध इतना गुरुतर नहीं माना जाता क्योंकि यह उनकी व्यक्तिगत बात होती है। जब कोई व्यक्ति झूठ बोलता है—ऐसा झूठ जिससे उसी की हानि हो, तो वह उसका व्यक्तिगत अपराध है। वह पुरुष इतना दण्डनीय नहीं माना जाता। परन्तु जब वह किसी जिम्मेदार पद पर नियुक्त होकर ऐसा झूठ बोल देता है जिससे स विभाग के साथ सम्बन्ध रखने वाले लोगों की हानि होती है, तो उसका अपराध गुरुतर माना जाता है। जब मनुष्य किसी के साथ वचनबद्ध होकर उस अपने वायदे को पूरा नहीं करता, तो वह अपनी साख खो देता है और हम उसे चरित्रभ्रष्ट कहते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति राग-द्वेष के वशीभूत होकर अपने इर्द-गिर्द के लोगों को हानि पहुँचाता है, उसे भी हम दुश्चरित्र कहते हैं।

लेकिन यदि कोई व्यक्ति अपने देश के साथ द्रोह करता है, अपनी जन्म-भूमि के प्रति विश्वासघात करता है, पैसे की खातिर उसकी मान-मर्यादा वेच देता है अथवा धन के लोभ से उसे अपने देश के शत्रुओं का गुलाम बनने में मदद देता है, तो उसका अपराध गुरुतर हो जाता है, क्योंकि उसके पाप से उस देश की करोड़ों आत्माओं को दुःख भोगना पड़ता है। जैसे शरीर में यदि किसी एक अंगुली के छोटे-से भाग में ज़हर

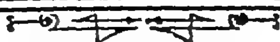
चढ़ जाय तो वह ज़हर सारे शरीर में व्यापक होकर उसका नाश कर देता है, ठीक इसी तरह देश-द्रोही मनुष्य का घृणित पाप सारे देश के लोगों को ग्रस लेता है। जैसे चतुर डाक्टर अंगुली के ज़हरीले भाग का काटने में ही शरीर का कल्याण समझता है, ऐसे ही देश के साथ द्रोह करने वाले को दूर करने में देश का भला माना जाता है और उसके उस अपराध को पाप की चरम सीमा कह कर देश के बच्चों को उससे बचने का उपदेश दिया जाता है। प्रत्येक देश के शुभ-चिन्तकों ने देश-द्रोह को सब पापों की खान बतलाया है और वहां के समाज के लोग देश के साथ विश्वासघात करने वाले से ऐसा दूर भागते हैं, ऐसे सावधान रहते हैं, जैसे काले नाग से।

स्मरण रखिए, देश-द्रोह से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं।



Is there not some chosen curse,
Some hidden thunder in the stores of heaven,
Red with uncommon wrath, to blast the man
Who owes his greatness to his country's ruin ?

A traitor to his country commits equal treason against mankind.



अट्ठारहवाँ पुष्प

धर्म का यथार्थ स्वरूप

आज-कल धर्म के विषय में संसार में बड़ी भ्रान्ति फैली हुई है। चिन्तनशील लोग यह कहने लगे हैं कि धर्म ही सब झगड़ों की जड़ है। उनकी शिकायत है कि जब से समाज का संगठन हुआ है, तब से ईश्वर और धर्म के कारण भयंकर मार-काट और युद्ध इस संसार में होते आये हैं। दूसरी लड़ाइयों से इतने आदमी दुनिया में नहीं मरे जितने धार्मिक झगड़ों के कारण मरे हैं। मुसलमान और ईसाइयों के बीच जो मज़हबी लड़ाइयाँ हुई हैं, उनके कारण जो भयंकर नरसंहार हुआ है, उसे इतिहास-वेत्ता भली प्रकार जानते हैं। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट, जो एक ही मसीहा, एक ही बाइबिल और एक ही खुदा के मानने वाले हैं, हिंसक पशुओं की तरह आपस में लड़ते रहे और उन्होंने एक दूसरे को जीता जलाया। आज भी ईसा की इस बीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के हिन्दू और मुसलमान मज़हबी मतभेदों के कारण कुत्ते-बिल्लियों की तरह आपस में लड़ते हैं। सन् १६२४ में बम्बई के दंगे के कारण कितना भारी उत्पात होगया, कितना वैमनस्य देश में बढ़ा, इससे सभी पढ़े-लिखे परिचित हैं। हमारे नवयुवक अत्यन्त दुःखित होकर यह कहने लगे हैं कि जब मज़हब और ईश्वर को ताक में रख दोगे, तभी देश समृद्ध होगा। इस धर्म के पचड़े ने ही हिन्दुओं के सैकड़ों टुकड़े कर दिये हैं और मज़हब का यही ढकोसला हिन्दू-मसलमानों को एक नहीं होने देता। इस प्रकार की बात आज हमारे कानों में बराबर सुनाई पड़ रही है।

ऐसे ही रूस में मज़हब का अन्त करने के लिए पिछले दिनों एक बड़ी भारी कान्फ्रेन्स हुई थी। वहाँ के लोग ईश्वर और धर्म का नामो-

निशान दुनिया से मिटा देना चाहते थे, ताकि संसार में भ्रातृ-भाव और स्वतन्त्रता फैल सके। संसार में सभी देशों के साम्यवादी इस धुन में हैं कि मज़हब ने जो ज़बरदस्त बाधायें मानवीय विकास के मार्ग में खड़ी कर दी हैं, वे अब हटा दी जायें और मज़हब के ठेकेदार समूल नष्ट कर दिये जायें।

निस्सन्देह इस क्रान्ति के युग में पक्षपात छोड़कर धर्म के सम्बन्ध में विचार करने का समय आ गया है। आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने इस सम्बन्ध में बड़ी भारी खोज की थी और वे इस परिणाम पर पहुंचे थे कि मनुष्य का जीवन ही मुख्य चीज़ है और दुःखों की निवृत्ति पूर्ण संयम से हो सकती है। जो इच्छाओं को जीत लेते हैं और जीवन को पवित्र बनाते हैं, वही सच्चे धार्मिक हैं। उस काल में भगवान् बुद्ध के पुरुषार्थ से एशिया में अद्भुत जागृति हुई थी। बड़े-बड़े विश्वविद्यालय भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में स्थापित हुए थे, जहाँ दूर-दूर देशों के हज़ारों विद्यार्थी बौद्ध-धर्म की शिक्षा ग्रहण कर अपने को धन्य मानते थे। बौद्ध-विहारों में जनता की सेवा करने वाले भिक्षु तपस्वियों का जीवन व्यतीत कर धर्म का यथार्थ स्वरूप समझाते थे। उस काल की गाथायें और नर-नारियों के चरित्र आज भी हमें आश्चर्य में डाल देते हैं। संसार के उस सबसे पहले क्रान्तिकारी गौतम बुद्ध ने धर्म के द्वारा होते हुए अनाचारों को देखकर ही मध्यम पथ का झण्डा उठाया था।

तब से आज तक कितना पानी पुलों के नीचे से गुज़र गया है। नये-नये आचार्य, मसीहा, पैग़म्बर, पीर, सन्त और फ़क़ीर धर्म-सम्बन्धी अपना-अपना सन्देश लेकर आये। कितने नये-नये प्रकार के सम्प्रदाय तब से अब तक संसार में चल गये, परन्तु जनता अन्धकार से न निकली और न संसार को सुख और शान्ति की ही प्राप्ति हुई। शताब्दियों के बाद आज भगवान् बुद्ध की तरह सैकड़ों चिन्तनशील जिज्ञासुजनों के हृदयों में प्रचलित मज़हबों तथा सम्प्रदायों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न

हो गया है और वे भी धर्म के नाम पर होते हुए घोर पापों के विरुद्ध संग्राम करने के लिए खड़े हुए हैं।

सत्य बात यह है कि बौद्ध-कालीन कुछ प्रभावशाली भिक्षुओं ने बौद्ध-धर्म को सम्प्रदाय का रूप देकर उसकी उपयोगिता को घटाना आरम्भ कर दिया था। तब से सम्प्रदायों को ही धर्म समझने की परिपाटी संसार में चल निकली। यदि भगवान् बुद्ध के बनाये हुए धर्म-पथ को पीछे आने वाले जिज्ञासु और अन्वेषक विशाल बनाते रहते और "अपनी-अपनी ढफली, अपना-अपना राग" की उक्ति को चरितार्थ न करते तो आज संसार अनन्त ज्ञान के पथ पर अग्रसर हुआ होता। अब हुआ यह कि सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों को ही पूर्ण पुरुष मानकर उनके भक्तों द्वारा कही हुई मिथ्या कथायें और रूढ़ियाँ ही सच्चे धर्म के रूप में परिणत हो गई हैं। धर्म के अन्वेषण का द्वार बन्द कर अपने-अपने पीर-पैग़म्बरों, मसीहाओं और सन्तों-महन्तों के नाम की दुकानें खोल ली गई हैं और सब अपने-अपने ग्राहक बढ़ाने के लिए लड़ाई कर रहे हैं।

क्या हम संसार में ईश्वर और मज़हब के नाम पर दूकानदारी करने के लिए आए हैं? रात के समय आँखें उठाकर निर्मल आकाश की ओर देखिये। यदि अँधेरी रात है तो आपको आकाश में चमकते हुए हज़ारों तारागण दिखाई देंगे। आप इनके विषय में क्या जानते हैं? कुछ नहीं। कितना अनन्त ज्ञान हमारे जानने के लिए है और कैसी शून्यवत् हमारे ज्ञान की पूँजी है! हम इस संसार में सत्य, शिव और सुन्दर की खोज के लिए आए हैं। इस ब्रह्माण्ड में हमें उसी की खोज करनी है और प्राकृतिक बन्धनों से मुक्त होकर सच्ची स्वतन्त्रता का मज़ा चखना है।

ऐसा न कर हम सम्प्रदायों के तङ्ग दायरे में फँसकर अपने इर्द-गिर्द ईंटों की दीवारें खड़ी कर लेते हैं और वहीं ईश्वर की खोज करने लगते हैं। तब हमारी मानसिक अवस्था ऐसी पतित हो जाती है कि हम ईश्वर के आदर्श को भूलकर मन्दिरों, मस्जिदों और गिर्जों के लिए लड़ने लगते हैं। हम जानते हैं कि मस्जिद की टूटी हुई दीवार फिर बनाई जा सकती

है, लेकिन मरा हुआ मनुष्य या स्त्री फिर जीवित नहीं किया जा सकता। सम्प्रदाय के कीचड़ में फँसकर हमारी बुद्धि ऐसी मन्द हो जाती है कि हम अपने ईंट-पत्थरों के मन्दिर की खातिर ईश्वर के बनाये हुए उस मन्दिर को तोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं जिसे हम दुबारा नहीं बना सकते। हमारा पतन कितना गहरा हो जाता है ! मस्जिद के ईंट-पत्थर हमें खुदा की बनाई हुई चीज़ों से अधिक प्यारे लगने लगते हैं। हमने खुदा का रास्ता छोड़ दिया है और ईंट-पत्थरों का रास्ता पकड़ लिया है। खुदा की तलाश करने वाले धार्मिक लोग मन्दिर, मस्जिद और गिर्जे नहीं बनाया करते, क्योंकि वे जानते हैं कि ये भेद को बढ़ाने वाली चीज़ें हैं। हमें तो वह धर्म चाहिए जो हमारे भेद-भाव को दूर करे और मनुष्य को मनुष्य से मिलावे। सम्प्रदाय और मजहबी इमारतें मानव-समाज की फूट को बढ़ाने वाली हैं। हमें इनके सदुपयोग का तत्काल प्रबन्ध करना चाहिए। मन्दिरों को पुस्तकालयों और व्यायामशालाओं के लिए काम में लाइए; मस्जिदों को व्याख्यान-भवन बनाइए और गिर्जों में सङ्गीतालय स्थापित कीजिए। फिर देखिए कि आपके भेद-भाव कितनी जल्दी दूर भागते हैं। जो आदमी हमारी मस्जिद, हमारे मन्दिर, गिर्जे अथवा गुरुद्वारे में आ जाता है, उसे हम अपना मानने लगते हैं और जो हमारे इन पूजा-स्थानों में हमारे साथ सम्मिलित नहीं होता उसे हम अपने से अलग समझते हैं।

जब थियोसोफिकल सोसायटी के जन्मदाता कर्नल अलकाट और मैडम ब्लेवट्स्की ने संसार के सामने विश्व-बन्धुता की घोषणा की थी और कहा था कि हमारी सोसायटी में सब मजहबों के लोग आकर सम्मिलित हो सकते हैं, तब वे विश्व-बन्धुता के मार्ग से दूर हट गये थे और उन्होंने अपना एक नया सम्प्रदाय खड़ा कर लिया था। मिसेज बीसेंट ने उस सम्प्रदाय की वृद्धि के लिए जी-जान से कोशिश की और सभ्य संसार को क़ाबू में करने के लिए बालक कृष्णमूर्त्ति को प्रभु मैत्रेय का अवतार बनाया। आगे चलकर उसी कृष्णमूर्त्ति ने विश्व-बन्धुता के शत्र

उस जाल को काट कर फेंक दिया और संसार को यह बतलाया कि सत्य के जिज्ञासु सम्प्रदाय नहीं बनाया करते। मैं उस समय कोलोन (जर्मनी) में था। जिस समय मैंने श्री कृष्णमूर्त्ति जी के उन वाक्यों को पढ़ा, मेरा हृदय अत्यन्त प्रसन्न हुआ। मैंने अपने मन में कहा, "जो मार्ग मैं वर्षों से पकड़े हुए हूँ उसी को श्री कृष्णमूर्ति ने अपने अनुभव से ढूँढ निकाला है।"

अब सोचना यह है कि धर्म के विषय में इतने भ्रम, इतनी असम्भव बातें, इतना मायाजाल और इतना अन्धविश्वास क्यों फैल जाता है। क्या धर्म को समझने के लिए किसी पैगम्बर अथवा मसीहा पर ईमान लाने की जरूरत है ? क्या निघण्टु और निरुक्त पढ़े बिना धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता ? यदि धर्म की खोज के लिए संस्कृत का विद्वान होने की जरूरत है अथवा अरबी का बड़ा मौलवी बनने की आवश्यकता है तो ऐसा धर्म जरूर ही साधारण जनता में फूट फैलाने का कारण होगा, क्योंकि वे संस्कृत के पण्डित और अरबी-फारसी के मौलाना अपनी-अपनी इलहामी किताबों का मनमाना अर्थ कर मूर्ख जनता को बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा कर सकते हैं। साधारण स्त्री-पुरुष को इतनी फुर्सत कहाँ है कि वे इन कठिन भाषाओं के ज्ञाता बन सकें ! वे सदा दूसरों पर निर्भर रहेंगे। धर्म तो ऐसा चाहिए कि जिसे मामूली आदमी भी जान सके, जिस के लिए बड़े-बड़े पोथे न पढ़ने पड़ें, जिसके लिए मौलवी-मुल्लाओं की खुशामदें न करनी पड़ें। वही धर्म सच्चा और उपयोगी है जो जनसाधारण को अपने पाँव के बल खड़ा करता है और उसमें आत्म-विश्वास भरता है। धर्म व्यक्ति के अपने अनुभव की चीज है, पोथी-पन्ने और अन्ध-विश्वास की वस्तु नहीं। अपने साधारण व्यवहार में जब हम यह देखते हैं कि अमुक काम करने से हमारी उन्नति में बाधा पड़ती है, हमें दुःख मिलता है, हमारा बिगाड़ होता है तो हमें उन कामों को अधर्म समझना चाहिये और उनके करने से सदा बचना चाहिये। भगवान बुद्ध का धर्म इसीलिए लोकप्रिय होगया क्योंकि उन्होंने जनसाधारण की आवश्यक-

ताओं, उनके नित्य के व्यवहार और उनके पारस्परिक सम्बन्ध के अनुसार धर्म की व्याख्या की। दर्शन-शास्त्रों के बड़े-बड़े जटिल प्रश्नों को उन्होंने उन पर नहीं लादा। वे भली प्रकार समझते थे कि साधारण मनुष्य को इस बात की कोई परवाह नहीं कि दुनिया दस हजार वर्षों में बनी अथवा दस लाख में; ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन अलग-अलग पदार्थ हैं अथवा एक ही; वृक्षों में जीव है या नहीं; उसे तो नीरोग जल-वायु, अच्छा भोजन और पहनने को कपड़ा चाहिये।

मनुष्य सत्य और न्याय का जीवन चाहता है। जब वह उनसे सन्तुष्ट हो जाय, तब उसे दूसरी बातों के सोचने की फुर्सत मिल सकती है। असल में बात यह है कि धर्म तो धारण करने की चीज है, अन्धविश्वास और वाद-विवाद की नहीं। स्वामी रामतीर्थजी ने इसे नकद धर्म कहा है। झगड़े नकद धर्म के लिए नहीं होते, बल्कि उधार धर्म के लिए होते हैं। जो दूसरों का उधार खाये बैठे हैं और देने का नाम नहीं लेते, उन्हीं से जब नकद धर्म दिखलाने के लिए कहा जाता है, तब वे झगड़े फैलाते हैं। आज तक किसी शास्त्रार्थी पण्डित और दङ्गली मौलवी-मुल्ला ने जन-साधारण में कोई रचनात्मक कार्य नहीं किया। ऐसे लोग केवल फसाद का बीज बो देते हैं और जन-साधारण में व्यर्थ का क्षोभ फैलाते हैं। इन लोगों के द्वारा कभी कोई बड़ा सुधार अथवा कोई नैतिक क्रान्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ये लोग केवल वितण्डा और शब्द-जाल का मायावी रूप दिखलाकर ही अपना नाटक खेलते हैं।

हाँ, जितने सुधारक, महापुरुष, अवतार तथा पीर और पैगम्बर आते हैं वे केवल अपने युग के निर्माता होते हैं, सभी कालों के निर्माता नहीं होते। वे अपने इर्द-गिर्द की बिगड़ी हुई परिस्थितियों को देखकर व्याकुल हो उठते हैं, जन-साधारण का दुःख उन्हें चिन्तित करता है, तब उनके धार्मिक गुणों की ज्योति जगमगाने लगती है और वे फैले हुए अन्धकार को दूर कर देते हैं। उनका नकद धर्म ही उनकी सम्पत्ति है, जो उस काल की समस्याओं को हल करने में सहायक होती है। हमें उनका बन्य-

बाद उनकी उतनी सेवाओं के लिए अवश्य करना चाहिए और उनके गुणों का बखान करना चाहिए, परन्तु उनके सारे जीवन का बोझा अपनी पीठ पर लादना उचित नहीं। वे भङ्गियों का काम करते हैं और संसार की सफ़ाई कर पापी मनुष्यों के कूड़े-कचरे को दूर कर देते हैं, ताकि मनुष्य उन्नति कर सकें। हमें उनके इस उपकार को मानना चाहिए, लेकिन उन्हें पकड़कर बैठ नहीं जाना चाहिए।

बात तो यह है कि मैं एक सत्य का जिज्ञासु हूँ जो प्रभु के अनन्त ज्ञान की खोज में विकास-पथ पर बढ़ रहा हूँ। रास्ते में मुझे कोई मौलवी मिलता है; वह पूछता है, "कहाँ जा रहे हो ?" मैं उत्तर देता हूँ, "सत्य ज्ञान की खोज में।" वह कहता है, "मेरे पास पूरा ज्ञान है; आओ, मैं तुम्हें सुनाऊँ।" मैं उसके पास खड़ा हो जाता हूँ। उसकी बातें सुनता हूँ। जब वह कहता-कहता थक जाता है, तब मैं आगे चलने की तैयारी करता हूँ। वह मुझे रोक कर पूछता है, "कहाँ जाते हो ?" मैं उत्तर देता हूँ, "तुम्हारे पास जो-जो अच्छी बातें थीं, मैंने अपनी झोली में डाल लीं। तुम तो बैल की तरह खूँटे से बँधे हुए हो और उसी के इर्द-गिर्द घूमते हो। मैं बैल नहीं हूँ, बल्कि स्वतन्त्र मनुष्य हूँ, इसीलिये आगे बढ़ा जा रहा हूँ।"

इस प्रकार का रुख सत्य के प्रत्येक जिज्ञासु को रखना चाहिए। उसे कभी भी यह समझना उचित नहीं कि उसने सब कुछ जान लिया है या उसके पास पूरे ज्ञान से भरी हुई पुस्तक मौजूद है। उसे फलदार वृक्षों की तरह बनना चाहिए, जो फलों के पकने पर झुक जाते हैं। विद्या विनय देती है। जितना अधिक ज्ञान मनुष्य को होता है, उतना ही वह अपनी लघुता समझने लगता है।

अतएव धर्म के लिए झगड़े तभी होते हैं जब हम पीर-पैगम्बरों, गुरु-अवतारों को सर्वज्ञ मानकर बैठ जाते हैं और अपनी पुस्तकों को ज्ञान का भण्डार बतलाकर दूसरों का तिरस्कार करते हैं। प्रभु का ज्ञान अनन्त है, वह किसी जाति और व्यक्ति विशेष के लिए नहीं, वह केवल अधिकारी

के लिए ही है। कभी भी धर्म को साम्प्रदायिक रूप मत दीजिए। कभी भी पीर, पैगम्बर, गुरु और अवतार का बोझ अपने सिर पर मत लादिए। उनके शुद्ध नैतिक गुण ही धर्म के लक्षण हैं। बस, उन्हीं को धारण कीजिये। बाकी सब फालतू बातों को छोड़ दीजिए। हमारा पैगम्बर बड़ा, तुम्हारा मसीहा छोटा, हमारा अवतार सर्वश्रेष्ठ और तुम्हारा गुरु अनपढ़, इस प्रकार की बच्चों जैसी बातें करना मूर्खता है। जैसे बच्चे मिट्टी की चीजें बनाकर आपस में झगड़ा करते हैं, ऐसे ही वे लोग भी हैं जो अनेक महापुरुषों, गुरुओं और पैगम्बरों का बोझ लादे हुए एक दूसरे से लड़ते हैं।

संक्षेप में धर्म का स्वरूप यह है कि जिन नियमों और सद्गुणों से समाज में हम एक-दूसरे के साथ प्रेमपूर्वक रह सकते हैं, जो बातें हमें आपस में लड़वाती नहीं, जिन गुणों के कारण मनुष्य में सेवा और बलिदान की भावना जागृत होती है और जो व्यक्ति तथा राष्ट्र को अभ्युदय की ओर ले जाते हैं, वही धर्म के सच्चे लक्षण हैं। जब आपका यह लोक सुधर जायेगा, जब आपके द्वारा समाज उन्नत अवस्था को पहुंचेगा और जब आपका अपना जीवन शान्ति और सुख से ओत-प्रोत होगा, तब आप निश्चय जानिये कि आपको धर्म का पथ मिल गया है। आप अपने नित्य के व्यवहार में आत्म-परीक्षा कीजिये कि आप के किसी काम से दूसरे की हानि, किसी को पीड़ा अथवा किसी की उन्नति में बाधा तो नहीं पहुँच रही है। चलते-फिरते, सोते-जागते और उठते-बैठते सदा अपने कामों की जाँच करते रहिये। तब आप देखेंगे कि धर्म हमारे अन्दर छिपा हुआ है, जिसे हमें अपने बाहर के व्यवहार द्वारा साक्षात्कार करना है। धर्म का यह स्वरूप संसार में सदा विद्यमान रहेगा; इसका नाश होने से समाज का संगठन, उसकी उन्नति और विकास नष्ट हो जायेंगे। इसे किसी भयंकर बोलशेविजम अथवा साम्यवाद से भय नहीं। यह नित्य और अमर है।

"A great man is great in his age, not for all ages."

—*Deva Duta.*

इँगलैंड का पढ़ा हुआ, रोज सन्ध्या करने वाला सनातनधर्मी सज्जन है। ऐसे उदाहरण इस अभागे देश में आये दिन मिलते हैं। पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ऐसे सुशिक्षित लोगों में क्यों सत्य के प्रति निष्ठा नहीं होती ? क्यों उनमें शुद्ध विचार (right thinking) का अभाव हो जाता है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। शुद्ध विचार करने की शक्ति किसी भाषा का पण्डित हो जाने अथवा किसी विद्या में व्युत्पन्न होने से ही नहीं आ जाती; इसका सम्बन्ध मनुष्य के धार्मिक विकास के साथ है। तीन कारणों से व्यक्ति प्रायः विकृत मस्तिष्क के हो जाते हैं।

स्वार्थपरता

पहिला कारण स्वार्थपरता का स्वभाव है। स्वार्थी मनुष्य शुद्ध विचार नहीं कर सकता। वह चाहे कितना ही पण्डित क्यों न हो, उसके विचार करने की शक्ति उसके स्वार्थ के वशीभूत हो जाती है। वह जब भी कोई बात कहेगा या करेगा, तो सदा अपने स्वार्थ को सामने रखेगा। विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ मस्तिष्क के किसी कोने में धरी रहेंगी, दर्शनों का पाण्डित्य बकवाद का रूप धारण कर लेगा और उसका सारा पढ़ा-लिखा स्वार्थ के रंग में रंगा जायेगा। अतएव शुद्ध विचार के लिए निःस्वार्थ भावना का विकास अत्यन्त आवश्यक है। स्वार्थी पण्डित अथवा प्रोफेसर की सम्मति का दो कौड़ी भी मूल्य नहीं। जैसे वेश्या अपने सौन्दर्य को धन के लिए बेच देती है, ऐसे ही ये लोग विश्वविद्यालयों में प्राप्त की हुई योग्यता को धन के लिए बेच देते हैं। वेश्याओं की तरह वे मण्डियों में बैठे हैं और कोई भी धनवान् धन देकर उन्हें खरीद सकता है।

इसलिए भूल कर भी कभी किसी स्वार्थी विद्वान् के कथन को प्रामाणिक नहीं मानना चाहिये। संसार में इसीलिए इतना दुःख फैला हुआ है कि इसमें स्वार्थत्यागी व्यक्तियों का अभाव है। जिन्हें हम दिग्गज विद्वान् समझकर बड़ा मानते हैं, जिनके प्रति उनके पाण्डित्य के कारण हमारी श्रद्धा है और जिनकी लच्छेदार भाषा सुनकर हम मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं,

उन पर जब स्वार्थ का भूत सवार होता है तो उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

कायरता

मस्तिष्क को विकृत करने वाली दूसरी वस्तु है कायरता। जो मनुष्य बुजदिल है, भय ने जिसके हृदय को पकड़ लिया है, और जो साहसहीन है, उसे शुद्ध विचार का दैवी गुण नहीं मिल सकता। कितना ही विद्वान् क्यों न हो, यदि वह डरपोक है तो उसकी विद्या का कोई भी मूल्य नहीं। भय उसके सारे शरीर में व्यापक होकर उसे हीजड़ा बना देता है और उसका मस्तिष्क विकृत होकर अंडबंड बकने लगता है।

यद्यपि वैद्यों और डाक्टरों ने हैज़ा, प्लेग और क्षय रोग को मानव तन के लिए अत्यन्त भीषण बतलाया है, परन्तु हमारे विचार में भय ही सब व्याधियों का मूल है। कायर मनुष्य जब भय से ओत-प्रोत हो जाता है, तो सब प्रकार के कीटाणु उस पर हमला करते हैं। अपने चारों ओर उसे भूत दिखाई देने लगते हैं और वह पग-पग पर बीमारियों का शिकार बन जाता है। आत्म-दर्शन के मार्ग में तो भय सबसे बड़ी रुकावट है। जो लोग यह समझते हैं कि जीवन-संग्राम की कठिनाइयों से बचकर वे प्राणायाम अथवा किसी गुरु द्वारा मोक्ष प्राप्ति कर सकेंगे, वे भारी भूल में पड़े हुए हैं। हमारी तो यह धारणा है कि कायर मनुष्य की आत्मा का विकास सदा के लिए बन्द हो जाता है। अतएव यदि आप अपनी उन्नति चाहते हैं, अपने शब्दों में बल भरने की इच्छा रखते हैं, यदि आपको शुद्ध विचार की चाह है, तो अतिशीघ्र भय को दूर भगाइये और निर्भयता का कवच धारण कीजिये; तभी आपको विकास-पद मिल सकेगा।

अंधविश्वास

तीसरी बड़ी रुकावट जो शुद्ध विचार की शत्रु है, वह है अंधविश्वास। जब हम मजहबी अन्धविश्वासों में पड़ जाते हैं, जब हम अपनी बुद्धि को दूसरों के सुपुर्द कर देते हैं और हम में पक्षपात आ जाता है, तब हमारा

मस्तिष्क अत्यन्त विकृत हो जाता है—हम दीवाने हो जाते हैं। यही कारण है कि मजहबी दीवाने लोग दूसरों के बहकाने पर अपने भाई मनुष्य की हत्या सहज में कर डालते हैं। उन्हें तनिक भी दया नहीं आती, वे हिंसक पशु की तरह दूसरों पर झपटते हैं, उनकी बुद्धि भी अपना कार्य करना छोड़ देती है। वे आसानी से बहकाये जा सकते हैं और बहकावट के वश में ऐसी-ऐसी बातें कर देते हैं जिन्हें देखकर बड़ा आश्चर्य होने लगता है।

यही कारण है कि विश्वविद्यालयों में पढ़े हुए बड़े-बड़े विद्वान् और संस्कृत के धुरन्धर आचार्य साधारण बुद्धि की बातों में भी बड़ी-बड़ी फिलोसोफी लड़ाया करते हैं। बचपन से ही उन्हें माता-पिता अन्धविश्वास की शिक्षा देते हैं। वह बुद्धि-विपरीत शिक्षा आगे चलकर उनके मस्तिष्क को अत्यन्त विकृत बना देती है। जिस ज्ञान द्वारा उन्हें जीवन-समस्याओं की गुत्थियाँ सुलझानी चाहिए थीं, उसी ज्ञान द्वारा वे वितण्डावाद करने लगते हैं और सत्य-पथ से दूर हटते चले जाते हैं।

सचमुच अन्धविश्वास मानवता का विकट शत्रु है। लोग इसके वशीभूत होकर देवी-देवताओं के सामने छोटे-छोटे बच्चों तक की बलि कर डालते हैं; दूसरों के अधिकार छीनकर उनके साथ अत्यन्त कुत्सित व्यवहार करते हैं और यहाँ तक कि वे अपने ही भाई मनुष्यों को देव-दर्शन के लिए मन्दिरों में भी जाने नहीं देते—पानी पीने के लिए कूंओं पर भी नहीं चढ़ने देते।

उपरोक्त तीनब ड़े शत्रु ऐसे हैं जो शुद्ध विचार और सत्य-जिज्ञासा के मार्ग में भीषण कण्टक हैं। मनुष्य-जन्म पाकर जो व्यक्ति इसे सार्थक करना चाहता है उसे इन तीन रिपुओं से सदा दूर रहना चाहिए। आपकी सब विद्या, सारा ज्ञान, सारा पांडित्य धूल में मिल जायेगा यदि आप निपट स्वार्थी, डरपोक और अन्धविश्वासी हैं।



"Cowards die many a time before their death."

वीसवाँ पुष्प

राष्ट्र-शक्ति-स्रोत

इस पुस्तक का नाम हमने 'ज्ञान के उद्यान में' रक्खा है। ज्ञान के इस उद्यान में चरित्र-संगठन का कुञ्ज पहले क्यों आया ? वह इसलिए कि कोई भी समाज चरित्र-हीन नर-नारियों द्वारा शक्तिशाली नहीं बन सकता। जो कुछ भी उन्नति हम करना चाहते हैं, वह तभी हो सकती है जब कि हमारा समाज सच्चरित्रता से ओत-प्रोत हो जाए। प्राचीन काल के यूनानी और भारतवर्ष के आर्यों ने इस विषय पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया था। यूनानियों ने जब अपने राष्ट्र की बुनियाद डाली और नागरिकता के आदर्श को खड़ा किया, तो उन्होंने अपने नागरिकों के लिए चार बातें मुख्य रखीं। स्वतन्त्र नागरिक की पहचान क्या है ? यूनान के दार्शनिक इसका उत्तर निम्न प्रकार से देते हैं।

यूनान का स्वतन्त्र नागरिक बनने के लिए सब से पहला गुण आरोग्यता माना जाता था। जो रोगी है वह नीरोग विचार धारण नहीं कर सकता, फिर भला वह सच्चरित्र कैसे रह सकेगा ? इसलिए यूनानी राष्ट्र अपने नागरिकों के लिए व्यायामशालाएं स्थापित कर उनका उत्साह बढ़ाता था और प्रत्येक वर्ष भिन्न-भिन्न नगरों में दङ्गल करवा कर सफल खिलाड़ियों को पुरस्कार देने का प्रबन्ध करता था, ताकि राष्ट्र-शक्ति बढ़े।

इसी प्रकार यूनानी विद्वानों ने अपने स्वतन्त्र नागरिकों को सौन्दर्य्य अर्थात् सुव्यवस्था (Harmony) की भी शिक्षा दी थी। नीरोग होना चाहिए, लेकिन साथ ही सौन्दर्य्य का उपासक भी बनना उचित है। जाति के बच्चों को चरित्रवान् बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उनके जीवन

के प्रत्येक विभाग में सुव्यवस्था और सुगढ़पन हो। आपके पास जो भी चीज़ हो, वह सुन्दर सुडौल हो, उसमें वेढंगापन न हो। इसी कारण यूनानियों ने अपने काल में स्थापत्य-कला में अद्‌भुत उन्नति की थी। उनके शिल्पियों की घड़ी हुई मूर्त्तियाँ आज भी संसार के लिए आदर्श हैं। जब मनुष्य की आत्मा कला के गम्भीर समुद्र में गोते लगाने लग जाती है, तब बुराइयाँ उससे दूर भागने लगती हैं। मनको जितना अधिक उड़ने की सामग्री मिलेगी, सोचने का मसाला मिलेगा, फैलने का मौक़ा हाथ में आएगा, उतनी ही मन की चञ्चलता दूर होती चली जायगी; इसलिए चरित्रवान् बनने का बड़ा भारी साधन सात्त्विक कला-क्षेत्र है।

तीसरी बात थी सच्चरित्रता। यूनानी मानते थे कि यदि कोई नागरिक नीरोग भी हो और कलाकार भी, लेकिन वह अपने उस गुण को वीभत्स बुराइयों में ख़र्च करे, तो उसकी आरोग्यता और सौंदर्य्योपासना पर लाख बार धिक्कार है। सच्चरित्रता के गुणों के विषय में हम पहले पृष्ठों में लिख चुके हैं। सच्चरित्रता का अर्थ इतना हीन हीं कि पुरुष पर-स्त्री-गमन न करे अथवा अप्राकृतिक व्यभिचार न करता हो—यह तो उस का वीभत्स स्वरूप है। सच्चरित्रता में सत्य-भाषण, कर्तव्य-पालन, शिष्टाचार, सहनशीलता, अर्थ-शौच, क्षमा आदि जो सद्‌गुण हैं वे सब शामिल हैं। इन्हीं गुणों से विभूषित होकर किसी देश का नागरिक अपने राष्ट्र का शक्ति-स्रोत बन सकता है। यदि कोई मनुष्य कायर है तो वह किसी राष्ट्र के लिए उपयोगी कैसे बन सकता है ? इस कारण साहस, वीरता, स्वावलम्बन और अध्यवसाय भी चरित्रवान् पुरुष के लक्षण हैं। मनुष्य को उत्थान-पथ पर ले जाने वाले जितने भी सद्‌गुण हैं, वे सब 'चरित्र' शब्द में निहित हैं। अतएव जब हम 'सच्चरित्रता' शब्द का उच्चारण करते हैं, तब हमारे सामने इन सब गुणों का मूर्तिमान् चित्र खड़ा हो जाना चाहिए।

देखिये, वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ में जब परिव्राजक नारद से महर्षि वाल्मीकि जी ने 'पुरुषोत्तम' के विषय में प्रश्न किया तो उन्होंने

चरित्रवान् पुरुष का जो आदर्श उनके सामने था उसके विषय में निम्नलिखित श्लोक कहे हैं—

को न्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥

अर्थात् वर्तमान काल में क्या आपने कोई गुणवान्, वीर्यवान्, धर्म का ज्ञाता, कृतज्ञ, सत्यवक्ता, दृढ़व्रती, सब प्राणियों का हित चाहने वाला, विद्वान्, सामर्थ्यवान्, प्रियदर्शन, आत्मवशी, क्रोधजित्, तेजस्वी तथा ईर्ष्या-द्वेष से रहित, पराक्रमी और युद्धक्षेत्र में देवताओं को भयभीत करनेवाला पुरुषोत्तम देखा है ?

महर्षि वाल्मीकि जी ने तो अपने आदर्श के सम्बन्ध में तीन श्लोक कहकर अपना अभिप्राय प्रगट कर दिया था, परन्तु उस महा अनुभवी, विश्व में विचरने वाले तपस्वी नारद जी ने कैसी सुन्दर भाषा में अपने आदर्श पुरुष की व्याख्या की है, उसे पढ़कर तो हृदय नाचने लगता है । उत्थान-पथ पर आरूढ़ उस काल के आर्य लोग अपनी सन्तान के सामने कैसे दिव्य आदर्श रखते थे और पुरुषोत्तम नागरिक का कैसा मार्मिक चित्र वे अपने बच्चों को बतलाया करते थे, उसका स्वरूप वाल्मीकि रामायण में इस प्रकार दर्शाया गया है—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी ॥

बुद्धिमान्नीतिमान्वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिवर्हणः ।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥
महोरस्को महेष्वासो गूढ़जत्रुररिन्दमः ।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥

अर्थात् आत्मजित्, महापराक्रमी, तेजस्वी, वैर्य्यशाली, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, न्यायशील, सुवक्ता, कान्तियुक्त, शत्रुञ्जय, बड़े कन्धों वाला, बड़ी-बड़ी भुजाओं वाला, गोल सुडौल गर्दन वाला, सुन्दर भरे हुए चेहरे वाला, विशाल वक्षःस्थल वाला, दीर्घबाहु, सुन्दर सिर और ललाट वाला, पराक्रमी, विख्यात आदर्श पुरुष मैंने इक्ष्वाकुवंशियों में देखा है, जिसका नाम राम है । प्राचीन काल के आर्यों में यूनानियों की तरह तन्दुरुस्ती, सौन्दर्य्य और सच्चरित्रता की बड़ी पूजा की जाती थी । जब यूनानियों ने अपने राष्ट्र का संगठन किया, तो उन्होंने देश-भक्ति के गुण को भी चरित्र-संगठन में शामिल कर लिया । परिणाम हुआ यूनान का सर्वोच्च विकास—वह विकास जिसका ऋणी आज सारा संसार है । आर्यों ने अपने उस पुरुषोत्तम आदर्श के द्वारा विशाल राष्ट्र स्थापित किये और संसार के ज्ञान-भंडार में अध्यात्मवाद के अमूल्य रत्न जमा कर दिये ।

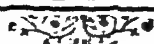
अतएव चरित्र-संगठन ही राष्ट्र का शक्ति-स्रोत है, इस कारण हमने अपने इस ग्रन्थ में इसे सबसे पहला स्थान दिया है । जब नागरिक सच्चरित्र हो जाते हैं, तभी राष्ट्र शक्तिशाली बनता है । मानव-समाज का सङ्गठन इसीलिए किया जाता है कि प्रत्येक सदस्य को उसके जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त हों और वह सदस्य अपनी ईश्वर-दत्त शक्तियों का पूर्णतया विकास कर सके । चरित्र-हीन समाज एक जङ्गल के समान है, जहाँ हिंसक पशु निवास करते हैं । देश भले ही सुशिक्षित हो, उसके गाँव-गाँव में मुफ्त तालीम देने वाले स्कूल खुले हों, भले ही उस देश में सभ्यता की तूती बोलती हो, वह व्यापार-शिरोमणि हो, भले ही उसमें उच्चशिक्षा

के लिए विश्वविद्यालयों का जाल बिछा हो, लेकिन यदि वहाँ के नागरिक सच्चरित्रता के सात्विक गुणों से विभूषित नहीं हैं तो वह देश संयुक्त-राज्य-अमरीका की तरह रिश्वत के अजदहा से निगला जायेगा; वहाँ डाकू-दल (Gangsters) होंगे, जो पिस्तौल दिखाकर सब कुछ धरवा लिया करेंगे।

इसलिए 'चरित्र-कुञ्ज' को प्रथम स्थान देकर अब हम 'राष्ट्र-कुंज' की ओर मुँह करते हैं, ताकि हमारे पाठक उस सच्चरित्रता का सदुपयोग कर जीवन-पथ पर चल सकें।



प्रत्येक राष्ट्र का शक्ति-स्रोत, उसके समयानुसार शिक्षाप्रणाली की श्रेष्ठतम योजना में छिपा रहता है। राष्ट्र के नागरिकों को दी गई नीरोग शिक्षा ही उनमें शक्ति भरती है और उत्कर्ष की ओर उनका पग बढ़ाती है। —स्वामी सत्यदेव परिव्राजक।



इक्कीसवां पुष्प

राष्ट्र-धर्म

वसन्त ऋतु का अन्त होने ही वाला था। श्री भागीरथी के तट पर हरिद्वार में आजकल बड़ी चहल-पहल थी। स्वामी स्वयंज्योति जी अपना भारत-भ्रमण समाप्त कर इन दिनों यहाँ आए हुए थे और एक आम्रवृक्ष के नीचे उन्होंने आसन लगाया था। उनका आगमन सुनकर जिज्ञासु लोग दर्शनार्थ आने लगे। मध्याह्न के बाद साढ़े तीन बजे से ज्ञान-चर्चा होने लगती और तीन घण्टे तक श्रोताओं को बड़ा आनन्द मिलता। आज रविवार था। कई एक नये यात्री भी आए हुए थे। स्वामी जी एक बड़ी चौकी पर सिद्धासन लगाकर बैठ गये। उनका गौर-वर्ण और तेजस्वी शरीर देखने वालों पर बड़ा प्रभाव डालता था। स्वामी जी की आज्ञा मिलने पर एक जिज्ञासु ने विनीत भाव से पूछा—

"महाराज, ज्ञान-प्राप्ति के लिए किन बातों की आवश्यकता है ?"

स्वामी जी—"जो मनुष्य सत्य-ज्ञान का अभिलाषी है उसे सत्यनिष्ठ होना चाहिये। जब तक सत्य के प्रति हृदय में निष्ठा नहीं होती, तब तक कभी भी ज्ञान-प्राप्ति के लिए भूमि तैयार नहीं हो सकती। जब आप पहले से ही अपनी मानी हुई बातों को पूर्ण सत्य समझे हुए हैं, तब आप दूसरे किसी विद्वान से कुछ भी नहीं सीख सकते; पर जब आप का हृदय ज्ञान के लिए विह्वल हो, वह उसका प्यासा हो, जब आपके अन्तःकरण में यह बात रह-रह कर आती हो कि आपको सत्य-ज्ञान की आवश्यकता है और आपका हृदय उसे लेने के लिए आतुर हो, तब आप ज्ञान के अधिकारी हो जाते हैं। सत्य के प्रति निष्ठा बिना पुरुष केवल वितण्डावाद में ही समय खो देता है और उसके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता।

"दूसरी बात है श्रद्धा की। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्', यह कथन अक्षरशः सत्य है। जब आप किसी विद्वान के पास जायें तो सदा श्रद्धा की भावना से उनके निकट जाकर बैठिये, तब वे विद्वान् अपना हृदय आप के सामने खोल कर रखेंगे।

"हाँ, आप सदा अपनी विवेकिनी बुद्धि को हाथ से न जाने दीजिये। प्रत्येक बात को श्रद्धा से तोलिए और विवेक से ग्रहण कीजिये। यदि आप को बात न जँचती हो तो श्रद्धा से उसे छोड़िए, अनादर के साथ नहीं। विद्वान के प्रति अनादर का भाव व्यक्ति को नीच बना देता है और उस की बुद्धि को घुन लग जाता है।"

एक सूटिड-बूटिड नवयुवक वहाँ आया हुआ था। अब तक तो वह खड़ा था। स्वामी जी की बातें सुनकर उसने अपना बूट उतार दिया और श्रद्धा से चटाई पर बैठ गया। जब कुछ देर तक किसी ने कुछ प्रश्न नहीं किया तो उसने हाथ जोड़कर यह प्रश्न किया—

"स्वामी जी महाराज, मैंने आपकी बड़ी प्रशंसा सुनी है। मुझे यह पता लगा है कि आप राष्ट्रीय संन्यासी हैं, इसीलिए मैं आपके पास राष्ट्र-धर्म की व्याख्या सुनने के लिए आया हूँ। कृपया इस विषय पर प्रकाश डालिए।"

स्वामी जी ने श्रोताओं की ओर दृष्टि दौड़ाई। जब सब की इच्छा उस विषय को सुनने की जान पड़ी, तो उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—

राष्ट्र-धर्म

"आज से बीस वर्ष पहले, जब मैं अपने देश के लोगों के सामने लेक्चर देते वक्त 'राष्ट्र-धर्म' इन शब्दों का प्रयोग किया करता था तो सुनने वाले अक्सर हैरान होकर एक दूसरे का मुँह ताकने लगते थे। वे नहीं जानते थे कि राष्ट्र और धर्म इन दो शब्दों का आपस में क्या सम्बन्ध है। साम्प्रदायिकता में फँसे हुए भारतवासी अपने-अपने सम्प्रदायों को ही धर्म मानकर उनकी पुरानी रूढ़ियों पर चलना ही अपना परम कर्त्तव्य समझते

थे। बड़े-बड़े धार्मिक नेता मेरी राष्ट्र-धर्म सम्बन्धी उक्तियों को सुनकर हँसते और खिल्ली उड़ाते थे और कहते थे—पोलिटिकल बातों का धर्म के साथ क्या सम्बन्ध है और राष्ट्र-धर्म तो विदेशी चीज़ है।

"वे दिन मुझे भूले नहीं। उन दिनों में केवल अपने विदेशी अनुभवों का सहारा लेकर राष्ट्र-धर्म के सिद्धांतों की व्याख्या जनता को समझाने की चेष्टा किया करता था और बीच-बीच में विषय को रोचक बनाने के लिए विदेश के अपने अनुभवों की कहानियाँ कहकर सुनने वालों का दिल बहलाये रखता था। जात-पाँत के बन्धनों में जकड़े हुए हिन्दू यह समझ नहीं सकते थे कि उनका मुसलमानों और ईसाइयों से भी कोई सम्बन्ध है और मातृ-भूमि शब्द का उच्चारण करने से उनके सामने केवल अपने-अपने गाँवों और कस्बों का ही चित्र आता था। सारा भारतवर्ष हमारी मातृ-भूमि है, यह ख्याल तो उनसे कोसों दूर था। जब-जब राष्ट्र की व्याख्या करते हुए उन्हें बतलाया जाता कि भारतवर्ष के तीस करोड़ लोगों की माता एक है और उस माता की रक्षा में देश के सब लोगों को अपना सर्वस्व बलिदान कर देना चाहिए, ऐसी बात जब लोगों को बतलाई जाती थी, तो वे सब अत्यन्त विस्मित होते थे,—मानो उन्हें कोई नया सन्देश सुनाया जा रहा हो

"सचमुच राष्ट्र-धर्म एक नया सन्देश है। यह सत्ययुग का धर्म है। यद्यपि इसकी चर्चा पिछली दो शताब्दियों से योरुप में हो रही है और कहा जाता है कि हमारे वेदों में भी इसका वर्णन है, लेकिन सच बात तो यह है कि अभी तक इस धर्म का यथार्थ स्वरूप संसार ने नहीं समझा। जिस योरुप ने इसके सम्बन्ध में इतनी लड़ाइयाँ लड़ी हैं और जिसकी व्याख्या करने में वहाँ के धुरन्धर विद्वानों ने अपने मस्तिष्क का गूदा सुखा दिया, उस राष्ट्र-धर्म के अनुसार समाज की व्यवस्था करने और तदनुसार संसार की दूसरी जातियों से प्रेम-सम्बन्ध बढ़ाने में योरुप के लोग सफलमनोरथ नहीं हुए। अट्ठारहवीं शताब्दी से पहले योरुप की जातियाँ मज़हबी लड़ाइयों में पड़कर एक दूसरे का खून बहाया करती

थीं। बाद में राष्ट्रीय चर्चा होने पर राष्ट्र को ही मजहब का स्थान मिल गया और उसी की आड़ में बलवान् राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को सताने लगे। फिर बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक हुआ कि मुट्ठी-भर पूँजीपति अपने-अपने राष्ट्रों पर काबू कर बैठे और अब उसी का परिणाम योरुप में यह हुआ है कि 'राष्ट्र-धर्म' से मजदूर और किसान घृणा करने लगे हैं और उनका दृष्टि-कोण अन्तर्राष्ट्रीय होगया है।

"भारतवर्ष में वेदों को ईश्वरकृत मानने वाले हिन्दू राष्ट्र-धर्म से इतनी दूर हट गये कि उन्होंने समाज के सारे कानून इस ढंग से बना डाले कि जिसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय ही समाज में ऊँचा स्थान पावें और जन्म की कसौटी को लेकर समाज का संगठन इस ढंग से कर दिया कि उसने समाज की उन्नति के सारे द्वार बन्द कर दिये। ब्राह्मणों की सत्ता सर्व-प्रधान होगई और वे इस लोक तथा परलोक के पूरे मालिक बन बैठे। संक्षेप में, हिन्दू समाज की अवस्था बौद्धकाल से पहले ऐसी थी जैसे सत्र-हवीं सदी से पहले योरुपीय समाज की।

"निस्सन्देह राष्ट्र-धर्म नई और पुरानी दुनिया के लिए एक दैवी सन्देश है। हमें यह सीखना है कि ईश्वर के दिये हुए प्राकृतिक पदार्थों का भोग न्यायपूर्वक मिलकर किस तरह से किया जाये। हमें यह जानना है कि मानवसमाज के प्रत्येक सदस्य की ईश्वरदत्त शक्तियाँ किस प्रकार ठीक तौर पर विकसित हो सकती हैं। हमें उन उपायों की तलाश करनी है जिनके द्वारा अत्याचार और हिंसा पृथ्वी पर से उठ जायें और भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के निवासी प्रेमपूर्वक एक दूसरे के विकास में सहायता दें। प्राकृतिक पदार्थों का संग्रह कर स्वार्थी मनुष्य इनके बल पर दूसरों को गुलाम न बनावें, बल्कि इन्हें सबके सुख का साधन समझें। मनुष्यों में जो कमजोरियाँ हैं, उनमें जो दुर्गुण हैं, उनके दूर करने के साधन हम तलाश करें और उन्हें ऐसा बना दें कि वे समाज की हानि करने की अपेक्षा लाभदायक सिद्ध हों। राष्ट्र-धर्म राष्ट्रों में प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न करने के लिए नहीं है, बल्कि उनके परस्पर सहयोग, सहानुभूति और एक

दूसरे की सहायता करने के लिए है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि योरुप और एशिया के विलक्षण बुद्धि वाले राजनीतिज्ञों ने अपना सारा मस्तिष्क राष्ट्र को निरंकुश रखने की व्यवस्था तैयार करने में लगाया है और State-Sovereignty (राष्ट्र-प्रभुत्व) का सिद्धान्त खड़ा कर दिया है, जिसके द्वारा मुट्ठी भर कुशाग्र-बुद्धि लोग ही अपना गुट्ट बनाकर समाज पर शासन कर सकें और व्यक्तिवाद का समाज में कोई स्थान न रहे। राष्ट्र को बलशाली बनाने के लिए राष्ट्र-प्रभुत्व (State-Sovereignty) का सिद्धान्त बड़ा सुन्दर मालूम होता है; समाज में शान्ति और व्यवस्था रखने के लिए इसकी महत्ता हृदय को अपनी ओर खींचती है; बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों ने इसकी व्याख्या में पोथे पर पोथे लिख दिये हैं; मेक्याविली और चाणक्य इस सिद्धान्त के परम पोषक रहे हैं और आधुनिक युग में इटली का भाग्य-विधाता मुसोलिनी इसी सिद्धान्त को नये रूप में प्रकट करता था। इन सबसे बढ़कर सोवियट रूस की नई शासन-पद्धति भी एक प्रकार से इसी सिद्धान्त की पोषक है, क्योंकि उसमें भी एकाधिपत्य सिद्धान्त को ऊँचा स्थान दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतना अधिक प्रजातन्त्रवाद पर वादविवाद और उसके अनुसार शासन-पद्धतियाँ क़ायम होने पर भी आज संसार घूम-फिर कर उसी स्थान पर आकर खड़ा हुआ है—'किस प्रकार हम समाज के महत्वाकांक्षी, चालाक, धूर्त और षड़यन्त्री सदस्यों से बचकर समाज को सत्य और न्याय के आदर्शों के अनुसार एक शासन-व्यवस्था के नीचे ला सकते हैं ? यदि हम सब प्रजा को बराबर के अधिकार देकर विचारों की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं, तो मूर्ख और अज्ञानी, धर्मान्ध और वहमी सदस्यों के वोटों का सहारा लेकर शासन अपने वश में कर लेते हैं, फिर प्रजा में अशान्ति फैल जाने से राष्ट्र में गड़बड़ मचती है और यदि हम कुछ थोड़े से विलक्षण बुद्धि वाले सदस्यों के हाथ में शासन देकर बाक़ी प्रजा को उनके पीछे चलाते हैं, तो राष्ट्र केवल एक मजबूत मशीन का स्वरूप धारण कर लेता है, जिसमें दूसरे राष्ट्रों को दबाने की शक्ति तो

खूब हो जाती है, लेकिन प्रजा की शक्तियों का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो सकता। अतएव राष्ट्र-धर्म की पूर्ण व्याख्या, उसके आदर्शों के अनुसार शासन की निर्दोष व्यवस्था की योजना अभी तक कोई निर्मल मस्तिष्क वाला राजनीतिज्ञ नहीं कर सका। शासन का उच्च सिद्धान्त यह है कि राष्ट्र में जितना कम शासन हो उतनी ही अधिक प्रजा स्वाधीनता-सुख भोगती है। बड़े-बड़े कानून बनाने से, पेचीदा-दर-पेचीदा नियमों को गढ़ने से प्रजा के अधिकारों की रक्षा नहीं हुआ करती; बल्कि वह तो कानून का एक ऐसा घना जंगल बन जाता है जिसमें मनुष्य को मार्ग तलाश करना कठिन हो जाता है। इंगलिस्तान के लोग भारतवर्ष में यही कर रहे थे। उन्होंने नये-नये कानून बनाकर यहाँ पर कानूनों का ऐसा घना जंगल तैयार कर दिया था जिसमें इस देश की प्रजा फँसकर खूंख्वार पशुओं का शिकार हो रही थी।

"असल में राष्ट्र-धर्म को समझने के लिये हमें उसके मूल की तलाश करनी चाहिये। यदि भारतवर्ष में किसी प्रकार की आबादी न हो और यह देश वीरान पड़ा हुआ हो तो अपने पहाड़, नदियाँ और जंगल के होते हुए भी इसका कोई राष्ट्र नहीं बन सकता। इसी प्रकार सभी देशों के विषय में जानिये। राष्ट्र तो मनुष्य-समाज के संगठन से बनता है, अर्थात् उसका मूल मनुष्य है। मानव-समाज के शरीर को ही राष्ट्र कहते हैं और जब वह शरीर एक प्रदेश में शान्तिपूर्वक अपना पूर्ण विकास करता हुआ रहना चाहता है, तो राष्ट्र-धर्म का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए मुख्य सिद्धान्त जिसकी ओर राष्ट्र-धर्म के प्रेमियों को ध्यान देना चाहिये, वह है व्यक्ति का सुधार। यदि हम व्यक्तियों के सुधार की ओर ध्यान देंगे और उन्हें उनके अधिकार और कर्तव्य समझायेंगे तो केन्द्रीय शासन की बहुत कम आवश्यकता रहेगी, अर्थात् थोड़े कानूनों और नियमों से ही राष्ट्र का शासन हो सकेगा। राष्ट्र-धर्म यह सिखलाता है कि उसके सदस्य अपने-अपने धर्म को इस दर्जे तक सीख जायें कि उन्हें किसी प्रकार के अंकुश अथवा शासन की आवश्यकता न रहे और वे स्वेच्छा से उन सब

बातों को करने लग जायें जिन्हें आज हम बड़े-बड़े कानूनों द्वारा पुलिस और सेना की सहायता से करवाते हैं। वह समाज सब से अधिक राष्ट्र-धर्म को समझता है जिसमें सबसे कम झगड़े, दंगे, हत्याएँ और मुकदमे होते हैं। कोई शासक निरंकुश बनकर, भय दिखला कर, अपनी पुलिस के बल से किसी समाज को दबाकर रखने में यदि शान्ति और व्यवस्था समझता है तो वह दुनिया को धोखा देता है। यह कहा जा सकता है कि सब आदमी तो इस दर्जे तक भलेमानस नहीं हो सकते कि समाज में किसी प्रकार का दंगा-फसाद न हो। इसके उत्तर में राष्ट्र-धर्म का मानने वाला यह कहता है कि यदि समाज को राष्ट्र-प्रभुत्व के सिद्धान्त पर न चला कर व्यक्ति-प्रभुत्व के असूल पर विकसित किया जायगा तो सहज में ही समाज अपने सारे सदस्यों को प्रजातन्त्रवाद के आदर्शों को सिखला सकेगा।

"सच तो यह है कि राष्ट्र-धर्म को सफल बनाने के लिए अभी तक किसी देश ने भी पूरा प्रयत्न नहीं किया। हिन्दू-संस्कृति के लोग व्यक्ति-वाद के सिद्धान्त को मानते हैं, परन्तु उन्होंने भी किसी बड़े पैमाने पर राष्ट्र-धर्म की इन गुत्थियों को सुलझाने का यत्न नहीं किया। अब जब भारत स्वाधीन होगया है तो इस बात की परमावश्यकता है कि इस देश के लोग योरुपीय राष्ट्रों की असली कमजोरी को भली प्रकार जान लें। साम्राज्यवादी सरकार अपने केन्द्रीय शासन को सदा सुदृढ़ रखना चाहती है, इसलिए उसे व्यक्ति के अधिकारों की कम परवाह रहती है। साथ ही वह अपनी शान क़ायम रखने के लिए देश के धन का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसी जंगी तैयारियों में खर्च कर देती है जिसका कोई भी लाभ प्रजा को नहीं मिलता। योरुप के सभी बड़े-बड़े शासन इसी शान के फेर में पड़े हुए हैं। इसी कारण वहाँ राष्ट्र-धर्म पनप नहीं सका। छोटे-छोटे राष्ट्र तो आसानी से राष्ट्र-धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार अपनी प्रजा को अभ्युदय की ओर ले जा सकते हैं, लेकिन समस्या बड़े राष्ट्रों की ही है, क्योंकि उनकी जरूरतें अधिक होती हैं और समस्यायें होती हैं बड़ी जटिल। भारतवर्ष एक विशाल देश है। क्या यह स्वाधीन होकर साम्राज्यवादी

राष्ट्रों का अनुसरण करेगा, अथवा सोवियत रूस के पीछे जायेगा, या अपनी प्राचीन संस्कृति के अनुसार राष्ट्र-धर्म का पाठ संसार को पढ़ायेगा, यही हमें देखना है। यदि हम इंगलैण्ड की तरह बड़े-बड़े जंगी जहाज रक्खेंगे, बड़े-बड़े आकाशयान बनाकर लड़ाई की तैयारियाँ करेंगे और फ्रांस की तरह लाखों सिपाहियों की फौज बनायेंगे तो राष्ट्र-धर्म का उद्देश्य हम कभी सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि हमारा सारा धन इन्हीं तैयारियों में खर्च हो जायेगा और प्रजा टैक्स के बोझ से दब जायेगी। यदि हम रूस की तरह बोलशेविक शासन क़ायम करने का प्रयत्न करेंगे, तो हमें पहले देश में खून की नदियाँ बहानी पड़ेंगी। सभी राजा-महाराजा, उनके हिमायती, जमींदार-तालुकेदार, सेठ-साहूकार, मिल-मालिक और महाजन, पण्डे और धर्माचार्य, सभी प्रकार के पूञ्जीपतियों को तलवार के घाट उतार देना होगा और यह सब हिंसा करने के बाद भी मुट्ठी भर निरंकुश बोलवेशिक नेताओं के हाथ में करोड़ों नागरिकों की क़िस्मत को सौंप देना पड़ेगा। कम्युनिस्ट स्कीम के विरुद्ध कोई दम न मार सकेगा और अपनी मर्जी के खिलाफ़ प्रजा हल-बैल की तरह जुए में जोती जायगी।

"स्वाधीन भारत कैसा होगा ? हम तो राष्ट्र-धर्मी हैं। विचारों की स्वतन्त्रता के प्यारे हैं। सब नागरिकों को बराबर के अधिकार दिलाने के पक्ष में हैं। भारत माता के दिये हुए पदार्थों का सत्य और न्यायपूर्वक उपभोग सबके लिए चाहते हैं। अत्याचार और हिंसा के शत्रु हैं। हमारा यह विश्वास है कि यदि हम साम्राज्यवादी राष्ट्रों और सोवियत रूस की नकल न कर छोटे से डेन्मार्क और स्विटजरलेंड की तरह अपनी इच्छाओं को सीमाबद्ध कर लेंगे और अपनी सारी शक्ति तथा धन अच्छे नागरिक बनाने में खर्च करेंगे, तभी इस देश में राष्ट्र-धर्म के स्वरूप का विकास होगा और तभी हमारे लोग सुखी रह सकेंगे।"



वाईसवाँ पुष्प

राष्ट्रशक्ति का जीवन-रस

राष्ट्र-धर्म की व्याख्या सुनाकर श्री स्वामी स्वयंज्योति जी महाराज चुप होगए। श्रोता उनकी ओर टकटकी लगाकर देखते रहे। वह नवयुवक बड़ा सन्तुष्ट दिखाई देता था, मानो उसे मनोवांछित वस्तु मिल गई। फिर पांच मिनट तक श्रोता लोग मिलकर 'ॐ' का जाप करते रहे। तत्पश्चात् एक अधेड़ उम्र के सज्जन बोले—

श्रीमान् जी, मैंने सुना है कि आप जर्मनी भी गए थे। कृपया मुझे बतलाइये कि नवीन जर्मन-राष्ट्र का शक्ति-रहस्य क्या है ?

स्वामी जी ने फिर कहना प्रारम्भ किया—

जब कोई भारतीय आदर्शों का प्यारा योरुप में सैर के लिए जाता है और वहाँ के लोगों का रहन-सहन, आचार-व्यवहार तथा चाल-ढाल देखता है, तब वह आश्चर्य से कह उठता है—'ये लोग शक्तिशाली क्यों हैं।'

हमारे शास्त्र हमें शराब, मांस, धूम्र-पान और अनाचार आदि बातों से मना करते हैं और हमारे धर्मोपदेशक हमें बार-बार कहते हैं कि आचार-भ्रष्ट-जाति कभी बलवती नहीं हो सकती, पर यहाँ सब बुराइयाँ विद्यमान हैं। योरुप में शराब साधारणतया सभी पीते हैं; मांस तो इनका नित्य का भोजन ही ठहरा; सिगरेट तो मुलाकात के समय भेंट की वस्तु हो गई है; सदाचार का यह हाल है कि ऐसे स्त्री और पुरुष विरले ही मिलेंगे जो अपने विवाह के समय छाती पर हाथ रखकर यह कह सकें कि विवाह से पहले किसी पुरुष अथवा स्त्री के साथ उनका अनुचित सम्बन्ध न था।

"सचमुच एक भारतीय आदर्शों के पुजारी के दिल पर यह सब देखकर बड़ी ठेस लगती है और वह बेइख्त्यार कह उठता है—'ऐसा योरुप शक्तिशाली क्यों है ?'

जब हम रोम-साम्राज्य के उत्थान और पतन का इतिहास पढ़ते हैं, या दुर्दमनीय तुर्की-साम्राज्य की कथा बाँचते हैं, तब यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि जो जातियाँ विषय-लोलुप होकर शराब के नशे में डूब गईं, जिन्होंने अपना चरित्र भ्रष्ट कर दिया, वे जातियाँ अपना जीवन-रस खोकर निर्बल होगईं और उनका साम्राज्य नष्ट होगया। अच्छा, तो योरुप का नाश क्यों नहीं होता ? योरुप-समाज के सङ्गठन और उसकी शक्ति के लिए कौन-सा स्तम्भ है जो उसे गिरने से बचा रहा है—जो उसे रोके हुए है ? कौन-सा वह मन्त्र है जो इंगलिस्तान की शक्ति को पतन से रोक रहा है, जो दूसरे योरुपीय राष्ट्रों को नाश से बचा रहा है ? नवभारत के निर्माताओं के निमित्त तथा भारतीय आदर्शों के उपासकों की शान्ति के लिए हम इस विषय पर प्रकाश डालते हैं।

यदि आप व्यायामशाला के किसी चौड़े मैदान में उस दिन दर्शक के तौर पर खड़े हो जायँ जब विद्यार्थियों की लोह-गेंद फेंकने की आज़मायश हो, तो आप यह देखेंगे कि कम या ज्यादा शक्ति के अनुसार गेंद आगे-पीछे जाकर ठहर जाती है। लड़के की भुजा के बल के अनुसार गेंद में गति आती है और जब उस बल की गति खत्म हो जाती है तब गेंद निर्जीव होकर भूमि पर विश्राम करती है।

यह एक साधारण उदाहरण इस विषय को खूब स्पष्ट करता है।

पिछले पाँच सौ वर्षों के योरुप के इतिहास पर दृष्टि डालिये। स्पेन की शक्ति ने कैसे अद्भुत चमत्कार किये थे ! दक्षिण अमरीका में स्पेनिश भाषा का झंडा स्पेन की उसी साम्राज्य-शक्ति का द्योतक है। फ्रांस की कितनी ज़बरदस्त शक्ति रही और आज भी मौजूद है ! आस्ट्रिया का साम्राज्य कैसा समृद्धिशाली था ! वीएना एक समय योरुप की राजनीति का केन्द्र था। ज्वालामुखी तुर्की-साम्राज्य नष्ट होकर आज एक चिनगारी

सा रह गया है। फ्रांस अभी तक स्पेन की भांति निर्बल क्यों नहीं हुआ? फ्रांस भी तो रोमन कैथोलिक है! इङ्गलैण्ड अभी तक मार क्यों नहीं खा सका? उसकी शक्ति-वृद्धि क्यों होगई? इतनी भारी मार खाकर जर्मनी फिर कैसे उठ रहा है? आस्ट्रिया क्यों सदा के लिए खत्म होगया है? इन सब प्रश्नों को आज हमें जानना चाहिये, क्योंकि हम राष्ट्र-निर्माण में लगे हुए हैं और हमें भारत को एक प्रबल राष्ट्र बनाना है।

देखिए, यदि कोई समाज निर्जीव होकर मृत्यु को प्राप्त होना नहीं चाहता, यदि कोई राष्ट्र अपनी शक्ति को बराबर बनाये रखना चाहता है, तो उसका मुख्य कर्तव्य है कि वह अपने जीवन-रस के स्रोत को न सूखने दे। जीवन-रस के वे स्रोत भी दो प्रकार के हैं—एक स्थायी (आध्यात्मिक) जिसका सम्बन्ध अनादि ब्रह्म से है और दूसरे अस्थायी (प्राकृतिक) जो भूचाल आदि से निकल पड़ते हैं या कभी खोदते हुए मिल जाते हैं। यहां इस समय हम योरुपीय राष्ट्रों के विषय में कह रहे हैं, इसलिए हम पहले दूसरे प्रकार के जीवन-रस की विवेचना करते हैं।

अट्ठारहवीं सदी के अन्त में भयङ्कर भूचाल (राज्य-क्रान्ति) फ्रांस में आया था। उसने योरुप में राष्ट्र-संगठन का मजबूत आदर्श खड़ा कर दिया। उस आदर्श के जीवन-रस से योरुप में नवजीवन का सञ्चार हुआ। भूचाल द्वारा उत्पन्न हुए उस जीवन-रस के स्रोत का पता योरुप-समाज को लगा है। उससे उसमें विचित्र गति उत्पन्न हुई है, अद्भुत चेतनता आई है, विस्मयजनक संगठन हुआ है। अब जो उस चेतनता को बराबर जारी रक्खेगा, जो उस जीवन-रस-स्रोत को न सूखने देगा, जो भूचाल द्वारा प्राप्त वेग में अपना नया वेग उत्पन्न कर उसे बढ़ाता रहेगा, वह तो जीयेगा और जो उस वेग से ही काम लेगा वह वेग ख़त्म होने पर स्वयं भी ख़त्म हो जायेगा।

जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड को यह बात मालूम होगई है। वहां का समाज यह बात भले प्रकार समझ गया है कि यदि वे अपने राष्ट्रों की जीवन-रक्षा के लिए जीवन-रस पैदा न करते रहेंगे तो बहुत शीघ्र

उनका नाश हो जायगा। अतएव विषय-भोग के सब दुर्गुणों को रखते हुए भी वे मूल सिद्धान्त को बड़ी दृढ़ता से पकड़े हुए हैं और उसकी रक्षा के लिए लाखों-करोड़ों रुपये ख़र्च करते हैं। राष्ट्र-जीवन के उसी जीवन-रस का रसास्वादन कराने के लिए हम इतनी खोजकर, बर्लिन की व्यायाम-शालायें देखकर, यह कह रहे हैं कि वहाँ लड़कियाँ-लड़के खूब व्यायाम करते हैं। जैसे लड़कों के लिए बृहत् व्यायामशालायें हैं, वैसी ही लड़कियों के लिए भी हैं। जर्मनी के प्रत्येक नगर, क़स्बे और ग्राम में व्यायाम-शालाओं की धूम है। उछल-कूद, दौड़, तैरना, मुक्केबाज़ी, क़वायद, स्केटिंग, जिमनास्टिक—जो-जो लड़के सीखते हैं, सब लड़कियाँ बराबर वैसा ही अभ्यास करती हैं। पच्चीस-पच्चीस हज़ार लड़कियाँ-लड़के जब ख़ास अवसरों पर एक बड़े मैदान में क़वायद करते हैं, तब सचमुच समा बँध जाता है और भारतीय आदर्शों का प्रशंसक सैलानी कह उठता है—'ऐसी लड़कियाँ-लड़के रखने वाले समाज को मनुष्य तो क्या, साक्षात् ब्रह्मा भी नहीं मार सकता।'

स्मरण रखिये, राष्ट्र की शक्ति बलवान् लड़के और लड़कियों पर निर्भर है। वह शक्ति, वह जीवन-रस उत्पन्न होता है व्यायाम से। जो राष्ट्र अपना धन सुन्दर व्यायामशालाओं के निर्माण में ख़र्च करता है, जो समाज अपना सोना-चाँदी अपनी कन्याओं के नाक-कानों में बेड़ियाँ डालने में ख़र्च न कर उन्हें फुर्तीली, सुडौल और वीरा बनाने में ख़र्च करता है, वह राष्ट्र—वह समाज—सदा जीवित रहता है। फ्रांस इङ्गलेंड और अमरीका में व्यायाम के लिए करोड़ों रुपया ख़र्च होता है। उनकी लड़कियों को उनकी मर्ज़ी के विरुद्ध आप छेड़िए तो सही, वे सिर फोड़ देती ह। वे निर्भय, निर्द्वन्द्व और अकेली जङ्गलों, पहाड़ों में विचरती हैं। जर्मन लड़कियाँ आज अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए कमर कस कर तैयार हो रही हैं। उनका बदन फुर्तीला, चुस्त, प्रत्येक अङ्ग कसरती सुडौल है। किसी लड़की का मोटा पेट नहीं, किसी लड़के के बदन पर मांस के लोथे नहीं। माप का खाना, जल्द हज़्म होने वाली चीज़ें खाना, शरीर

रक्षा के सभी नियमों का वे बराबर ध्यान रखते हैं। यही कारण है कि योरुप में और बुराइयों के होते हुए भी जीवन-रस की कमी नहीं होने पाती। यही लड़कियाँ जब मातायें होती हैं उस समय उनके बच्चों को आप देखिये।

पिछले फ़रवरी मास में एक दिन बहुत बर्फ़ पड़ी। मेरा एक प्रेमी जर्मन मित्र मुझसे मिलने के लिए आया और बोला—'चलो घूमने चलें।'

हम चल पड़े। साथ में उसका एक छोटा-सा लड़का था। मैंने समझा, आठ नौ वर्ष का होगा। उस दिन हम लोग तीन-चार मील बर्फ़ में घूमे। सारा रास्ता वह लड़का दौड़-दौड़ कर बर्फ़ पर अपने बूटों से ही स्केटिङ्ग करता चला जाता था। थोड़े-थोड़े फ़ासले पर छोटे-छोटे टुकड़े भूमि के हिम से ढके थे। वह लड़का दौड़कर उन पर फिसलता और बराबर अपना बोझा सम्हाले रखता था। बातचीत करते हुए मैंने अपने जर्मन मित्र से कहा—

"आपका लड़का है तो आठ नौ वर्ष का ही, पर मज़बूत है। सारा रास्ता पट्ठा दौड़ता ही आया है।"

वह मेरे मुँह की ओर विस्मित होकर देखने लगा और बोला—"यह तो चार वर्ष का लड़का है। अभी जनवरी में उसके चार वर्ष पूरे हुए हैं।"

मैं हैरान रह गया। मुझे सिएटल (अमरीका) के नाई का वह लड़का याद आ गया जो बाज़ार में अख़बार बेचने आया करता था, जिसकी माँ मुझसे कहा करती थी—"मेरा लड़का अभी पूरे चार वर्ष का नहीं है, तो भी अख़बार बेच कर पैसा कमा लेता है।"

"व्यायाम ! व्यायाम !" सचमुच यह राष्ट्र-जीवन-रस का स्रोत है। तन्दुरुस्ती का यह ख़जाना है। स्वस्थ विचारों का यह मित्र है। निर्भीकता का यह जनक है। जीवनानन्द का तो मन्त्र ही है। यूनान के लोग जिस समय व्यायाम के प्यारे थे, उसी काल में उन्होंने दर्शन, कला,

विज्ञान की नींव डाल दी थी। उनका उसी समय का आदर्श आज योरुप को स्फूर्ति दे रहा है और उन्हीं प्राचीन नामों को अमर कर रहा है। यूनान की सङ्ग-तराशी (Sculpture), मूर्तिकला के नमूने, उनके पहलवानों और वीरों की मूर्तियाँ आज भी उनकी उस निर्मल कीर्ति की याद दिलाती हैं। जाति जब तक अपने बच्चों को व्यायामशालाओं में भेजती रहती है, जब तक वह बराबर उत्साह और उत्तेजना देकर अपने वीर्यों की वृद्धि करती रहती है, जब तक वह अपनी स्त्रियों को लड़कों की तरह तन्दुरुस्त, सुडौल और फुर्तीला बनाने के लिए व्यायाम कराती रहती है, तब तक वह जाति अथवा राष्ट्र सदा स्वतन्त्र और बलशाली बना रहता है। जर्मनी ने उस तत्त्व को पा लिया है। लड़के नाचघरों में जाते हैं, लड़कियाँ कीनो-थिएटरों में अपने प्रेमियों से मिलती हैं, शराब-माँस का व्यवहार खूब होता है, औरत-मर्द खूब सिगरेट पीते हैं, पर ये सब करते हुए भी वे अपने शरीर और व्यायामशाला को भूल नहीं जाते। वे जीवन-रस को उत्पन्न करने में बराबर प्रयत्नशील रहते हैं।

अगर कोई राष्ट्र ऐसा भाग्यशाली हो जो सच्चे, सुखद और सात्त्विक आदर्श को पा जाये, जिसे अखण्ड-जीवन-पुञ्ज का रहस्य प्राप्त हो, जो जीवन-रस के स्थायी स्रोत के सरस अमृत का रसास्वादन कर चुका हो, जिसे उसका मार्ग अवगत हो जाये और वह उस दिव्य स्रोत की ओर योरुप के परमपुरुषार्थ को साथ लेकर चल पड़े तो फिर सचमुच सोना और सुगन्ध वाली बात हो सकती है। पवित्र आदर्शों को रखने वाले लड़के और लड़कियाँ, आध्यात्मिक भावों में पले हुए नागरिक जब हज़ारों की संख्या में, प्रातः और सायं व्यायामशालाओं से निकलें, जब राष्ट्र की उन्नति के जयनाद से ये वीर और वीरांगनाएं चारों दिशाओं को गुंजा दें, तो उस समय संसार में एक नये अभयदान के युग का प्रादुर्भाव हो जाए। फ़्रांस की क्रान्ति ने जो राष्ट्रीय युग उत्पन्न किया था वह भूचाल की भयंकर गति का परिणाम था। उसमें साम्राज्य-लोलुपता, इन्द्रिय-सुख-लालसा और प्रकृतिवाद भरा हुआ था। संसार राष्ट्रीयता के सात्त्विक

स्वरूप की प्रतीक्षा कर रहा है। सभ्य-देशों के लाखों नरनारी उस नये युग के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के लिए तड़प रहे हैं।

उस राष्ट्र-शक्ति के जीवन-रस के स्थायी स्रोत का दिव्य दर्शन आर्य-संस्कृति के प्रतीक महात्मा गांधी का प्यारा केवल भावी भारत-राष्ट्र ही करा सकता है। हमें केवल योरुप के परम पुरुषार्थ की आवश्यकता है। योरुप में आज जर्मनी उस परम पुरुषार्थ में सिरताज है। योरुप के महासमर ने जर्मनी के अहंकार को तोड़ दिया। यह बड़ा ही अच्छा हुआ। जर्मन तो अपने सिवा किसी दूसरे को कुछ समझते ही नहीं थे। महासमर के बाद से जर्मनों में नम्रता आने लगी है। परम पुरुषार्थ में वे सारे योरुप से आगे हैं। इसीलिए हमने जर्मनी के बालक-बालिकाओं के विषय की नीरोग बातें आप लोगों के सामने रक्खी हैं। आज इस राष्ट्रीयता के युग में हमें जर्मनी के परम पुरुषार्थ को हृदयंगम कर लेना चाहिए। प्रत्येक ग्राम, कस्बे और नगर में व्यायामशालायें स्थापित कर प्रत्येक बालिका तथा बालक को वहां भेजना चाहिए। जमीन में से गड़ा हुआ धन निकाल कर आज राष्ट्र-शक्ति का जीवन-रस उत्पन्न करना उचित है। लड़कियों को गहनों से न लाद कर उन्हें सुडौल, फुर्तीला, निर्भय और वीरांगना बनाइये। ऐसी लड़कियाँ, जो गुण्डों की मरम्मत कर सकें, स्टेशन तथा बागों में बेखौफ घूम सकें। हमारा अध्यात्मवाद, हमारी उपनिषदें, व्यायाम-रूपी मन्दिरों के बिना, कोरे शब्द-जंजाल बनी रहेंगी।

परमात्मन्, क्या मैं भी अपने देश के हजारों नीरोग, सच्चरित्र और सुडौल लड़के और लड़कियों को खुले मैदानों में कवायद करते हुए देखूँगा? प्रभो, मेरी यह शुभ इच्छा पूर्ण कीजिए।

इस कर्मयोग के मारग में,
नित्य ओ३म् नाम का जप करना;
हे 'देव' सफल होना जग में,
तो जीवन परम पवित्र बना।

('यात्री मित्र' में से)

तेईसवाँ पुष्प

राष्ट्रों का उत्थान

[श्री स्वामी स्वयंज्योति जी के राष्ट्रीय उपदेशों की चर्चा जब हरिद्वार में फैली, तो वहाँ के नागरिकों का एक डेपुटेशन स्वामी जी के पास पहुँचा और उनसे आग्रहपूर्वक कहा कि वे राष्ट्रोत्थान के साधनों की सविस्तर व्याख्या जन-साधारण को सुनावें, जिससे यह दुरूह विषय सरल हो जाये। श्री स्वामी जी ने इस विषय पर तीन व्याख्यान देने का निश्चय किया। श्रोता लोग बड़ी संख्या में श्री गंगा जी की नहर के किनारे घास पर एकत्र हुए। कथा के ढंग से स्वामी जी ने इस महत्वपूर्ण विषय को जनता के सामने रखा। सबसे पहले उन्होंने 'राष्ट्र के लिए आदर्श की परमावश्यकता है' इस विषय को भली प्रकार समझाया; बाद में उस आदर्श को फैलाने वाले साहित्य की मीमांसा की; तत्पश्चात् बलशाली तथा विरोधों का सामना करने वाले नागरिक कैसे हो सकते हैं, इस बात को थोड़े शब्दों में स्पष्ट किया और अन्त में शिक्षा के आदर्श पर अत्यन्त प्रभावशाली और सारगर्भित व्याख्यान लोगों को सुनाया। अब हम सबसे पहले राष्ट्रोत्थान विषय पर स्वामी जी ने क्या कहा, इसे पाठकों के सामने रखते हैं, बाद में शिक्षा के आदर्श के गूढ़ तत्वों की विवेचना भी स्वामी जी के अपने शब्दों में पाठकों को सुनायेंगे।]

हम जब इस बात पर विचार करते हैं कि पिछले एक हजार वर्षों में भारतवर्ष पर इतने घोर संकट आये और अभी तक यह अपनी उन विपत्तियों से मुक्त न हो सका, तब हमें सचमुच आश्चर्य होता है। इसके पास किसी चीज की कभी कमी नहीं रही। धन-दौलत भरपूर, लड़वैये अव्वल दर्जे के, बुद्धि बड़ी विलक्षण, और साहित्य का तो कहना ही क्या!

इसका संस्कृत साहित्य अपार ज्ञान से भरा हुआ है। फिर क्यों इस देश ने अपना विकास-पथ छोड़ दिया ?

क्या यहाँ महापुरुषों की कमी रही ? पिछले एक हज़ार वर्षों के अन्दर कैसे-कैसे उज्ज्वल सितारे इस देश में चमके हैं ! किसी भी प्रान्त को ले लीजिए, सभी जगह आपको ईश्वर-भक्त महात्माओं की प्रतिभा दिखाई देगी। हमें नाम गिनाने से कोई मतलब नहीं। आप लोग उनसे भली प्रकार परिचित होंगे। हमें तो इस बात पर विचार करना है कि किस कारण से यह देश विदेशियों द्वारा पद-दलित होता रहा और इसने अब तक उत्थान का मार्ग नहीं पकड़ा। आज भी इस अत्यन्त गिरे हुए काल में कोई भी समझदार व्यक्ति भारतमाता को वन्ध्या नहीं कह सकता। यह सदा पुत्रवती रही है और इसने ऐसे लालों को जन्म दिया है कि जिनके उपदेशों से व्यथित आत्माओं को शान्ति मिली। ऐसा होने पर भी इस माता के संकट दूर न हुए। तो क्या इसके पास क्षत्रिय नहीं थे ?

जहाँ एक ओर भक्त कबीर, दादू, रविदास, चैतन्य, तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, तुकाराम, एकनाथ, समर्थ गुरु रामदास तथा गुरु नानक जैसे ईश्वर-परायण सन्तों की कमी नहीं रही, वहाँ दूसरी ओर पृथ्वीराज, संग्रामसिंह, प्रतापसिंह, शिवाजी, छत्रसाल, रणजीतसिंह और हरीसिंह नलुआ जैसे वीरों ने भी इस देश के इतिहास को अलंकृत किया है। राजपूतों के वीर कारनामों को कौन नहीं जानता ! यहाँ एक-से-एक बहादुर लोग मौजूद थे, परन्तु तिस पर भी यह देश गुलामी की जंजीरों से जकड़ा रहा। ऐसा क्यों हुआ ?

असल में बात यह है कि कोई भी व्यक्ति कैसा ही बहादुर, कैसा ही विलक्षण-बुद्धि और कैसा ही शक्तिशाली क्यों न हो, यदि वह अपना उत्थान चाहता है तो उसके पास कोई-न-कोई आदर्श होना चाहिये। जितने भी महापुरुष संसार में हुए हैं वे सब अपना-अपना आदर्श रखते थे। जब तक आपको यह मालूम नहीं कि आपको जाना कहाँ है, तब तक आप अपनी यात्रा के लिए सामग्री नहीं जुटा सकते। संसार सबके

लिए खुला है, उत्थान के अवसर सबके लिए आते हैं, परन्तु जो अपना आदर्श स्पष्ट रखता है वह बाजी मार ले जाता है और जिसके पास आदर्श नहीं उसकी अवस्था ऐसी ही है जैसी कि बिना पतवार के नौका। जिधर हवा का झोंका आया, उधर ही वह बह जाती है। ऐसे लाखों मनुष्य और स्त्रियाँ संसार में हैं जो सब साधन रखते हुए भी कोई विशेष कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि उनके पास कोई भी आदर्श नहीं। वे साधारण लोगों की तरह दूसरों के गुलाम बन कर जीवन व्यतीत करते हैं— उनके गुलाम जिनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर है और जो किसी प्रकार का भी चरित्र-बल नहीं रखते; लेकिन उन लोगों के पास एक आदर्श होता है, वे उसी के बल पर समाज का धन समेट लेते हैं।

आदर्शवान् व्यक्ति कौन है? वह, जो अपने ध्येय के लिए पागल हो; जो उसकी प्राप्ति के लिए सब-कुछ बलिदान करने को तैयार हो; जो सब प्रकार के कष्ट अपने लक्ष्य के लिए सह सके और जो मान-अपमान को ताक पर रखकर अपने उद्देश्य के लिए मर मिटे। ऐसे व्यक्ति के लिए संसार में कुछ भी असम्भव नहीं। प्रकृति की सब बाधाएँ, समाज की सब रुकावटें और उसका रास्ता रोकने वाले सब लोग उसे देखकर अलग हट जाते हैं—वे उसे रास्ता दे देते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि उसकी शक्ति पहाड़ी नदी की उस बाढ़ की तरह है जो अपने रास्ते की सब रुकावटों को बहा ले जाती है।

भारतवर्ष के पास उत्थान के सब साधन थे, परन्तु आदर्श की क़मी थी। अपना सारा साहित्य देख जाइये, पहले पन्ने से लेकर आखिरी पन्ने तक खोज डालिये, भारतीय राष्ट्र का आदर्श आपको कहीं नहीं मिलेगा। पिछले एक हज़ार वर्षों का संस्कृत साहित्य कोई नया सन्देश नहीं देता! वही पिछली गाथायें, वही पिछले वीरों के चरित्र और उनकी प्रशंसा! भारतीय राष्ट्र किस प्रकार बन सकता है, कन्याकुमारी से हिमालय तक बसने वाले हिन्दू कैसे एक सूत्र में बद्ध हो सकते हैं, किस प्रकार प्रान्तीयता, जात-पांत और छूत-छात नष्ट हो सकती हैं, इत्यादि बातों पर किसी

ने भी विचार नहीं किया। जो जन-साधारण का साहित्य है वह भक्ति, शृङ्गार और नवीन वेदान्त से ओत-प्रोत है; उसमें राष्ट्रीयता की गन्ध भी नहीं। जिस देश का ऐसा साहित्य हो उसे ब्रह्मा भी राष्ट्र का रूप नहीं दे सकता। जो भक्त लोग आये उन्होंने देश की भीषरा समस्याओं पर गम्भीरता से विचार नहीं किया, केवल ऊपर से छूकर ही इलाज किया है। देश की राजनीतिक समस्याओं से वे ऐसा ही डरते रहे जैसा कि वर्तमान काल के राजभक्त डरते हैं। भक्ति-मार्ग सिखलाने वालों ने तो जनता को और भी नपुंसक बना दिया, उन्होंने उद्योग और पुरुषार्थ की जड़ काट दी, झूठे वैराग्य और मायावादी वेदान्त ने जनता को जीवन-संग्राम के सर्वथा अयोग्य बना दिया।

तो क्या इसमें कोई आश्चर्य है कि सब साधन रहते हुए भी इस देश ने दासता की भयंकर मार एक हज़ार वर्षों तक सही? वे क्षत्रिय वीर कर ही क्या सकते थे? आदर्श-हीन वे केवल अपनी-अपनी बिरादरियों और छोटे-छोटे राज्यों की रक्षार्थ ही लड़ते रहे। महाराज पृथ्वीराज का शहाबुद्दीन गौरी के साथ युद्ध हमें साफ़ बतलाता है कि उनके पास कोई आदर्श नहीं था। राणा संग्रामसिंह वीरशिरोमणि थे, परन्तु ध्येय के न होने से वे थोड़ी सेना रखनेवाले विदेशी बाबर से मार खा गये। इसी प्रकार वीर प्रतापसिंह का दुःखद इतिहास है। जिन शिवाजी महाराज के हम गुण गाते हैं, राष्ट्र का आदर्श उनके पास भी नहीं था। मराठों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने एक राष्ट्र बनाने का यत्न नहीं किया, इसीलिए वे विदेशियों से पराजित हुए।

कैसे मुट्ठी भर अंग्रेज विशाल भारत के शासक बन गये और उन्होंने सब राजा-महाराजा और नवाबों को गुलामी के द्वार पर बिठला दिया? इसका उत्तर स्पष्ट है। इङ्गलैण्ड के पास आदर्श था—बृहत् साम्राज्य स्थापित करना। इङ्गलैण्ड के शासकों के मस्तिष्क में साम्राज्य स्थापित करने की स्कीम थी। उन्होंने अपना सर्वस्व उस पर लगा दिया और सफल-मनोरथ हुए। वे हमसे अधिक वीर न थे; मुट्ठी भर थे; चरित्र

में हमसे ऊँचे न थे; धन उनके पास नहीं था; परन्तु उनके पास एक संगठित आदर्श था जिसके कारण वे कामयाव हुए।

भला इस बीसवीं शताब्दी में आज भारतवर्ष ऐसा अद्भुत बलिदान करने के लिए कैसे खड़ा हो गया? क्योंकि आधुनिक भारत के पास अपना एक आदर्श है। अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीयों को संसार के इतिहास से परिचित कराया। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में ऐसे लोग पैदा हुए जिनमें पहले प्रान्तीय आदर्श की स्फूर्ति हुई। बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जी जैसे लेखकों ने बंगाल में राष्ट्रीयता भरी, परन्तु प्रान्तीयता का रंग लिये हुए। इसी प्रकार दूसरे प्रांतों में भी लोग खड़े हुए। लेकिन स्वामी दयानन्द सरस्वती और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक उन्नीसवीं सदी के राष्ट्रीय-आदर्शों के सच्चे जन्मदाता हुए हैं, जिनके सामने देश की स्वाधीनता और स्वदेशी का आदर्श बिल्कुल स्पष्ट था। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का उपकार तो निस्सन्देह भारत-सन्तान कभी नहीं भूल सकती कि जिन्होंने भारतवर्ष के लोगों को अपना पिछला गौरव बतलाकर स्वाधीनता के आदर्श को स्पष्ट कर एक राष्ट्र की सजीव मूर्ति जनता के सामने खड़ी कर दी। जैसे शरीर प्राणों के बिना निर्जीव होता है, वैसे ही किसी राष्ट्र की प्रजा आदर्श के बिना मुर्दा होती है। मेज़िनी ने इटली को राष्ट्र का आदर्श दिया, उसी की स्फूर्ति पाकर इटली के नवयुवक संगठित हुए। जर्मनी, फ्रांस, आयरलैण्ड और अमरीका के इतिहास भी हमें यही शिक्षा देते हैं।

अतएव किसी राष्ट्र के उत्थान के लिए सबसे पहली चीज़ उसका आदर्श है। जैसा आदर्श राष्ट्र रखता है, वैसी ही शक्तियों से वह सम्पन्न हो जाता है। आदर्श विचारों का पुञ्ज है। यदि छोटा आदर्श है तो विचारों की उड़ान दूर तक नहीं जायेगी; इसलिये आदर्श सदा ऊँचा रखना चाहिये, तभी शक्तियों का पूर्ण विकास होता है। यदि आज भारतवर्ष के सामने प्रान्तीयता का ध्येय रहेगा और प्रत्येक प्रान्त अपनी ही उन्नति को मुख्य समझकर पैर बढ़ायेगा और बंगाल वालों की तरह

सात करोड़ बंगालियों के ही गीत गायेगा, तो विशाल-भारत का निर्माण कभी नहीं हो सकता। उलटा कभी अवसर आने पर इस देश के खण्ड हो जायेंगे और योरुप की तरह यह राष्ट्रों का समूह बन जायेगा, जो किसी भी अवस्था में वांछनीय नहीं। ऐसी ही बात को सोचकर मुसोलिनी ने इटली की प्रान्तीयता को नष्ट करने का दृढ़-संकल्प किया था। उसके छोटे-छोटे प्रान्त अपने आपको एक दूसरे का दुश्मन समझते थे। फासिज्म का आदर्श लेकर मुसोलिनी ने इटली की प्रान्तीयता को नष्ट किया था और उसे उत्थान के विशाल मार्ग पर खड़ा कर दिया था। भारतवर्ष में भी भारतीय राष्ट्र के निर्मल आदर्श को जब तक देश के कोने-कोने में नहीं फैलाया जायगा, जब तक साधारण जनता को उस आदर्श का मूर्तिमान् ज्ञान नहीं होगा, तब तक कभी भी हमारा सुदृढ़ संगठन नहीं हो सकता। राष्ट्र के उत्थान के लिए आदर्श की स्पष्टता, उसका सर्वसाधारण में प्रचार अत्यावश्यक है।

राष्ट्रोत्थान के लिए दूसरी चीज़ है साहित्य। जब आदर्श स्पष्ट हो जाये तब प्रत्येक कवि और लेखक का धर्म है कि वह अपनी लेखन-शक्ति का उपयोग इस पवित्र कार्य के लिए करे। वह जनता को उस ध्येय के प्रत्येक अंग की उपयोगिता समझावे और ऐसी कविता की रचना करे जिसमें उस आदर्श की पूर्ति का मार्ग बतलाया हुआ हो। साहित्य जनता का आत्मिक भोजन है। जिस प्रकार के ग्रन्थ किसी राष्ट्र के बच्चे पढ़ते हैं, वैसा ही उनका मस्तिष्क और शक्तियां हो जाती हैं। लोग हमसे पूछते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता के होते हुए हिन्दू भीरु क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि आम जनता झूठे वैराग्य के गीत सुनती है, शृङ्गार-रस से भरी हुई गाथाएँ और कविताएँ पढ़ती है, भूत-प्रेत, जादू-टोना और झूठी दया के वातावरण में सांस लेती है, भय के दुर्ग इसके चारों ओर खड़े हैं, तब भला इस जाति के लोग निर्भय कैसे हो सकते हैं? जो गीता पढ़ते हैं वे भी उसे अनासक्ति-रूप में देखकर, उसके व्यक्तिवाद में डूब कर केवल अपनी शान्ति की तलाश में रहते हैं। यही हिन्दुस्तानी तो

सिपाही हैं, जिनकी सहायता से अंगरेजों ने चिरकाल तक साम्राज्य सुदृढ़ किया था और जिनके सहारे यह खड़ा रहा। यह सब कमजोरी बुरे साहित्य के कारण रही। हमें बचपन से ऐसे ही विचार माता-पिता से, गुरु से और साधु-महात्माओं से मिलते हैं, जो हमें अत्यन्त डरपोक बना देते हैं। जब तीर्थों पर जाते हैं तो बन्दर, कछुए और मगरों का भय हमारे बच्चों के दिलों में जम जाता है; तब भला हम किस बूते पर निर्भीक हो सकते हैं ?

स्मरण रखिये, यदि आप अपने राष्ट्र का उत्थान चाहते हैं तो ऐसी सभी पुस्तकों, गीतों और विचारों को समूल नष्ट कर दीजिए जो भारतीय आदर्श के विघातक हैं। जब आपका आदर्श स्पष्ट है तो उसकी सिद्धि के लिए आपको अपनी प्यारी-से-प्यारी वस्तु बलिदान कर देनी होगी। इस प्रकार की कहावतों, उक्तियों और कविताओं की रचना कीजिए जो आदर्श के मार्ग में बाधा देने वाले विचारों को दूर करें और संगठन की भावना जागृत करें। जब इंगलिस्तान के लोगों में साम्राज्य स्थापित करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई थी तो वहां के लेखकों और कवियों ने वैसे ही साहित्य को जन्म दिया था। शुद्ध राष्ट्रीयता तभी सुदृढ़ होती है जब अपनत्व की भावना जागृत हो; दुनिया को मिथ्या न समझा जावे, बल्कि वह सत्यस्वरूप दिखाई दे। हम तो पुनर्जन्म को मानते हैं। हमारे लिए यह अत्यन्त स्पष्ट होना चाहिये कि 'संसार सत्य है, मिथ्या नहीं।' 'मृत्यु केवल परिवर्तन का नाम है, नाश का नहीं।' 'हम मरकर फिर नया शरीर धारण करेंगे और अपनी इच्छानुसार इसी देश में जन्म लेंगे।' पिछले सत्याग्रह-संग्राम में जो हजारों नवयुवक और युवतियां जुटी थीं, वह सब उसी-साहित्य का परिणाम था जो कि पिछले पचास वर्षों में इस देश में लिखा गया था। यदि हममें इस प्रकार की सामाजिक बुराइयां, मिथ्या-वैराग्य के गन्दे विचार और शृङ्गार-रस का इतना अधिक साहित्य न होता तो आज भारतवर्ष कभी का शक्तिशाली हो जाता। दुःख की बात यह है कि हमारे पास गन्दा और अश्लील साहित्य इतना अधिक है,

हमारे पुराण और दूसरे ग्रन्थ इस प्रकार की लचर बातों से भरे हुए हैं कि जिनकी वजह से हमारे चरित्र का दर्जा बहुत नीचा हो गया है। चार आदमी जहां बैठकर हँसेंगे, वे फौरन अश्लीलता पर उतर आयेंगे। गली में जाइये, चाहे बाजार में; रेलगाड़ी में बैठिये, चाहे नदी-किनारे; विवाह-उत्सवों में सम्मिलित हूजिये अथवा रेलों में जाकर देखिये; हमारे लोगों का चरित्र ऐसा हीन है, उनके विचारों में इतनी गन्दगी है कि वे ऊंची बात सोच ही नहीं सकते। जहां कहीं ठट्ठा-मसखरी की बातें होंगी वहीं अश्लीलता, बुरा मज़ाक सुनाई देगा। हमारे शिक्षित कवि अपना सम्मेलन करने बैठते हैं, तब वहां भी उनके मस्तिष्क की गन्दगी की धारा बहने लगती है। ऐसा क्यों है? केवल इसलिए कि हमारा पिछले पांच सौ वर्षों का संस्कृत और हिन्दी का साहित्य बहुत अधिक शृङ्गार-रस में रंगा हुआ है।

संक्षेप में इस विषय पर हमारा कहना यह है कि यदि भारतवर्ष पिछले एक हज़ार वर्षों से विदेशियों के पांवों-तले रौंदा गया, तो इसके विशेष कारण थे। इसमें किसी को दोष देने की आवश्यकता नहीं। हमारे ख़ुशामदी लेखकों और कवियों ने अपनी कलम का सारा ज़ोर राजाओं की खुशामद और धनियों की तारीफ़ में लगा दिया। जैसा साहित्य उन्होंने पैदा किया, जैसे विचारों को उन्होंने गाया, वैसा ही जनता को उन्होंने बनाया। साहित्य प्रजा की आत्मा होती है। उन ग्रन्थों से हिन्दू जनता की निर्बल आत्मा का दर्शन होता है। शताब्दियों से पड़े हुए वे बुरे संस्कार आज हमें इस बीसवीं सदी में कैसे भौंडे और नीच मालूम होते हैं और हमें आश्चर्य मालूम होता है कि वे हमारे पूर्वज कैसे थे जो केवल दूसरों को खुश करने में ही अपना मस्तिष्क खर्च करते थे! आज हमें उनके पापों का प्रायश्चित्त करना है और ऐसे साहित्य की रचना करनी है जो विशाल भारत का निर्माण करे और भारतीयों को उनकी श्रेष्ठतम संस्कृति के योग्य बनावे। आज कवियों और लेखकों का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। पुस्तकें लिखने से यदि धन मिलता है तो उसे गौण

समझना चाहिये; मुख्य हेतु आदर्श की पूर्ति के लिए सामग्री जुटाना है। यदि हमारी कोई पुस्तक, हमारा कोई विचार, हमारी कोई कविता और कोई लेख जनता को आदर्श से भ्रष्ट करने वाला हो, तो तत्काल उसका गला घोंट देना चाहिये और लाखों रुपये मिलने पर भी जनता को पथ-भ्रष्ट होने देना उचित नहीं। साहित्य-सेवियों का राष्ट्र के उत्थान में बहुत बड़ा भाग है। वे उसके निर्माता होते हैं। उनका काम रचनात्मक कार्य करना है, कल्पना-शक्ति के घोड़े दौड़ाना नहीं; खाली पत्तों, फूलों, हवा और पानी के शब्दों से मनमाने भाव निकाल कर अपना चित्त प्रसन्न कर लेना या दूसरे बेकार धनियों को प्रफुल्लित करने में किसी कविता का महत्व नहीं। वह है केवल मानसिक विलास। कवि के रंगीले शब्दों की आप प्रशंसा कर लें, उसकी कल्पना-शक्ति की उड़ान के आप गीत गा लें और उसकी अलबेली बातों से आप सन्तुष्ट हो जाएं, परन्तु उससे जन-साधारण का कोई कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार की कविताएं और लेख बहुत लिखे गये, उनके लिये कवियों ने धनवानों से खूब पैसा भी पा लिया और उपाधियां भी ले लीं, परन्तु उनसे राष्ट्र का उत्थान नहीं हुआ। राष्ट्र का उत्थान तो उन कविताओं से होता है जो जन-साधारण में बल भरती हैं, उन्हें आत्म-विश्वास सिखलाती हैं, उन्हें मनुष्य बनाती हैं, और उनके चरित्र को ऊँचा करती हैं। कवि और लेखक तो राष्ट्र से अलग हो ही नहीं सकते। वे राष्ट्र की रोटी खाते हैं और उसी के नागरिक हैं। उन्हें कोई अधिकार नहीं कि वे थोथी बातों में अपना और दूसरों का समय नष्ट करें और सामने खड़ी हुई भयंकर समस्याओं के हल करने में जनता की मदद न करें। आज तक किसी हिन्दी कवि ने कोई लोक-प्रिय राष्ट्रीय गीत नहीं दिया, जिसे हजारों नागरिक मिलकर गा सकें और उसके अर्थ समझ सकें। 'वन्दे मातरम्' का गीत ऐसा विकट, जटिल और दुर्बोध है कि उसका अर्थ भी लोग नहीं समझ सकते, फिर जबरदस्ती उसे गाया जाता है। आज इस बात की बड़ी जरूरत है कि हम स्वाधीन-भारत के आदर्श की पूर्त्ति के अनुकूल साहित्य की रचना

करें; तभी हमारा उत्थान सुदृढ़ होगा।

हमने आपके सामने दो बातें रक्खी हैं—आदर्श और आदर्श का प्रचार करने वाला साहित्य। जब आदर्श स्पष्ट हो जाय, तो सुन्दर और सुबोध साहित्य द्वारा उसका प्रचार जनता में किया जाना चाहिए। परन्तु इतने ही से किसी राष्ट्र का उत्थान नहीं हो सकता। तो फिर तीसरा ऐसा कौन सा साधन है जिसकी सहायता से राष्ट्रों का उत्थान हो सकता है? लीजिये, अब हम आपके सामने अत्यन्त उपयोगी तीसरे साधन की विस्तृत व्याख्या करते हैं।

प्रकृति में हम क्या देखते हैं? क्या प्रकृति हमें यह नहीं सिखलाती कि संसार संग्राम-भूमि है? हमारे चारों तरफ़ युद्ध हो रहा है। कोई भी पौधा पनप नहीं सकता, उसका विकास नहीं हो सकता, वह वृक्ष नहीं बन सकता, जब तक कि उसमें विरोधात्मक वातावरण का सामना करने की शक्ति न हो। सरल-हृदय किसान भी इस बात को जानता है कि उसका लहलहाता खेत कभी मनोवांछित फल नहीं दे सकता, यदि वह कोमल पौधों को इर्द-गिर्द के नाशकारी निकम्मे झाड़-झंकाड़ों और कीट-पतंगों से नहीं बचायेगा। कुहरा भी उसके खेत का शत्रु है। ओले भी उसकी खड़ी हुई फसल का सत्यानाश कर देते हैं। जिन शत्रुओं को दूर करने की योग्यता उसमें मौजूद है, उनका सामना वह अपनी पूरी शक्ति लगा कर करता है और जहाँ वह अपनी बेबसी देखता है वहाँ वह सिर झुकाकर भाग्य के भरोसे पर रह जाता है।

स्मरण रखिए, व्यक्ति और राष्ट्र के उत्थान का रहस्य इस एक बात पर अवलम्बित है कि विरोधात्मक ताकतों का मुकाबिला करने की शक्ति व्यक्ति और राष्ट्र में किस दर्जे तक है। छोटा-सा ठण्डी हवा का झोंका हजारों मनुष्यों को व्याधियों से जकड़ देता है और बहुत से भाग्य-शाली वीर्यवान् पुरुष ऐसे हैं जो बर्फीले मैदानों में भी नंगे सिर मस्त होकर घूमते हैं—शीत उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। ज्येष्ठ-आषाढ़ की जिस धूप में भारतीय किसान निःसंकोच होकर अपने खेत में

घूमता-फिरता है, वही धूप सुकुमार लोगों को बीमार कर देती है और कुछ को मृत्यु के घाट भी उतार देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र को यदि अपना उत्थान करना है, तो उसे बड़ी सावधानी से अपने इर्द-गिर्द निरीक्षण करना होगा। विरोध करने की शक्ति (Power of Resistence) जितने दर्जे तक आप में मौजूद है, उसी निस्वत से आपका उत्थान अवश्यम्भावी है। लाखों मनुष्य और स्त्री उत्थान के इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं, इसी कारण उन्हें जीवन में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

आप भारतवर्ष के इतिहास को ही ले लीजिए। इस देश पर आक्रमणकारी आए, परन्तु हम में विरोध करने की शक्ति नहीं थी, इस लिए उनके सामने सिर झुका दिया। चार सौ लड़ाकू शस्त्रधारी पठानों ने प्रान्त विजय कर लिए। क्यों ? क्या उन प्रान्तों में बलवान् स्त्री-पुरुष नहीं थे ? थे, किन्तु उनमें विरोध करने की हिम्मत नहीं थी, उनमें संगठन नहीं था। भारत का पिछले एक हजार वर्ष का इतिहास हिन्दुओं की इस नासमझी का इतिहास है। हिन्दू कभी भी अपने इर्द-गिर्द नहीं देखता, मानो आत्मरक्षा की भावना उसमें से नष्ट होगई हो। वह इतना अधिक वेदान्ती, झूठा वैरागी और किस्मत का गुलाम है कि उसने उत्थान के इस सत्य सिद्धान्त पर कभी भी गम्भीरता से विचार नहीं किया। जो मानसिक अवस्था जन-साधारण की होती है उसी के अनुसार राष्ट्र का मस्तिष्क बन जाता है। भारतवर्ष में ऐसा ही हुआ। हमारे पड़ोस में ज्वालामुखी पर्वत फटा। उसमें से निकला हुआ लावा इर्द-गिर्द के देशों को भस्म करता हुआ हमारे देश की सीमा तक आ गया, किन्तु हमें खबर तक नहीं हुई। एक प्रान्त में विदेशी डाकू भयंकर मार-काट कर रहे हैं, मन्दिर तोड़ रहे हैं, खजाने लूट रहे हैं, पर दूसरे पड़ोसी-प्रान्त के लोग चुपचाप बैठे ताक रहे हैं। क्या आप आशा कर सकते हैं कि इस प्रकार का राष्ट्र कभी उठ सकता है ? ऐसे राष्ट्र के लोगों को तो दूसरों की लकड़ियाँ चीरना और उनका पानी भरना ही पड़ेगा।

अतएव सावधान होकर सुनिए। संसार का पिछले हजारों वर्षों का अनुभव यह है कि प्रत्येक राष्ट्र का यह परम धर्म है कि वह परिस्थिति के अनुसार अपने में विरोधात्मक शक्ति (Power of Resistence) तैयार रक्खे। ऐसा न सोचे कि अवसर आने पर सब कुछ हो जायगा। घर में आग लगने पर कुआँ नहीं खोदा जाता। यदि इंगलिस्तान के लोग इस नियम को भली प्रकार समझ कर अपनी जंगी जहाजी शक्ति को इर्द-गिर्द के शत्रुओं के मुकाबिले में तिगुनी न रखते, तो क्या वे आज अपना साम्राज्य कायम रख सकते थे? नहीं नहीं। उनका अस्तित्व ही मिट जाता, उनकी स्वाधीनता नष्ट हो जाती, यदि वे फ्रान्स, जर्मनी और इटली, इन तीन शक्तियों के मुकाबिले की सामुद्रिक शक्ति अपनी मुट्ठी में न रखते। शेखचिल्ली बनने से संसार के काम नहीं चला करते। दुनिया ठोस चालों की शतरंज है। यदि आप उन ठोस बातों को मिथ्या समझ कर भाग्य के भरोसे बैठे रहेंगे, तो आपको गुलामी सहनी ही पड़ेगी। क्या अमरीका अपना ऋण योरुप की शक्तियों से वसूल कर सकता है, यदि उसके पास ठोस लड़वैये न हों? उस छोटे से जापान को देखिये जो सारी दुनिया की सम्मति की परवाह न कर, रूस के विरुद्ध मंचूरिया में अकड़ कर खड़ा होगया था। वह किस बूते पर? इसलिए न कि उसके पास दुर्दमनीय सेना थी!

हम यह नहीं कहते कि आप सदा अपने इर्द-गिर्द चोर-डाकू ही देखते रहें, या सदा दूसरों से लड़ने के स्वप्न ही आपको आते रहें। हमने जापान का उदाहरण आदर्श के तौर पर पेश नहीं किया और न हम गुण्डेबाजी की राजनीति के पक्षपाती ही हैं, परन्तु हम यह भी नहीं चाहते कि आप अपने इर्द-गिर्द के लोगों को बिल्कुल देवता समझ कर अफ़ीम-चियों की तरह बैठकर ऊँघा करें। हम बुरी-से-बुरी परिस्थिति के लिए सदा तैयार रहने के पक्षपाती हैं। व्यवहारकुशल राष्ट्र ही अपना उत्थान कर सकता है—जो व्यवहार में कच्चे हैं और कोरे आदर्शवादी हैं, वे अपना उत्थान नहीं कर सकते। यह सत्य है कि हमें संसार में भ्रातृ-भाव

फैलाना है; यह भी सत्य है कि हम युद्ध के विरोधी हैं और संसार में शान्ति चाहते हैं; परन्तु यह भी ध्रुव-सत्य है कि केवल हमारी इच्छा-मात्र से ही दुनिया के नियम नहीं बदल सकते। हमारा पिछले एक हज़ार वर्ष का अनुभव बड़ा कडुआ है, लेकिन दुःख की बात यह है कि हम लोग अब तक भी बुद्धू-के-बुद्धू ही बने हुए हैं। हमने अभी तक भी संसार-संग्राम के रहस्य को नहीं समझा। जंगली जातियां भी अपनी परिस्थिति के अनुकूल विरोधात्मक शक्तियां पैदा करने का प्रयत्न किया करती थीं और जब वे अपने से अधिक बलवान् के साथ संघर्ष में आईं तो उनका नामोनिशान मिट गया। हम लोगों ने भी जब मुग़ल-शक्ति को पराजित कर अपना राष्ट्र स्थापित कर लिया, तब उस बलिदान से प्राप्त किये हुए राष्ट्र की हम योरुपीय जातियों के मुक़ाबिले में रक्षा न कर सके, क्योंकि हम लोगों ने प्रकृति के इस उपयोगी सिद्धान्त की महत्ता को नहीं समझा था। प्रकृति माता के साम्राज्य का यही अटल नियम है—अपने अन्दर विरोधात्मक शक्ति पैदा करना। जिन जातियों को भोजन आराम से मिल सकता है, वे कठिनाई से भोजन पैदा करने वाली जातियों के मुक़ाबिले में ठहर नहीं सकतीं।

पिछले महासमरों ने इस सिद्धान्त को बहुत स्पष्ट कर दिया। जर्मन राष्ट्र इतना शक्तिशाली था कि वह सारे संसार के मुक़ाबिले में डटा रहा और उसके सिपाही ऐसी वीरता से लड़े कि उनके विरोधी भी उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सके। विरोधात्मक शक्ति के अन्त होते ही जर्मनी को पराजित होना पड़ा। आज तो विज्ञान के युग में शारीरिक बल के स्थान पर विरोधात्मक मानसिक शक्ति की अधिक आवश्यकता है। वह विरोधात्मक मानसिक शक्ति राष्ट्र में कैसे उत्पन्न हो सकती है, इसकी विवेचना करना परमावश्यक है।

आदर्श, साहित्य और आरोग्यता—इनके विषय में तो हम बतला ही चुके हैं; व्यायाम की व्याख्या हमने विस्तार से अभी तक नहीं की। विरोधात्मक शक्ति उत्पन्न करने के लिए देश में व्यायामशालाओं का होना तो

परमावश्यक है ही, परन्तु बलशाली नागरिकों को हम किस प्रकार परिश्रमी, धैर्यवान् और अध्यवसायी बना सकते हैं, यह बात गम्भीरता से विचार करने के योग्य है। जब अच्छे-अच्छे बलवान् मनुष्य कठिन परिश्रम के सामने कायर हो जाते हैं और एक पतला-दुबला मनुष्य घण्टों लगातार कष्ट सह कर उस काम को पूरा कर लेता है, तब हम बे-इख़्तियार कह उठते हैं, "यह है विरोधात्मक शक्ति का उदाहरण !" यह शक्ति राष्ट्र में कैसे उत्पन्न होती है ?

अब हम उतरते हैं शिक्षा के क्षेत्र में। जिस दर्जे की शिक्षा कोई राष्ट्र अपनी संतान को देता है, उसी दर्जे तक वहाँ के नागरिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। शिक्षा-प्रणाली भी परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। एक समय था जब कि योरुप में लैटिन और ग्रीक भाषाओं के पंडित बड़े विद्वान् माने जाते थे और कोई भी शिक्षित मनुष्य इन भाषाओं को जाने बिना पढ़े-लिखों में आदर नहीं पा सकता था। परन्तु आज वह परिस्थिति नहीं रही। यह है विज्ञान और कला-कौशल का युग। इस युग में भाषाओं का पाण्डित्य धनोपार्जन कहीं करा सकता और न राष्ट्र के लिए लाभदायक ही बना सकता है। अतएव वर्तमान युग में विज्ञान और कला-कौशल के सीखने की बड़ी ज़रूरत है। पग-पग पर इसका काम पड़ता है और जो औज़ारों का प्रयोग नहीं जानते उन्हें साधारण कारीगरों की भी गुलामी करनी पड़ती है। इसलिए जो राष्ट्र अपनी शिक्षा को तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुसार नहीं बनाता, वह पिछड़ा हुआ राष्ट्र कहलाता है। उसके नागरिकों में विरोधात्मक शक्ति पूरे दर्जे तक नहीं आ सकती। शिक्षा के विषय पर आजकल चिन्तनशील विद्वानों में बहुत कुछ विचारभेद है, परन्तु हम अपनी स्वतन्त्र राय आपको कल के व्याख्यान में बतलायेंगे।

चौबीसवाँ पुष्प

शिक्षा का आदर्श

[शिक्षा-सम्बन्धी श्री स्वामी जी का व्याख्यान सुनने के लिए आज नहर पर बड़ी भीड़ हुई, क्योंकि इस व्याख्यान को स्वामी जी महाराज ने भारत के बड़े-बड़े नगरों में हज़ारों श्रोताओं के सामने दिया था। यह उनका अत्यन्त प्रसिद्ध व्याख्यान होने के कारण हरिद्वार के साधु-महात्मा इसे सुनने को बड़े उत्सुक थे और शिक्षा के विषय में स्वामी जी का विचार जानना चाहते थे। उसी व्याख्यान को आधुनिक रूप में हम अपने पाठकों के सामने रखते हैं।]

"Decisive changes in human opinion—political, religious, or scientific—involve corresponding change in the purpose and methods of education".

—*Compagre.*

भारतवर्ष में इस समय शिक्षा की पुकार मची हुई है। देशहितैषी सज्जनों ने इस बात को भली प्रकार समझ लिया है कि बिना शिक्षा के इस देश का कल्याण नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न बिरादरियों के नेता लोग अपने-अपने कार्यक्षेत्र में शिक्षाप्रचार का यत्न कर रहे हैं। कायस्थों की पाठशालायें तथा कालेज खुल रहे हैं, राजपूत-सभायें अपने अनपढ़ भाइयों की शिक्षा का प्रबन्ध कर रही हैं, वैश्य-सभायें अपने वार्षिकोत्सव रच कर शिक्षा फैलाने में उद्यत हैं, सिक्ख भी गाँव-गाँव स्कूल खोल कर अपनी अविद्या दूर करने पर कटिबद्ध हैं; सब से बढ़कर जागृति के चिन्ह ये हैं कि तेली, बढ़ई, लोहार और अस्पृश्य कहलाने वाले मजदूरी-पेशा भारतीय भी शिक्षा ग्रहण करने के लिए चिन्तित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आज भारत के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक यही आवाज हमारे कानों में आती है—"शिक्षा के बिना भारत का कल्याण नहीं हो सकता।"

परन्तु प्रश्न यह है कि किस प्रकार की शिक्षा हमारे बच्चों को इस बीसवीं शताब्दी में अन्य सभ्य जातियों के सम्मुख खड़े होने के योग्य बना सकती है; नहीं, बल्कि किस प्रकार की शिक्षा द्वारा हम स्वाभाविक जीवन बना कर संसार की जातियों का सामना करते हुए मनुष्य-जीवनोद्देश्य को पूर्ण कर सकते हैं। यदि शिक्षा से अभिप्राय उस सड़ी, गली, बोदी, संकुचित, शब्दाभास, हेत्वाभास, अवच्छेदिकावच्छिन्न वितण्डावाद से है, तो हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि ऐसी शिक्षा द्वारा देश का कल्याण होना असम्भव है। यदि शिक्षा से मतलब समय-कुसमय अंग्रेजी की टांग तोड़ना हो, अथवा मुँह में चुरट दबा, कोट पतलून की सेवा करनी हो, अथवा नौकरियों की तलाश में 'हां हजूर' का अभ्यास करना हो, तो ऐसी शिक्षा से अशिक्षित रहना अच्छा होगा।

संसार परिवर्तनशील है। शिक्षा का ढंग भी देश-काल की आवश्यकताओं के अनुसार बदलता है। जो आवश्यकताएं हमारी आज से दो हजार वर्ष पहले थीं, वे आज नहीं हैं। जिन चीजों की जरूरत आज से पांच सौ वर्ष पहले थी, आज उनके स्थान पर नई-नई जरूरतें खड़ी हो गई हैं। देश की अवस्था जो आज से तीन सौ वर्ष पहले थी, वह अब नहीं है। इसलिए स्वाभाविक ही हमारी शिक्षा का ढंग वह नहीं हो सकता जो कि आज से कई सौ वर्ष पहले था; क्योंकि जैसी शिक्षा जाति के बच्चों को दी जायेगी उसी के अनुसार जाति की सभ्यता होगी। यदि शिक्षा देश-काल के अनुसार वर्त्तमान जीवन-संग्राम को पूरा करने के योग्य नहीं है, तो कभी भी उस शिक्षा में पले हुए व्यक्ति जीवन-दौड़ के भयंकर संग्राम में नहीं ठहर सकते। गति जीवन का दूसरा नाम है। जो सभ्यता गतिवान् है, जिसकी शिक्षा काल की गति के अनुसार है, उसके नष्ट होने का भय नहीं। शिक्षाप्रणाली भी नये-नये आविष्कारों से विभूषित, नई-नई आवश्यकताओं को पूरा करने वाली तथा जीवनप्रद होनी चाहिए। जैसे नदी का बहता हुआ जल सदा ताजा और जीवनदाता होता है, वैसे ही किसी पोखर का स्थिर जल गंदगी और बीमारियों को फैलाने वाला

होता है। यद्यपि दोनों प्रकार के जल जलत्व के समान गुण रखते हैं—उनमें जल के प्रधान गुण विद्यमान हैं—किन्तु भेद केवल इतना ही है कि एक गतिवान् है, दूसरा स्थिर। जो स्थिर है वही पीछे है, वही मृतप्राय है, उसी का अन्त निकट है।

हम आज संसार से पीछे तथा अन्य जातियों के घृणापात्र क्यों हैं? इसका कारण हमारी शिक्षा है। हमारे देश में सैकड़ों पाठशालायें हैं, जिनमें हजारों विद्यार्थी पढ़ते हैं। इन पाठशालाओं के चलाने में देश का लाखों रुपया खर्च होता है। वे विद्यार्थी जब संस्कृत की उच्च से उच्च परीक्षा पास करके निकलते हैं, तो उनको बीस-पच्चीस रुपये की नौकरी भी नहीं मिलती और यदि उनसे देश, जाति, इतिहास, भूगोल, शिक्षा और विज्ञान आदि विषयों पर कोई प्रश्न किया जाये, तो वे बेचारे बगलें झाँकने लगते हैं। उनकी शिक्षा न तो उनको इस योग्य बनाती है कि वे अपना जीवन-निर्वाह भली भाँति कर सकें और न वे अच्छे नागरिक ही बन सकते हैं। उनकी वही दशा है जो आज से तीन सौ वर्ष पहले योरुप के विद्वानों की थी। भारत की अवनति का बड़ा भारी कारण यदि कोई हुआ है तो वह यह कि हमारी जाति के नेताओं ने कालक्रमानुसार शिक्षा-प्रणाली के बदलने का यत्न नहीं किया। यूनानी यहाँ पर आये; उन्होंने हमें ठोकरें लगाईं; हमारे ग्रन्थ चुराकर ले गये; परन्तु हमने उनसे कुछ भी शिक्षा ग्रहण न की। मुसलमानों के जबरदस्त धावे हुए। वे हमारे ग्रन्थ, हमारे रत्न, हमारा धन चुरा कर ले गए, परन्तु हमने तिस पर भी कुछ न सीखा। हम अपने अभिमान में चूर रहे; हमने दूसरों से कुछ भी शिक्षा न ली। चाहिये तो यह था कि हम काल की गति के अनुसार अपने पड़ोसियों के सद्गुणों से अपनी भाषा का भण्डार भरते और अपने बच्चों को अपनी उच्च सभ्यता की शिक्षा देते हुए उनको काल की गति के अनुसार अन्य जातियों के इतिहास तथा उन्नति के उपायों से परिचित रखते। यदि ऐसा किया गया होता तो कभी भी भारत की यह अधोगति न हुई होती और न हम अन्य जातियों से इतने पीछे होते।

यहाँ पर नई और पुरानी शिक्षा के परिणाम भारतीय इतिहास के द्वारा हम दिखलाते हैं। हमारे इतिहास में महाराणा प्रताप और महाराजा शिवाजी दो ऐसे महापुरुष हुए हैं जिनकी तुलना द्वारा पुरानी और नई शिक्षा का परिणाम भलीभांति समझ में आ सकता है। महाराणा प्रताप प्राचीन सभ्यता के ज्वलन्त उदाहरण थे। उनकी वीरता, साहस, ब्रह्मचर्य तथा आत्म-बलिदान की शक्ति अलौकिक थी। परन्तु इन गुणों के होते हुए भी वे अपने उद्योग में सफलता प्राप्त न कर सके, क्योंकि उन्होंने अपने काल की युद्ध-विद्या तथा कुटिल-नीति को नहीं समझा था। यदि वे अपने वैदिक गुणों के साथ-साथ जमाने की युद्ध-नीति को भी जान लेते, तो वे अकबर के राज्य को जड़ से उखाड़कर फेंक देते। मानसिंह के साथ उनका झगड़ा करना इस बात को स्पष्टतया सिद्ध करता है कि उन्होंने जमाने की नीति को अच्छी तरह नहीं समझा था। जहाँ एक ओर अकबर अपने कट्टर शत्रुओं को, अपनी बुद्धि-वैचित्र्य से, वश में कर मुगलों के राज्य की नींव को सुदृढ़ करने में लगा हुआ था, वहाँ दूसरी ओर महाराणा प्रताप अपने ही भाई-बन्धुओं तथा राजपूताने के बड़े-बड़े सरदारों को अपने साथ न मिलाकर उलटी उनसे घोर शत्रुता कर रहे थे। हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वे अपने धर्म को त्याग कर देते; परन्तु हाँ, यह हम अवश्य कहेंगे कि यदि वे देश और काल की गति को समझ कर काम करते तो उनको अपने कार्य में महान् सफलता प्राप्त होती और वे मुसलमानी राज्य की नसें ढीली कर देते।

अब नए युग के उदाहरण छत्रपति शिवाजी की ओर देखिए। उन में जहाँ अपने प्राचीन धर्म के लिए अति श्रद्धा थी, वहाँ वे उस समय के राजनीतिक सूत्रों में भी पारंगत थे। औरंगजेब जैसा कूटनीतिज्ञ हमारे इतिहास में दूसरा शायद ही कोई हुआ है। उसके काल में मुसलमानी राज्य भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गया था। हिन्दू-राज्यों का विरोध मिट चुका था। ऐसे समय में साधन-रहित वीर शिवाजी का खड़ा होना और औरंगजेब जैसे बादशाह को नीचा दिखा देना इस बात

का जाज्वल्यमान प्रमाण है कि देश-कालानुसार शिक्षा और शक्ति से सम्पन्न मनुष्य असम्भव को भी सम्भव कर सकता है। संसार एक युद्धक्षेत्र है। उस क्षेत्र में वही पुरुष विजयी होगा जो काल की गति के अनुसार शिक्षा-सम्पन्न होगा। पुराने जर्जर साधन किसी काम नहीं आ सकते; वे केवल म्यूज़ियम में रखने लायक रह जाते हैं।

इसलिए सोचो और विचार करो। यदि हमारी पाठशालाओं में संस्कृत भाषा द्वारा पाश्चात्यों का इतिहास, पदार्थ-विज्ञान, राजनीति, अर्थ-शास्त्र, रसायन-शास्त्र आदि विषय पढ़ाये जाते होते तथा साथ ही अपना साहित्य, अपने आदर्श पुरुषों के जीवनचरित्र, अपने देश का गौरव भारतीय बच्चों को सिखलाया जाता तो हम कभी किसी जाति से पीछे न रहते। क्या दूसरों से कुछ सीखना लज्जा की बात है? कदापि नहीं। अङ्गरेज़ संस्कृत साहित्य पढ़ हमारे गुणों से लाभ उठा रहे हैं; जर्मनों ने संस्कृत युद्ध-विद्या के ग्रन्थों का मान किया है; फ्रांसीसी हमारे दर्शनों के अनुवाद अपनी भाषा में कर फायदा उठा रहे हैं। इसके विपरीत हम केवल न्याय, व्याकरण और वेदान्त को घोटने में मस्त हो रहे हैं। बस, उन्हीं से हमें जन्म भर छुट्टी नहीं मिलती। जिस इङ्गलेंड में एक शताब्दी के पहले लेटिन और ग्रीक भाषाओं से अनभिज्ञ पुरुष विद्वान् नहीं समझा जाता था, वहाँ आज विज्ञान ने पैर जमाया है। विकासवाद ने अपनी प्रभुता शिक्षा पर कर ली है; वह धीरे-धीरे साहित्य के प्रत्येक अङ्ग में घुस गया है। जर्मनी की शिक्षाप्रणाली में रसायन-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, बढ़ई का काम, नक़शा खींचना, लोहार का काम आदि प्रधान अङ्ग हो गये हैं, क्योंकि आज उनके बिना कला-कौशल का मर्म समझना कठिन है। जिस नील के द्वारा भारतवर्ष की करोड़ों रुपये की तिजारत होती थी, उस व्यापार को जर्मनी ने अपने विद्याबल से अपने हाथ में कर लिया था। पिछली शताब्दी से शिक्षाप्रणाली के क्रम में बड़े-बड़े अद्भुत परिवर्तन हुए हैं, परन्तु भारत उन्हीं पुराने जर्जर शस्त्रों से ही संसार का सामना करना चाहता है!

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार होते ही कुछ-कुछ जागृति के चिन्ह दिखाई देने लगे थे। उन चिन्हों को देखकर बहुत से देशहितैषी समझने लगे कि अंग्रेजी शिक्षाप्रणाली ही भारतोद्धार का कारण होगी। उन्होंने अपनी सारी शक्तियों को उसी के प्रचार में लगा दिया। बहुत से स्कूल और कालिज खुल गए। उनमें से हजारों विद्यार्थी हर साल पढ़-पढ़ कर निकलने लगे। परिणाम क्या हुआ ? क्या हमारी उस शिक्षाप्रणाली ने हमको आज आधुनिक जीवन-दौड़ के योग्य बना दिया है ? क्या आज हम अन्य जातियों के मुकाबिले में खड़े हो सकते हैं ? क्या इस अंग्रेजी शिक्षाप्रणाली ने हमारा स्वाभाविक जीवन बना दिया है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' के सिवा दूसरा क्या हो सकता है ! हाँ, इस शिक्षा-प्रणाली से इतना लाभ अवश्य हुआ है कि हमें अपनी भयानक दुर्दशा का पता लगने लगा है; हमें अपनी तथा दूसरों की पोल मालूम होने लगी है। वह भी उन्हें, जो अपने साहित्य तथा अपनी सभ्यता से परिचित हैं, जो अपनी सभ्यता के गुण-दोष जानते हैं।

असल में हमें उस प्रकार की शिक्षाप्रणाली की आवश्यकता है कि जिसके द्वारा हम अपने भारतीय गुण तथा भारतीय सभ्यता रखते हुए पाश्चात्य सभ्यता के गुणों को धारण कर अपनी उन्नति कर सकें; हम अर्वाचीन जीवन-संग्राम में शस्त्र-शास्त्र-सम्पन्न हों। इस जागृति के काल में हमें अपनी सारी शक्तियों को उस स्वाभाविक शिक्षाप्रणाली के प्रचार में लगाना चाहिए जिसके द्वारा हमारा जातीय-जीवन स्वाभाविक हो—उसमें सर्व प्रकार की उन्नतियों का समावेश हो।

वह शिक्षाप्रणाली कैसी हो ? उसका आदर्श क्या होना चाहिये ? बीसवीं शताब्दी के भारत को कैसी शिक्षा की आवश्यकता है ? इस व्याख्यान में हम इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अपने विचार प्रगट करेंगे। संसार-भ्रमण के अनुभवों ने हमें इन प्रश्नों के सम्बन्ध में क्या सिखाया है, उसको आप भाइयों के सामने धरते हैं।

स्मरण रखिए, किसी जाति में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की पहचान

उसके इतिहास से होती है। जैसे महापुरुषों के जीवन-चरित्र अपने-अपने नायक की जीवन-घटनाओं को सामने रख, उसकी मानसिक अवस्था का फोटो उतार देते हैं, इसी प्रकार जाति के जीवन की भिन्न-भिन्न काल की घटनायें, उसके आदर्श, उसकी सामाजिक व्यवस्था, उसकी मानसिक स्थिति का पूरा परिचय देते हैं। विचारशील मनुष्य उन घटनाओं द्वारा जाति के सामाजिक गुण-दोषों का व्यौरा जान लेता है। जिस समय की वे घटनाएँ हैं, वे उस जाति में प्रचलित उस समय की शिक्षाप्रणाली की व्यवस्था भली प्रकार विदित कराती हैं। थरमापली के वीरशिरोमणि लियोनीडास की युद्धकथा हमें स्पार्टा जाति की शिक्षा-प्रणाली का रहस्य बतलाती है। यूनानी कला-कौशल की उन्नति का इतिहास तथा उसकी संस्कृति का योरुप पर प्रभाव हमें आश्चर्य में डालता है, परन्तु वह आश्चर्य बहुत जल्द दूर हो जाता है, जब हम यूनान की तत्कालीन शिक्षा का इतिहास पढ़ते हैं। रोमन साम्राज्य के पतन के कारणों को समझने के लिए हमें उस काल की प्रचलित पाठ्यप्रणाली को जान लेना चाहिए। दुर्दमनीय मुसलमानी फौजों की जगत्प्रसिद्ध विजयों का कारण हज़रत मुहम्मद साहब की धार्मिक शिक्षा में छिपा हुआ है; उनके अधःपतन का इतिहास उनके उस समय के संकुचित विचारों और भोग-विलास की शिक्षा का द्योतक है।

भारतवर्ष के इतिहास में जिस समय हम महमूद गज़नवी के सत्रह धावों का वर्णन पढ़ते हैं तो चकित हो जाते हैं। सोमनाथ से सैकड़ों मील दूर गज़नी! उस गज़नी से फौज लेकर महमूद आता है; उत्तर-पश्चिम के पहाड़, नदियाँ, मैदान सब तय करता है; तय करके बेखटके लूट-मार करता है और करोड़ों रुपयों का माल-असबाब लेकर अपने घर को लौट जाता है। ये उपन्यास की बातें नहीं, यह इतिहास है। ब्रिटिश-काल में तो लोग कहते थे—"हम आर्म्स एक्ट के कारण नामर्द होगए हैं।" उस समय तो कोई ऐसा कानून अस्त्र रखने के विरुद्ध न था। सोचने की बात है कि एक लुटेरा सत्रह बार आपका घर लूटने आता है;

आपके पास उससे अधिक मनुष्य और शस्त्र हैं, तिस पर भी आप उसको रोकते नहीं। इसके विपरीत अधिक सेना और श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित, योरुप का विजेता नेपोलियन रूस पर धावा करता है। मास्को जा पहुँचता है; नगर को जला हुआ पाता है; रास्ते के खेत सब जले हुए हैं। उसकी फौज भूखी मरती है; बेचारा अपने अधिकांश रणकुशल सिपाही खोकर घर लौटता है।

भारतवर्ष और रूस के लोगों में इतना भेद क्यों? एक तो अपना घर, जायदाद, बाल-बच्चे और स्वतन्त्रता की रक्षा करने में इतना उदासीन; और दूसरे अपने घर को बचाने में बड़े-से-बड़ा बलिदान करने के लिए उद्यत हैं। जो बलिदान रूसियों ने किया, यदि वैसा भारतवासी भी करते तो उन्हें कभी भी महमूद के धावों का दुःख न भोगना पड़ता। हिन्दुओं ने वैसा क्यों नहीं किया? इसका उत्तर उस काल की हिन्दू शिक्षाप्रणाली से मिलेगा। आप इतनी दूर क्यों जाते हैं? हमारे पड़ोसी जापान के बच्चों ने जब पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की, तो अपनी योग्यता और विद्या को अपने देश की सेवा में लगा दिया। स्थान-स्थान पर स्कूल कालेज खोल कर अपने अशिक्षित भाइयों को अपने बराबर बनाने की धुन में लग गए। पचास वर्ष के अन्दर उन्होंने अपने देश को खड़ा कर दिया। इसके विपरीत हमारे यहाँ योरुपियन शिक्षा पाए हुए लोग अपने ही देश से घृणा करने लगे हैं। उन्हें अपनी भाषा, अपना भेष, अपना रहन-सहन ही अच्छा नहीं लगता; अपने बन्धु उनको बुरे मालूम होते हैं। नौकरी के सिवाय दूसरी उनको धुन नहीं। अपनी योग्यता, अपनी प्रतिभा को वे बेचते ज़रा नहीं लजाते। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने पिछले डेढ़ हजार वर्षों के इतिहास को देखकर तथा आज की दशा को सामने रख कर निःसंकोच हमारे अन्दर से यह आवाज उठती है—

"कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई भारी त्रुटि हम में है।" आज भी हमारा समाज रेत के दानों की तरह बिखरा हुआ है। पैंतीस करोड़ केवल नाम

लेने के लिए हैं; उनकी कुछ भी हकीकत नहीं, उनमें कुछ भी बल नहीं। यद्यपि दूसरों ने हमें अपने ढंग की शिक्षा देकर, संगठन कर, हम में बल उत्पन्न कर अपनी कार्य-सिद्धि की है, परन्तु हमारे अपने लिए उस बल ने कुछ भी काम नहीं किया। जब संगठन और बल भरने वाली बाहरी शक्तियाँ अलग हो जाती हैं तो हम फिर बिखरे हुए रेत के कणों की तरह गिर पड़ते हैं।

भारतीय समाज में संघशक्ति की ऐसी कमी क्यों रही? उसके सभ्यों में सर्वहित कार्यों के लिए बलिदान का भाव क्यों कम रहा ? इन प्रश्नों का उत्तर तथा भारतीय जनसमाज की अपने देश के प्रति उदासीनता का कारण समझने के लिए हमें पिछले दो हज़ार वर्षों के भारतीय साहित्य पर दृष्टि डाल लेना काफ़ी होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैदिक काल के आर्यों की शिक्षाप्रणाली में संगठन-शक्ति को बहुत बड़ा स्थान दिया गया था, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वे भारतीय साम्राज्य की स्थापना कैसे कर सकते थे ? वेदों के बहुत से मन्त्र संघशक्ति की महिमा प्रतिपादित करते हैं। परन्तु यह बात भी स्पष्ट है कि बौद्धों के समय के बाद या उससे पहले (क्योंकि इसका ठीक-ठीक पता लगाना बड़ा कठिन है) भारतीय शिक्षाप्रणाली में 'पृथग्भाव—isolation' ने स्थान ले लिया था। बौद्धों के समय के बाद तो इसकी प्रबलता मालूम होती है। इस 'पृथग्भाव' के सिद्धान्तानुसार व्यक्ति अपने आपको समाज से अलग कर सारी उन्नतियों का केन्द्र अपने आपको मान, केवल अपने ही कल्याण की चेष्टा में रत रहना अपना धर्म समझने लगा। संसार और समाज के प्रति जो उसके कर्त्तव्य थे, वे बन्धन समझे जाने लगे। मनुष्यत्व-लाभ करने के उच्च साधन—गृहस्थ सम्बन्धी संग्राम—को 'जंजाल' की उपाधि दी गई। राजकार्य, सेनासाज, क़िलेबन्दी, युद्धविद्या आदि देशहितकर कार्य 'जंगलीपन' की गणना में कर दिये गये। शिक्षा का सबसे बड़ा उद्देश्य 'No Law' 'सब नियमों से रहित' अर्थात् 'जीवनमुक्त' होगया।

चरमसीमा पर पहुँचे हुए इस व्यक्तिवाद की शिक्षा ने भारत की

सब नसें ढीली कर दी हैं। हमारे पिछले दो हज़ार वर्षों का साहित्य इसी रंग में रंगा हुआ है। हमारी शिक्षा का सबसे बड़ा आदर्श 'त्याग' और 'जीवनमुक्त' बन गया। पाठशालाओं में इसी की शिक्षा भिन्न-भिन्न रूप में दी जाने लगी। चाहे कोई मतावलम्बी हो, चाहे किसी आचार्य का शिष्य हो, किन्तु उसकी शिक्षा का अन्तिम स्वर यही होगया। जाति-की-जाति इसी रंग में रंगी गई। कवियों ने इसी पर कविता की, साधु लोग घूम-घूम कर इसी का उपदेश देने लगे, लेखकों ने इस ही पर बड़े-बड़े पोथे लिखे। जिस पुस्तक को उठाओ, उसमें यही राग अलापा गया है। सब यही कह रहे हैं—"संसार कुछ नहीं, गृहस्थी सब जंजाल है।"

इस व्यक्तिवाद का भयंकर प्रभाव भारत पर पड़ा। लोगों ने जब यह समझा कि उन्होंने सबसे उच्च आदर्श पा लिया, तो उनकी उन्नति रुक गई। सामाजिक समुदाय को आपस में मिलाने की जो ताकत थी, वह निकल गई। सभी फिलासफर होगये। जब मनुष्य अपने दिमाग में यह जँचा ले—"मेरे लिये कोई कानून नहीं है, मैं कानून से मुक्त हूँ," तो या तो वह देवता ही बन जाता है या असुर ही। अधिक रुचि असुर बनने की ओर होती है। भारत में उस व्यक्तिवाद का सहारा लेकर उन व्यभिचारों का धर्म के नाम पर प्रचार किया गया जिनके ज्वलन्त प्रमाण आज भी हमारे पवित्र तीर्थस्थानों में मौजूद हैं। "जीवनमुक्तों के लिये कोई सामाजिक नियम नहीं, उनके लिए कोई पाप-पुण्य नहीं।" इस प्रकार की भयंकर गोलाबारी के सामने भारतीय सदाचार की दृढ़ दीवारें गिर गईं। ब्रह्मचर्य और ऊर्ध्व-रेताओं की प्रशंसा करने वाले व्यभिचारियों की पूजा करने लगे। जिन नीरोग और निर्दोष नियमों के सहारे प्राचीन आर्यों ने भारतीय राष्ट्र को संगठित किया था, उस राष्ट्र के अभेद्य दुर्ग को इन 'जीवनमुक्तों' ने अपने व्यभिचार की ठोकरों से जर्जरित कर दिया। आचार-भ्रष्ट कोई जाति खड़ी नहीं रह सकती।

किसी राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ की प्रजा उत्फुल्लनयन (wide awake) हो अर्थात् अपने आँख-कान खुले

रक्खे। यदि वह अपना अस्तित्व, मान और प्रतिष्ठा के साथ कायम रखना चाहती है तो उसे अपने पड़ोसियों की उन्नति-अवनति का ध्यान रखना चाहिए। भारत के पश्चिम, अरब के रेगिस्तान में, एक जबरदस्त शिक्षक का प्रादुर्भाव हुआ। उसकी शिक्षा से मानो ज्वालामुखी फट पड़ा। उस ज्वालामुखी की लपटें फ़ारस और स्पेन तक पहुँचीं। इतना जबरदस्त भूचाल आया, परन्तु भारतीय संसार ने करवट तक न बदली। यहाँ के लोगों की बुद्धि बिगड़ गई थी। इनकी पाठशालाओं में 'संसार-असार' की शिक्षा दी जाती थी और 'पृथग्भाव' का सिद्धान्त जोरों पर था। यहाँ के बच्चे व्यक्तिवाद के सूत्र पढ़ कर सब प्रकार के 'बन्धनों' से मुक्त होने की चेष्टा में थे। यहाँ के विद्वानों के दिमाग में गुरुडम का भूत घुस गया। वे समझते थे कि जीवन का सब से उच्च रहस्य उन्होंने जान लिया है; अब किसी से कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं। इसलिए वे मस्त सोते रहे। 'अप्रतिबन्ध' (non-resistence) के सिद्धान्त ने सैंकड़ों रूप धारण कर यहाँ के लोगों को अपना शिष्य बना लिया। कई शताब्दियों तक बिना रोक-टोक के ऐसी ही शिक्षा भारत में फैलती रही। परिणाम यह हुआ कि जब सर्व-जन-हित (common interest) की जबर्दस्त जंजीरों से बँधे हुए मुसलमान योद्धाओं ने भारत पर हमला किया, तो यहाँ की प्रजा उदासीन भाव से उन्हें देखती रही। महमूद गजनवी के सत्रह धावे भारत पर हुए और यहाँ की जनता ने उसके प्रतिकार में कुछ भी नहीं किया। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। जिस देश में शताब्दियों तक कायरता, अकर्मण्यता तथा व्यभिचार को वैराग्य, त्याग और जीवन-मुक्त की उपाधियों से विभूषित कर आदर्श रूप बना दिया गया था, उस देश के बच्चे यदि जूतों से पिटने पर भी उसको 'माया' ही कहें तो आश्चर्य ही क्या है! आज भी उन्हीं गन्दे, लचर, कायरतापूर्ण सिद्धान्तों पर पले लाखों भारतीय विद्यमान हैं, जो अपने समाज तथा अपने देश पर होते हुए अन्याय के विरुद्ध एक अंगुलि भी नहीं उठायेंगे।

यहाँ पर स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि भारतीय धर्माचार्य, शिक्षक

इन देशघातक सिद्धान्तों के प्रवर्तक और प्रचारक कैसे बन गए ? इसका उत्तर सहज है। जब भारतीय जाति में ऐश्वर्य की वृद्धि होगई, चक्रवर्ती-राज्य-सुख मिलने लगा, सब प्रकार के भोगों की प्राप्ति होने लगी, तो वही संघशक्ति—वही नीरोग बलवर्द्धक शिक्षा—जिसके आधार पर सब सामाजिक उन्नति तथा समृद्धि निर्भर है, उन्हें बन्धनरूप बोध होने लगी। आरण्यकों के लिखने वाले उपनिषद्कारों ने आत्मा-सम्बन्धी विचार प्रकट कर ही दिए थे; वह सामग्री इनके लिए आवश्यकता से अधिक काफी थी। मनुष्य में पशुपन अधिक है। वह खुला घूमना चाहता है। स्वाभाविक ही ऐसे सिद्धान्तों का शीघ्र प्रचार होने लगा। यद्यपि उपनिषदें आध्यात्मिक शिक्षा के सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं और उनका अभिप्राय संसार में शान्ति फैलाना है, परन्तु जाति के वे उच्च साहित्यरत्न अनधिकारियों के लिए नहीं लिखे गए। फुरसत के समय बैठ कर मनुष्य उन रत्नों को देख भले ही मन को शान्त कर ले, परन्तु व्यावहारिक संसार में जीवन निर्वाह करने के लि किसी और ही चीज की आवश्यकता है। इससे हमारा अभिप्राय कभी भी उन पूज्य ग्रन्थों का अनादर करना नहीं है। हम केवल यह कहते हैं कि भारतीय जनता ने उनसे यथोचित लाभ नहीं उठाया। यहां उनके उलटे-पुलटे अर्थ लगाकर व्यक्तिवाद का सिद्धान्त निकाला गया और धीरे-धीरे शारीरिक और राजनैतिक जिम्मेदारियों की जड़ों पर कुल्हाड़ा चला कर जनता को बिलकुल 'ब्रह्म ही ब्रह्म' बनने का उपदेश दिया जाने लगा। जब सब ही ब्रह्म होगए, तो किसी का हुक्म मानना कैसा ? बस, खुली छुट्टी होगई; संघ-शक्ति का बीज-नाश होगया।

यही कारण है कि अकबर और औरंगजेब के हिन्दू सेनापतियों ने जो कार्य अपने प्रभुओं के लिए किए, उन्हें वे अपने देश-हित के लिए न कर सके। डण्डे के जोर से उनसे जो चाहे करवा लीजिये, परन्तु जब जरा भी उन्हें अपनी मरजी पर छोड़ दिया जाय तो उनकी नसें ढीली होने लगती हैं। यही कारण है कि राष्ट्रीय संकट आने पर यहां नेता तत्काल सामने

नहीं आते। महमूद, तैमूर, नादिर, अहमदशाह आदि योद्धाओं के घावों की भांति सैकड़ों विपत्तियां भारत पर आईं, पर यहां कोई नीतिकुशल नेता खड़ा ही नहीं हुआ। सारे भारतीय संकट के इतिहास में महाराणा प्रताप, वीरकेसरी शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह जी और रणजीतसिंह जी इन चार नरपुङ्गवों का नाम सामने आता है। बस हो गया! जब एक लीडर मर जाता है, तो दूसरा उसकी पूर्ति करने वाला खड़ा नहीं होता। जो एकाध महापुरुष कभी संकट दूर करने को हो भी गए, तो उन्हें केवल अपवाद रूप ही समझिये। यहां आत्म-स्फूर्ति (initiative) की बड़ी कमी है।

भारतीय समाज को सैकड़ों वर्षों की उस बीमारी से छुड़ाने के लिए, तथा व्यक्तिवाद के स्वार्थरंजित सिद्धान्त के ज़हरीले प्रभाव से भारत की जनता को निकालने के लिए किस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली की आवश्यकता है? इस कठिन कार्य को हमने हाथ में लिया है। ईश्वर की दया से भीषण दुर्भिक्षों के कारण झूठे ब्रह्मवादियों और स्वार्थी जीवनमुक्तों के होश बहुत कुछ ठिकाने आ गए हैं, रास्ता बहुत कुछ साफ हो चुका है। कुलियों से बदतर 'प्रतिष्ठा' पाने पर हमारा गुरुडम भी किसी कदर भग चुका है, झूठे त्याग की गप्पों का प्रभाव भी अब उठता जाता है। संघ-शक्ति-सम्पन्न पाश्चात्य जातियों की हवा भी हमें कुछ लग गई है। अपने देश के निर्धन भाइयों की शिक्षा के लिए लोग अपनी जेबों में हाथ भी डालने लगे हैं। ऐसे समय में शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषय पर जो कुछ कहा जायगा, हमें पूर्ण आशा है कि हमारे देशबन्धु उसे ध्यान से सुनेंगे।

शिक्षा की व्याख्या

सबसे पहले हमें 'शिक्षा' अथवा 'शिक्षित व्यक्ति' इन शब्दों की विवेचना करने की जरूरत है। इन शब्दों का अभिप्राय भिन्न-भिन्न समाज के लोग भिन्न-भिन्न अर्थों में लेते हैं। अधिकांश लोग तो ऐसे हैं जो लिखने-पढ़ने की जानकारी को ही शिक्षा समझते हैं। कुछ बैठने-उठने के ढंग, बोलने-

चालने के सलीके को ही अच्छी शिक्षा समझते हैं। बहुत से अधिक विषयों पर वार्तालाप करने वाले को ही शिक्षित की पदवी देते हैं। जैसे-जैसे ख्यालात, जैसी सभ्यता जिस समाज में है, उसी के अनुसार उसकी कसौटी भी शिक्षा के सम्बन्ध में है। पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो संसार में कोई मनुष्य अशिक्षित नहीं कहला सकता। प्रकृति माता प्रत्येक समय, प्रत्येक दशा में हम सबको कुछ न कुछ शिक्षा दे रही है। जिनको हम अत्यन्त असभ्य, निपट गँवार कहते हैं वे भी कुछ न कुछ शिक्षित हैं। भारत के गोंड, भील, जिनको हम जङ्गली समझते हैं, असल में वे जङ्गली नहीं हैं। उनके समाज में शिक्षा का अपना नियम है। उनके यहाँ बच्चों को आरम्भ से जीवनसम्बन्धी शिक्षा दी जाती है। शिकार करना, युद्ध-कौशल, झोपड़ा बनाना आदि जो उनकी साधारण आवश्यकतायें हैं, उन की शिक्षा का आदर्श बस वहीं तक खतम हो जाता है। उनके यहाँ भी समाज के कुछ नियम होते हैं, जिनको वे अपने बच्चों को सिखलाते हैं। उन नियमों से अनभिज्ञ मनुष्य उनके यहाँ अशिक्षित समझा जाता है।

इसलिए प्रत्येक देश अथवा प्रत्येक समाज में शिक्षा का आदर्श समाज की आवश्यकताओं के अनुसार बदलता रहता है। जिनको हम अशिक्षित जंगली कहते हैं, वे हमको भी जंगली असभ्य कह सकते हैं। हमारे यहाँ बहुत से लोग ऐसे हैं जो मांस खाने वालों को जंगली समझते हैं। उनके ख्याले-शरीफ में मांस खानेवाला कभी सभ्य कहला ही नहीं सकता। करोड़ों मुसलमान ऐसे हैं जो सूअर के मांस खानेवालों को जंगली पशु से भी बदतर समझते हैं। योरुप और अमरीका के करोड़ों कट्टर ईसाई भारतवर्ष के लोगों को काफ़िर(Heathen)समझते हैं और हमें सभ्य बनाने के लिए करोड़ों रुपया खर्च करते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के आदर्शों से रंगे हुए लोग केवल अपना ही रंग देखते हैं, दूसरा रंग उनको दिखाई ही नहीं देता, क्योंकि उनका वैसा ही वातावरण और उनके वैसे ही संस्कार होते हैं।

ऐसी दशा में शिक्षासम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करनेवाले को उन

पक्षपातों और संकुचित विचारों से ऊपर उठना होगा, जो शुद्ध कल्पना के भारी बाधक हैं। आज उन तंग भावनाओं और मज़हबी वैमनस्यों के दिन नहीं रहे। अब संसार उस शिक्षा का उत्सुक है जो झगड़ों को मिटाने वाली और सार्वदेशिक उन्नति का कारण हो। प्रत्येक समाज में शिक्षासम्बन्धी उलटे-पुलटे विचारों के होने के कारण ही आपस में झगड़े और फसाद फैले हुए हैं। प्रत्येक देश अपने बच्चों को अपने आदर्शानुकूल शिक्षा देता है। उस शिक्षा में पले हुए लोग उसीको ठीक समझ कर, दूसरों के आदर्शों को तुच्छ जान कर, जहाद का झण्डा उठाते हैं। इसी से बड़ी खूनखराबी होती है।

शिक्षा क्या है? यह प्रश्न है जिस पर हमें विचार करना है। यद्यपि प्रकृति माता हमें बराबर शिक्षा दे रही है, यद्यपि जंगली से जंगली जातियाँ भी माता की उस शिक्षा से विहीन नहीं हैं, यद्यपि आधुनिक युग में शिशुशिक्षा के सम्बन्ध में नित्य नये आविष्कार हो रहे हैं, तथापि परमात्मा ने हम मनुष्यों को दो ऐसे साधन—हृदय और बुद्धि—दिए हैं जिनके द्वारा हम प्रकृति माता के रहस्यों का बहुत आसानी से आनन्द ले सकते हैं, तथा अपने दुःख-सुख, उन्नति-अवनति के कारणों को शीघ्र जान सकते हैं। हमारे विद्वानों ने शिक्षाविहीन मनुष्य की तुलना पशु से की है, जो बिल्कुल ठीक है। पशु हज़ारों, लाखों वर्षों से जंगलों में रहते चले आये हैं; उनका जीवन स्वार्थ का जीवन है। जो बलवान् है, जिसके नख, दांत तीखे और दृढ़ हैं, वही सरदार है; वह अपने से कमज़ोर पशुओं को चाहे मारे, चाहे काटे। वहाँ मक्कारी खूब चलती है और भोलापन नाश का कारण बनता है। वहाँ बलवान् के हाथ में ही न्याय है, कमज़ोर का कोई ठिकाना नहीं। लाखों वर्षों से जंगलों का यही क़ानून है, उनमें से न तिल भर बढ़ा है, न घटा है। यदि मनुष्य को भी जंगली जनवरों की (Beast of the jungle) तरह रहना हो, तो फिर किसी नये शिक्षा-सम्बन्धी आविष्कार की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह शिक्षा तो हमें पहले से ही भरपूर मिल चुकी है। हाँ, यदि हमें उस अन्धकारमय

पशु-राज्य से निकलना है, तो अलबत्ता हमें शिक्षा के विषय में गम्भीरता से विचार करना चाहिए। इसलिए जो पद्धति हममें से पशुपन निकाल दे, मक्कारी दूर कर दे, स्वार्थ नष्ट कर दे, अन्यायी बलवान् का राज्य हटा दे, प्रकृति माता के भोगों का न्यायपूर्वक भोग करना सिखा दे, उस पद्धति का नाम श्रेष्ठतम शिक्षा-प्रणाली है। शिक्षा बहुत अच्छी अंग्रेजी या संस्कृत बोलने में नहीं है; शिक्षा काले-गोरे-पीले रङ्ग के भेद में नहीं है; शिक्षा बहुत से विद्वानों के नाम रट लेने में नहीं है; शिक्षा लम्बे-लम्बे व्याख्यानों में नहीं है; शिक्षा टोपी, अचकन, पतलून पहनने में नहीं है; शिक्षा बहुत सा धन संग्रह करने या बड़ी डिग्रियां प्राप्त करने में नहीं है—शिक्षित वह है जिसमें पशुपन का अभाव और मनुष्यत्व की वृद्धि हो। जैसे चारों वेदों से लदा हुआ गधा पण्डित नहीं हो सकता, ऐसे ही बड़ी-बड़ी डिग्रियों का धारण करने वाला, अच्छे सूट-बूट पहनने वाला शिक्षित नहीं कहला सकता। फोनोग्राफ में हम बड़े-बड़े लेक्चर, उपदेश और राग भर सकते हैं, इससे फोनोग्राफ महाशय शिक्षित नहीं बन सकते; इसी प्रकार शिक्षा की पहचान दिमाग़ में ठसाठस भरी हुई पुस्तकों से नहीं होती और ना ही वैज्ञानिक यन्त्रों से सुसज्जित समाज सुसंस्कृत ही कहला सकता है। शिक्षा तो व्यक्ति के सुन्दर व्यक्तित्व और उसके सद्-व्यवहार से ही पहचानी जाती है, जो वह दूसरे मनुष्यों के साथ करता है। आप अपने नित्य के जीवन में 'बगल में छुरी मुँह में राम-राम' कहावत को चरितार्थ करने वाले लोगों से मिले होंगे, जो आपको 'प्राणियों में मनुष्य की सगोत्रता' शीर्षक पर लच्छेदार 'सरमन' सुना देंगे, पर यदि मौक़ा मिले तो आपको समूचा ही निगल जाने का प्रयत्न करेंगे। कभी-कभी हम आश्चर्य करते हैं कि फलां-फलां आदमी बी० ए० है, एम० ए० हैं, पर उनमें ज़रा भी मनुष्यत्व नहीं। इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? बी० ए०, एम० ए० पास करने से यदि मनुष्यत्व नहीं आया, तो समझ लो कि वह शिक्षाप्रणाली मनुष्यत्व सिखाने के लिए नहीं है। यदि आप स्कूल में पढ़नेवाले किसी विद्यार्थी से पूछें कि उसकी पढ़ाई का उद्देश्य

क्या है, अथवा वह पढ़कर क्या करेगा—तो इसका उत्तर वह 'नौकरी' के सिवाय और कुछ नहीं देगा, क्योंकि भारतीय शिक्षाप्रणाली की बुनियाद 'नौकरी' पर है, इस लिये उससे मनुष्यत्व के गुणों की आशा रखना निरर्थक है।

यह सत्य है कि शिक्षा का विषय भी आज विकास की वस्तु बन गया है। बच्चों को किस प्रकार शिक्षित किया जाए, कैसे उनका स्वाभाविक विकास हो और किस प्रकार वे आसान से आसान ढंग से कठिन विषय को समझ सकें, इस सम्बन्ध में सभ्य देशों के विद्वान् प्रयोग कर रहे हैं। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के समय से यह बात स्वीकार कर ली गई थी कि मनुष्य एक सामाजिक सभ्य है। उसी सिद्धान्त के अनुसार वर्ग और सामूहिक शिक्षा का विकास हुआ। समूह में व्यक्ति को प्रोत्साहन मिलता है, उसकी स्पर्धा बढ़ती है, वह दूसरों के उदाहरण से शीघ्र उन्नति कर सकता है और पुरस्कार उसे कठिन काम करने में सहायक होते हैं, इसीलिए प्रत्येक सभ्य देश में भिन्न-भिन्न वर्गों द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। पहले उच्च घरानों के बच्चे शिक्षा पाते थे। अब जब सर्वसाधारण के लिए शिक्षा अनिवार्य हुई, तो अन्धे, लूले, लंगड़े, बुद्धू और पागल बच्चों के लिए भी शिक्षा के ढंग सोचने पड़े। प्रत्येक देश में चिन्तनशील विद्वानों ने इसी खोज में जीवनियां लगा दीं। साम्यवादी रूस में समष्टिवाद की प्रधानता है और व्यक्ति के व्यक्तित्व को हेय समझा जाता है, इस कारण वहां पर उसी आदर्श के अनुसार प्रयोग होने लगे। गृहस्थाश्रम का अन्त कर सब श्रेणियों के बच्चों को बोल्शिविक शिशु-शालाओं में रक्खा गया और माताओं से अलग रखकर कम्यूनिज्म के कठोर सिद्धान्तों को इन बालकों के कोमल गलों से उतारने का भगीरथ प्रयत्न हुआ। दूसरी ओर बाल-ब्रह्मचारिणी वृद्धा मोन्टीसोरी व्यक्तिवाद की रक्षा के लिए खड़ी हुई और उसने यह घोषणा की कि प्रत्येक शिशु एक स्वतन्त्र व्यक्ति है। उसका स्वाभाविक विकास वर्गों और समूहों में नहीं हो सकता, वहां वह नकलची बन जाता है और दूसरों की अस्वा-

भाविक बातें उसे चिमट जाती हैं । बच्चे की शिक्षा स्वतन्त्र और स्वयं-विकास-पद्धति के अनुसार होनी चाहिए, तभी वह संसार को अपना स्वाभाविक फल दे सकता है । प्रत्येक वृक्ष जैसे अपना स्वतन्त्र उपयोग रखता है, इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री और पुरुष का अपना स्वतन्त्र मिशन है । वर्गीय और सामूहिक शिक्षा स्वाभाविक विकास की शत्रु है, इसलिए संसार में आज तक अँगुलियों पर गिनने लायक ही महापुरुष हो सके हैं और ब्रह्माण्ड का अंशमात्र ज्ञान ही हमें हो सका है ।

व्यक्तिवाद की इस शिक्षापद्धति का प्रचार भारतवर्ष के प्राचीनकाल के आर्यों में था । इसी कारण वे व्यक्तिवाद के उपासक थे और वे यह मानते थे कि व्यक्ति के सुधार के बिना समाज का सुधार नहीं हो सकता । उन्होंने बड़े-बड़े विश्वविद्यालय स्थापित नहीं किये थे, बल्कि प्रत्येक वानप्रस्थी अपने आश्रम में पाँच-सात विद्यार्थी रखता था, जिनके स्वतन्त्र और स्वयं विकास का अध्ययन कर वह उन्हें उसी ढंग की शिक्षा देता था और बाद में उनका ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण निश्चित करता था ।

शिक्षा-सम्बन्धी विकसित पद्धतियों के विषय में समय के परिवर्तन के साथ नये-नये आविष्कार होते रहेंगे, लेकिन शिक्षा के आदर्श के विषय में जिस अटल सिद्धान्त की हम व्याख्या करने लगे हैं, शिक्षित मनुष्य के जो लक्षण हम बतलाने लगे हैं, उन्हें सभ्य समाज सदा मानता रहेगा, क्योंकि उन्हीं पर व्यक्ति तथा समाज के विकास का पूरा दारोमदार है । पशु और मनुष्य में कहाँ पर भेद प्रारम्भ होता है, पशुपन से निकल कर मनुष्यत्व की ओर जाने वाला जो मार्ग है, ऐसी जो पद्धति है, ऐसी जो शिक्षा-प्रणाली है, वही शिक्षा का सच्चा आदर्श सिद्ध कर सकती है । एक मनुष्य अच्छा इंजीनियर हो सकता है, किसी भाषा का कुशल मर्मज्ञ हो सकता है, निराले ढंग के दुरूह छन्द रच सकता है, परन्तु यदि वह मनुष्यत्व से परे है, यदि उसमें इन्सानियत नहीं है तो वह शिक्षित नहीं कहला सकता । मनुष्यत्व से विहीन पशुपन का एक उदाहरण देखिए ।

हाथी कितना बड़ा भारी पशु है। उस हाथी के सिर पर एक छोटा-सा महावत बैठ जाता है और अंकुश से हाथी को मारता है। हमें यह देखकर ताज्जुब होता है। हाथी इतना बड़ा बलशाली पशु उसको काबू में करता है छोटा-सा आदमी ! इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं। वह हाथी चाहे कितना ही बड़ा है, पर वह है तो पशु। पशु का लक्षण यही है कि जो अपनी शक्तियों को न जाने। इसलिए जिस समय आर्य विद्वानों ने यह फैसला किया—"विद्याविहीन पुरुष पशु के तुल्य हैं" तो उनका अभिप्राय यह भी था कि शिक्षित मनुष्य वह है जो अपनी शक्तियों को पहचानता है। जो शिक्षा मनुष्य को उसकी आन्तरिक शक्तियों की पहचान नहीं कराती वह शिक्षा नहीं है। मनुष्य को परमात्मा ने गजब की शक्तियां दी हैं और प्रकृति का असीम भण्डार उसके सामने रख दिया है। शिक्षा द्वारा मनुष्य की उन शक्तियों का विकास होना चाहिये। जो शिक्षा कमलरूपी मनुष्य की बुद्धि को खिला नहीं सकती, जो मनुष्य को अपना स्वरूप पहचानने में सहायता नहीं देती, वह शिक्षा कदापि शिक्षा नहीं कहला सकती। संसार में इसी एक कमी के कारण करोड़ों आत्मायें दुःखी होकर परलोक सिधार गईं। क्यों ? इसलिए कि वे अपने स्वरूप को न पहचान सकीं। उन्होंने सदा अपने आपको छोटा समझा, सदा अपनी योग्यता पर अविश्वास किया, सदा अपने को अभागी ख्याल किया, परिणाम यह हुआ कि वे सदा दुःखसागर में गोते खाते रहे। उनमें योग्यता थी, थोड़े से परिश्रम से वे अपने आपको उच्च बना सकते थे, पर उन्हें ऐसी शिक्षा ही न मिली थी। बेचारे क्या कर सकते थे ?

और उदाहरण देखिये। एक खेत में बाड़ बनाकर चार-पांच सौ बैल बन्द कर दीजिये। वे बैल चुपचाप उस बाड़े में रहेंगे। क्या उन बैलों में यह शक्ति नहीं है कि आपकी बाड़ को तोड़ दें ? क्या पांच सौ बैलों के सींग आपकी मामूली बाड़ को तोड़ने के लिये काफी नहीं हैं ? वे निस्संदेह उस बाड़ के चिथड़े उड़ा सकते हैं, पर इतना उन्हें ज्ञान ही नहीं। वे अपनी संयुक्त शक्तियों का बल नहीं जानते। इसलिए शिक्षा का एक बड़ा

भारी अंग यह भी है कि उसके द्वारा मनुष्य कठिनाइयों को दूर भगाने के योग्य बन सके, न कि हाथ पर हाथ धर कर ईश्वर के सहारे बैठ जाए। जिस शिक्षा में 'सूझ' की शक्ति नहीं, वह बुद्धि के विकास में सहायता नहीं देती; जिसमें संकट दूर करने के उपाय ढूंढ निकालने की योग्यता नहीं, वह शिक्षा केवल शाब्दिक वितण्डावाद है। ऐसी शिक्षा से किसी व्यक्ति, किसी देश का उपकार नहीं हो सकता। पशु सब प्रकार के कष्ट सहते हैं, पर वे उन दुःखों को दूर करने का कुछ उपाय नहीं कर सकते। उनमें बुद्धि नहीं। वे अपने दुःखों को दूर करने में हम पर निर्भर हैं। हमें ईश्वर ने बुद्धि दी है। यदि हम भी अपने दुःख दूर करने में अपनी सहायता आप नहीं कर सकते, तो फिर हम में और पशुओं में ज़रा भी भेद नहीं है। निर्भरता पशुपन का चिन्ह है। जो समाज अपने कष्ट दूर करने में दूसरों पर निर्भर है, वही समाज अशिक्षित है। जिस समाज में स्वावलम्बन की शक्ति नहीं, जिसके सदस्य अपनी योग्यताओं से फ़ायदा उठाना नहीं जानते, जिनमें संकटों का मुकाबिला करने का बुद्धिबल नहीं, वे अशिक्षित हैं। सिर पर सींग होने से पशु नहीं होता, बल्कि पशुपन के लक्षण होने से बिना सींग वाला मनुष्य नामधारी व्यक्ति भी पशु ही है।

जिन दिनों मैं अमरीका में पढ़ा करता था तो मुझे प्रायः अपने देश-बन्धु सिक्ख भाइयों की देख-भाल रखने के लिये उनके डेरों पर जाना पड़ता था। अमरीका-प्रवासी ये सिक्ख लोग शिक्षाविहीन होने के कारण कुलियों का काम करते थे। उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर था। अधिकांश उनमें से अपना नाम लिखना भी नहीं जानते थे। अपने घर को चिट्ठियां भेजने के लिए उन्हें दूसरों की सहायता लेनी पड़ती थी। सोचने की बात है कि उस भले मानस की क्या दशा होगी, जो अपनी स्त्री को समाचार भेजने के लिए दूसरों पर अवलम्बित है। ऐसे मनुष्य भारतवर्ष में लाखों हैं। उन सिक्खों को जब कभी कोई चिट्ठी लिखवानी होती थी तो वे मुझसे लिखवाया करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि

कारणवश में उनके डेरे पर न जा सका। उन्होंने किसी नावाकिफ़ चलते-पुरजे को बुलाकर उससे अपने घर भेजने के लिए मनीआर्डर लिखवाए। उस धूर्त ने उन मनीआर्डरों को अपने घर के पते से भेज झूठमूठ की रसीदें बनाकर उनको दे दीं। वे मूर्ख क्या जानते थे कि उनके पसीने से कमाए हुए धन को एक बदमाश आदमी ऐसी आसानी से ठग लेगा? परन्तु अविद्या का टैक्स बड़ा भयंकर है। जो इस अविद्या देवी की पूजा करता है उसकी खाल तक भी उतार ली जाती है। अमरीका से हज़ारों मील दूर भारत! वहां से चिट्ठी आने-जाने में अढ़ाई-तीन महीने चाहियें। इतने दिनों के बाद उन भोले सिक्खों को मालूम हुआ कि वे ठगे गए, पर—'अब पछताए क्या होत है जब चिड़ियां चुग गई खेत।' वह धूर्त कहीं का कहीं चला गया। करोड़ों मनुष्य दुनिया में ऐसे हैं, जिनके पसीने का कमाया हुआ धन निखट्टू लोग मुफ्त में ठग कर ले जाते हैं और उन पशु-तुल्य मनुष्यों को मालूम भी नहीं होता कि उनका धन कहां जाता है। ज्येष्ठ-आषाढ़ के दिनों में कष्ट सहकर अन्न पैदा करने वाले भूखों मरते हैं और चालाक बदमाश लोग मौज में बैठे चैन उड़ाते हैं। ये सब अविद्या देवी के टैक्स हैं। इसीलिए हमारे शास्त्रकारों ने जहां पांच क्लेशों का जिक्र किया है, वहां 'अविद्या' को सबसे मुख्य रक्खा है। जितनी सामाजिक बीमारियां पैदा होती हैं, उन सबका कारण अविद्या है।

उस अविद्या से निकलने के लिए सबसे पहला साधन लिखना-पढ़ना सीखना है। यद्यपि अविद्या सत्सङ्ग से भी दूर हो सकती है, किन्तु उससे पहले लिखना-पढ़ना सबको सीखना चाहिये। यही है परिचयदायक पत्र, जिसके द्वारा 'शिक्षा' के पवित्र भवन में प्रवेश हो सकता है। लिखना-पढ़ना जान लेना शिक्षा नहीं है। यह केवल सरस्वती देवी के मन्दिर में प्रवेश करने की तय्यारी करना है। ऐसे भी लाखों अभागे हैं जो श्रीगंगाजी के किनारे जाकर उसके पवित्र जल में शराब की बोतलें डाल कर पीते हैं। इसी प्रकार बहुत से लोग पढ़-लिख कर भी 'शिक्षा' के मन्दिर में प्रवेश नहीं करते। यह अपराध उनका है। वे उसी लिखने-पढ़ने को शिक्षा समझकर

वहीं तक उसकी इतिश्री मान लेते हैं। परिणाम यह होता है कि वे भाषा के धुरन्धर विद्वान् होने पर भी विद्यादेवी के दर्शनों से वञ्चित रह जाते हैं। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए, भले-बुरे की पहचान के लिए, अपनी शक्तियों के विकास के लिए और आत्म-दर्शन करने के निमित्त विद्यादेवी के भवन में प्रवेश करने की नितान्त आवश्यकता है।

इसलिए शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करनेवालों को लिखने-पढ़ने का ज्ञान तो मामूली बात समझनी चाहिये। यह तो भूमि तय्यार करने का आरम्भ मात्र है। इसके बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता। आप इसको प्रारम्भिक शिक्षा के नाम से पुकारिये। परन्तु मैं शिक्षा का प्रारम्भ उस साधना—उस प्रणाली—से करता हूं, जिसके द्वारा पशुपन का नाश और मनुष्यत्व का विकास होने लगता है। शिक्षित मनुष्य का सबसे पहला गुण यही है कि उसमें स्वार्थ की मात्रा कम हो, क्योंकि पशुओं के राज्य में स्वार्थ की ही प्रधानता पाई जाती है। जिस शिक्षा द्वारा मनुष्य सार्वजनिक हितों को सर्वोपरि समझ कर अपने स्वार्थ को उनके सन्मुख तुच्छ समझता है, वही मनुष्य हमारी परिभाषा में शिक्षित होने की पहली शर्त को पूरा करता है। मुझे विश्वास है कि आप लोग शिक्षा के पहले अंग की महिमा भली प्रकार समझ गये होंगे।

शिक्षा का दूसरा अङ्ग विचारशक्ति का विकास है। पशुओं में 'भेड़ चाल' प्रसिद्ध है। जिस समाज के सदस्य अपनी विचारशक्ति नहीं रखते, जो 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' अर्थात् अन्धों के पीछे अन्धों की तरह चलने वाली कहावत को चरितार्थ करते हैं, वे कभी भी शिक्षित नहीं कहला सकते। उदाहरण के तौर पर यदि मैं किसी पेड़ की जड़ में एक कील गाड़ कर, थोड़ा सा सिन्दूर इर्द-गिर्द लगा, एक फूलों की माला उसमें टांग दूं तो जितने देखने वाले उधर से निकलेंगे वे बिना कारण समझे हुए ही उस कील को पवित्र जान, हाथ जोड़ वहां फूलों की माला लटकाते जायेंगे, क्योंकि उनके मोटे विचार में जिस व्यक्ति ने पहले-पहल माला लटकाई है, उसने अवश्य ही कुछ सोच-समझ कर ऐसा किया होगा। बस,

यही उनकी दलील है। इसी को 'भेड़ियाधसान' कहते हैं। हमारे देश में बहुत से शिक्षित नामधारी मनुष्य इसी बीमारी के शिकार हैं। यदि किसी ने बहका दिया कि अमुक मनुष्य बड़ा भारी सिद्ध और योगी है तो बस उसके दर्शनार्थ झट दौड़ने लगते हैं। कुछ वर्ष पहले की बात है कि जायस ग्राम के एक मुसलमान फकीर के विषय में यह गोगा उड़ा था कि वह सब प्रकार की बीमारियों का इलाज करता है। बस, फिर क्या था, सब छोटे-बड़, औरत-मर्द, दूर-दूर से उस फकीर के पास जाने लगे। सैकड़ों यात्री नित्य जाते और फकीर का जूठा पानी लेकर चले आते। भारतवर्ष का कोई ही प्रान्त ऐसा होगा, जहाँ के लोग उस धोखे-बाज फकीर से बचे हों। अन्त को जब बीमारी का इलाज न हुआ और मनोकामना निष्फल हुई, तो कहीं इस मूर्खता ने उनका पिण्ड छोड़ा।

यही पशुपन है। जैसे पशु एक दूसरे के पीछे बिना सोचे-समझे चले जाते हैं और कारण-कार्य के सम्बन्ध को नहीं समझते, ऐसे ही जो मनुष्य अपनी बुद्धि से काम नहीं लेते वे पशु ही हैं। इसलिए शिक्षित मनुष्य का दूसरा गुण यह होना चाहिये कि उसमें विचारशक्ति हो। वह दूसरों की देखादेखी कोई काम न करे, बल्कि सदा ही अपनी बुद्धि को काम में लाकर, हित-अहित का विचार कर, किसी कार्य में हाथ डाले। परमात्मा ने हमें बुद्धि इसीलिए दी है कि हम इसका प्रयोग करना सीखें। यही पशु और मनुष्य में भेद है। पशु हजारों वर्षों से जैसे रहते-सहते आये हैं, वैसे ही अब भी उनकी चाल-ढाल है। शिक्षा द्वारा आवश्यकता इस बात की है कि बुद्धि का विकास हो और हम काल की गति के अनुसार उन्नति का पथ अवलम्बन करें। यदि हमारी शिक्षा हमको देशकालानुसार उन्नति के मार्ग पर नहीं चलाती तो वह 'शिक्षा' शिक्षा नहीं कहला सकती।

शिक्षा का तीसरा अंग अपने स्वरूप का पहचानना है। शिक्षित मनुष्य को मालूम होना चाहिये कि उसके जीवन का उद्देश्य क्या है? वह संसार में किस लिए आया है? ईश्वर ने उसको दुनिया में किस मतलब

के लिये भेजा है ? खाना, पीना, बच्चों को पालना, इन्द्रिय-सुख—ये बातें तो पशु में भी विद्यमान हैं, यदि हमने भी पढ़-लिख कर ऐसे ही जीवन व्यतीत किया तो हमारा पढ़ना-लिखना निरर्थक है। आवश्यकता तो इस बात की है कि हम अपनी दैवी शक्तियों का विकास कर उनको दूसरों की सेवा में लगावें। हम अपने आपको केवल पेट भरने वाला भारवाहक पशु न समझें। परमात्मा की सृष्टि में प्रत्येक छोटी-बड़ी वस्तु का कोई-न-कोई उद्देश्य है। ईश्वर ने कोई चीज़ निरर्थक नहीं बनाई। जो मनुष्य अपने आपको कुछ नहीं समझते, वे बड़ी भूल करते हैं। उनको विश्वास करना चाहिये कि उनके अन्दर ईश्वरदत्त गजब की शक्ति है। यदि वे शिक्षा द्वारा अपने स्वरूप को पहचान लें तो वे संसार में महान्-से-महान् कार्य सम्पादन कर सकते हैं। ज़रूरत केवल इस बात की है कि बीज रूप उनकी शक्तियों को श्रेष्ठ विचाररूपी खाद पहुँचाई जाए। ऐसा होने पर वे बीज वृक्ष के रूप में प्रकट होकर संसार को मधुर फल प्रदान कर सकते हैं।

अब आप लोग समझ गये होंगे कि शिक्षा से मेरा क्या अभिप्राय है। हमारे देश का करोड़ों रुपया संस्कृत पाठशालाओं में खर्च किया जाता है; वहाँ से शिक्षा पाये हुए हमारे देशबन्धु शिक्षा के किसी अंग की पूर्ति भी नहीं करते। पिछले हजार डेढ़ हजार वर्षों का इतिहास हमें इस बात की सूचना देता है कि जिस प्रकार की पुरानी शिक्षा-प्रणाली पाठशालाओं में प्रचलित है, उसके द्वारा हमारा जातीय जीवन स्वाभाविक ढंग से विकसित नहीं हो सकता। पाठशालाओं के संस्कृत पढ़े हुए विद्यार्थी आत्मिकबल से हीन, संकुचित विचारों में पड़े हुए अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान्, धाराप्रवाह संस्कृत बोलने वाले यह नहीं जानते कि उनके जीवन का उद्देश्य क्या है। धन के हेतु अपनी आत्मा के विरुद्ध झूठी-से-झूठी व्यवस्था देने के लिये वे उद्यत रहते हैं। वे नहीं जानते कि गवर्नमेंट क्या है ? शासन किस को कहते हैं ? भारतवर्ष क्यों निर्धन हो रहा है ? जापान ने उन्नति कैसे की ? अमरीका की तिजारत का

भारतवर्ष पर प्रभाव क्यों पड़ता है ? इङ्गलिस्तान की शासन-पद्धति क्या है ? भारतीय समाज में फूट होने का कारण क्या है ? ऐसे-ऐसे आवश्यक प्रश्नों के विषय में वे कुछ नहीं जानते, अलबत्ता न्याय के अवच्छेदकावच्छिन्न और व्याकरण की फक्किकाओं में सिर पटकना खूब जानते हैं। जो दशा योरुप के विद्वानों की १४वीं-१५वीं शताब्दियों में थी, वही दशा आज हमारे संस्कृतज्ञ विद्वानों की है। योरुप के ईसाई पादरी विद्वान् उन दिनों "सुई की नोक पर कितने फरिश्ते बैठ सकते हैं ?" ऐसे जटिल प्रश्नों पर महीनों शास्त्रार्थ किया करते थे। परन्तु अपनी उस मूर्खता से योरुप के लोग अब निकल गये। उन्होंने शिक्षा के उद्देश्य को धीरे-धीरे समझना शुरू किया और आज योरुप शिक्षा की उन्नत अवस्था में है। इसके विपरीत हमारे संस्कृत के विद्वान् अभी "पत्राधारम् घृतम् घृताधारम् वा पत्रम्" घी पत्ते के ऊपर है, या पत्ता घी के ऊपर है ? ऐसे प्रश्नों के हल करने में लगे हुए हैं। भला कहिये, देश की उन्नति हो तो कैसे हो ? आज से ५०० वर्ष पहले जो हमारी आवश्यकतायें थीं वे आज नहीं हैं, आज से ५० वर्ष पहले जो देश की दशा थी वह अब नहीं रही। हम को देश-काल के अनुसार अपनी आवश्यकताओं को समझ कर शिक्षा का प्रबन्ध करना है। आज भारत पुराने दो हज़ार वर्ष पहले का भारत नहीं है। आज यदि अमरीका में रुई की फसल मामूली से अधिक होती है तो उसका प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ता है। आज हमारा सम्बन्ध संसार के सभ्य देशों से हो गया है। हमारा मरना-जीना इसी पर निर्भर है कि हम दूसरी जातियों के नये वैज्ञानिक आविष्कारों से परिचित हों और अपनी शिक्षा-प्रणाली को आधुनिक कला-कौशल के अनुसार बना डालें। पुराने जर्जर हथियारों से काम नहीं चलेगा। अब हमें आँखें खोलकर चलना चाहिये। यदि संस्कृत पाठशालाओं में बराबर नई आवश्यकताओं के मुताबिक ग्रन्थ पढ़ाये जाते, तो आज हमारी यह दुर्दशा कदापि नहीं होती।

दूसरी शिक्षाप्रणाली अँग्रेज़ी ढंग की है। बहुत से भाई यह समझते

हैं कि अँग्रेजी शिक्षा द्वारा हम शिक्षा के महान् उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं, परन्तु पिछले १०० वर्षों का अनुभव हमें बतलाता है कि जिस ढङ्ग की अँग्रेज़ी शिक्षा भारतवर्ष में प्रचलित है, उससे कभी भी देश का कल्याण नहीं हो सकता। अँग्रेजी स्कूलों में शिक्षा पाये हुए लाखों भारतीय आज गवर्नमेंट के भिन्न-भिन्न विभागों में नियुक्त हैं। हज़ारों रेलवे कर्मचारियों का काम करते हैं। इन शिक्षित लोगों से देश का क्या उपकार होता है? देश के अनपढ़, इन अंग्रेजी शिक्षितों के हाथ से त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। स्टेशनों पर बाबू लोग किस निर्दयता से तीसरे दर्जे के मुसाफिरों को लूटते और कष्ट देते हैं! अदालतों के मुन्शी-मुहर्रिर ग़रीब किसानों के साथ कैसा अत्याचार करते हैं! जिधर देखो, उधर ही अँग्रेजी शिक्षितों के हाथों से भारत-जनता अत्यन्त दुःखी है। अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे अपने दूसरे जाहिल देश-बन्धुओं को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं। दूसरी ओर करोड़ों अशिक्षित भारतीय इन बाबुओं पर तनिक विश्वास नहीं करते। वे इनको ठग और मक्कार समझते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्कूल और कालिजों की शिक्षा द्वारा भारत को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हुई है। थोड़ी-सी अँग्रेजी पढ़ा हुआ लड़का अपनी भाषा, भेष तथा भूषा से घृणा करने लगता है। उसके लिए अँग्रेजी बोलना और अँग्रेजी सभ्यता की नकल करना ही शिक्षा का आदर्श है। वह कोट-पतलून पहन, गले में कुत्ते जैसा पट्टा डाल, मुंह में चुरट ले, अपने भाइयों से घृणा करना ही शिक्षा की सीढ़ी पर चढ़ना समझता है। अपनी भाषा तो उसे अच्छी लगती ही नहीं और न अपने प्राचीन ऋषि-मुनि उसकी आँखों में जँचते ह। उसके लिए तो अच्छा बूट-सूट, अच्छी गिटपिट और किसी दफ्तर में क्लर्क की नौकरी ही स्वर्गीय जीवन है। रुपये के लिये घृणित-से-घृणित कार्य करने को वे उद्यत हैं। नौकरी के लिए यदि इनको अपने देश-बन्धुओं का गला भी काटना पड़े तो उसको ये लोग "ड्यूटी" के नाम से पुकारते हैं और

तनिक नहीं सोचते कि अँग्रेजी के इस पवित्र शब्द का अर्थ क्या है ? वेश्याओं की तरह धन के लिए शरीर और आत्मा को बेचना ही इनके लिए 'ड्यूटी' है। हम लाख बार ऐसी शिक्षा को धिक्कारते हैं। अपने देश की ममता छोड़, प्यारे देश-बन्धुओं से पशुपन का व्यवहार कर, प्यारी मातृभाषा से मुंह मोड़ना तथा अपने देश के पहरावे से घृणा कर, अपने पूर्वजों को तुच्छ दृष्टि से देखना, यदि ये ही इस अँग्रेजी शिक्षा के फल हैं, तो हम इसको दूर ही से नमस्कार करते हैं।

हम शिक्षा और अशिक्षित मनुष्यों के गुणों की व्याख्या पहले कर चुके हैं। अब आप लोग समझ गए होंगे कि हम प्राचीन ढर्रे की शिक्षा-प्रणाली तथा स्कूल-कालेजों की वर्तमान शिक्षा-पद्धति इन दोनों के विरोधी हैं। हमने जो आदर्श शिक्षा का रक्खा है, जब तक उसकी पूर्ति करने वाली शिक्षा देश में प्रचलित न होगी तब तक हमारा कल्याण नहीं हो सकता। आज हमें बहुत सोच-विचार कर काम करना है। आज हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो हमारे पशुपन को निकाल कर हममें देश की ममता भर, मनुष्यत्व के मार्ग पर ले जाने वाली तथा वर्तमानकाल की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली हो।

आप मुझसे पूछेंगे कि वह शिक्षाप्रणाली कौन सी है और उसके बड़े-बड़े साधन क्या हैं ? अब हम विस्तारपूर्वक शिक्षा के आदर्श की पूर्ति करने वाले साधनों का वर्णन करते हैं।

शारीरिक स्वतन्त्रता

परमात्मा के रचे हुए इस संसार के सौन्दर्य्य का आनन्द लेने के लिए शरीर एक साधन है। प्रकृति के दैवी रहस्यों की गांठें खोलने के लिए मनुष्य को परमात्मा ने शरीररूपी मशीन दी है। यही एक नींव है जिस पर उन्नति की दीवार खड़ी की जा सकती है। जिनका शरीर निर्बल है, जिन्होंने बुरे संस्कारों का अपने अन्दर संग्रह किया है वे कभी भी जीवन का आनन्द अनुभव नहीं कर सकते। एक तन्दुरुस्त आदमी को जो सुख

मिलता है उसे बीमार आदमी कभी स्वप्न में भी नहीं जान सकता। संसार भर के ऐश्वर्य्य के साधन यदि मौजूद हों और शरीर तन्दुरुस्त न हो तो वे सारे भोग मिट्टी के बराबर हैं। इसी लिए आरोग्यता को हज़ारों सुखों की खान कहा गया है, जो अक्षरशः सत्य है। संसार के संग्राम में प्रवेश करने के लिए नीरोग शरीर की पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है। पशुओं के राज्य में निर्बल को कोई स्थान नहीं मिलता। वह केवल दासता के लिए ही जीता है।

इसलिए शिक्षाप्रणाली में सबसे पहला स्थान शारीरिक स्वतन्त्रता को मिलना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि हमारे शरीर में स्वावलम्बन की शक्ति हो, इसमें किसी प्रकार का रोग न हो, यह अपने अधिकारों की रक्षा करने की सामर्थ्य रखता हो। जब सारी उन्नतियों का साधन तथा आध्यात्मिक विषयों के समझने की मशीन शरीर ही है तो पाठ्य-प्रणाली में इसका स्थान सब से पहले होना चाहिये। एक विद्वान् ने कहा भी है—

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"

अर्थात् धर्म करने का सबसे पहला साधन शरीर है। इसकी पुष्टि पर सारी भावी आशाएं निर्भर हैं। कैसा ही विद्वान् क्यों न हो, यदि उसका शरीर रोगी है तो वह अपनी विद्या से पूरा लाभ नहीं उठा सकता। श्रेष्ठ विचार भी स्वस्थ्य शरीर में ही रह सकते हैं। अंग्रेजी में कहावत है—Sound mind in sound body.—नीरोग विचार नीरोग शरीर में ही रह सकते हैं। इसी भाव को यूनानी दार्शनिकों ने कला के रूप में—"A beautiful soul in a beautiful body."—अर्थात् सुन्दर आत्मा सुन्दर शरीर में निवास करती है, प्रदर्शित किया है। जिस शिक्षाप्रणाली में शारीरिक उन्नति पर ध्यान नहीं दिया जाता उसकी इमारत रेत की भीत पर है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि शिक्षित बनने के लिए शारीरिक स्वतन्त्रता सब से पहली सीढ़ी है।

आप शायद इसको कोई नया विचार कहेंगे, परन्तु यदि आप अपने शास्त्रों को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो पता लगेगा कि उन्होंने शिक्षा की बुनियाद ही ब्रह्मचर्य्य पर रखी है। वीर्य्यरक्षा किये बिना शरीर पुष्ट हो ही नहीं सकता। इस हेतु स्थान-स्थान पर विद्यार्थी को वीर्य्यरक्षा का उपदेश दिया गया है; क्योंकि प्राचीन काल के आर्य्य लोग इस बात को भली प्रकार जानते थे कि जाति के उच्च आदर्शों की पूर्ति नीरोग सन्तान ही कर सकती है। भला जिस जाति के बच्चे मन्दाग्नि से ग्रस्त हैं, जो अपना खाया-पिया हज़म नहीं कर सकते, वे भला बलिष्ठ विचारों को कैसे ग्रहण कर सकते हैं। उत्तम बीज के लिए अच्छी भूमि की आवश्यकता है, वहीं पर वह फूल-फल सकता है। बीमार, पीले चेहरे वाले, दुबले-पतले नपुंसक लोगों के सामने यदि कर्म्मवीर बनने का पवित्र उपदेश दिया जाता है तो भला वह किस काम आ सकता है ? कोई जाति शारीरिक अवस्था सुधारे बिना अपने पवित्र मिशन को पूरा नहीं कर सकती। आज योरुप की जातियां शारीरिक स्वतन्त्रता की महत्ता को समझ कर अपने बच्चों को बलशाली बनाने के लिए करोड़ों रुपया खर्च करती हैं।

जब मैं अमरीका में जाकर शिकागो विश्वविद्यालय में भर्ती हुआ, तो मुझे व्यायाम की शिक्षा की उपयोगिता मालूम हुई। विश्वविद्यालय की ओर से एक डाक्टर केवल विद्यार्थियों की तन्दुरुस्ती देखने के लिए नियुक्त था और कोई विद्यार्थी भी व्यायाम की शिक्षा से वंचित नहीं रह सकता था। जैसे पढ़ाई के और विषय लाज़मी समझे जाते हैं, उसी प्रकार शारीरिक दशा की उन्नति भी समझी जाती है। प्रत्येक विश्वविद्यालय के साथ बड़ी बढ़िया आधुनिक-साधनसम्पन्न व्यायामशाला है, जहाँ पर विद्यार्थीगण प्रतिदिन व्यायाम कर अपने अंग-प्रत्यंग दृढ़ करते हैं। जो विद्यार्थी व्यायाम सम्बन्धी शिक्षा में त्रुटि करता है, वह युनिवर्सिटी की डिग्री प्राप्त नहीं कर सकता।

अब ज़रा अपने यहाँ के स्कूल-कालेजों की दशा देखिये। अच्छे-भले तन्दुरुस्त लड़के स्कूलों में जाकर बुरी-बुरी आदतों को सीख जाते हैं और

जब परीक्षा पास करके निकलते हैं तो उनका शरीर अति दुर्बल हो जाता है। वे लोग यही समझते हैं कि स्कूल में पढ़ने का अभिप्राय केवल इम्तिहान पास करना है और प्रत्येक अध्यापक लड़कों की शारीरिक अवस्था की तनिक परवाह न कर परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों की संख्या बढ़ाना ही अपना परम कर्त्तव्य समझता है। हजारों विद्यार्थी अपनी शारीरिक अवस्था को स्वाहा कर परीक्षा के हेतु बलिदान होते हैं। यही कारण है कि जब परीक्षा पास करके विद्यार्थी कालिजों से निकलते हैं तो उनसे कुछ देश-सेवा नहीं बन सकती। वे बेचारे डाक्टरों के दरवाजे देखते रहते हैं या झूठे वैद्यों के विज्ञापनों को पढ़कर अपना रहा-सहा बल भी खो बैठते हैं।

विचार कीजिये कि संसार के इस उन्नत काल में निर्बल भारत-सन्तान क्या कर सकती है? आज जीवन-दौड़ का भीषण संग्राम है। पग-पग पर जबर्दस्त शक्तियों का सामना करना है। अपने नित्य की जीवनचर्य्या में देखिये, निर्बल शरीर कैसी ठोकरें खाता है! आपके पास तीसरे दर्जे का टिकट है और रेलगाड़ी में चढ़ने के लिए आप आगे बढ़ते हैं। जब दरवाजा खोल कर अन्दर चढ़ना चाहते हैं तो एक मोटा-सा गँवार आपको धक्का देकर बाहर निकाल देता है। उस समय आपकी अवस्था क्या होती है? जरा विचार तो कीजिए। शारीरिक बल न रहते आप कैसा छटपटाते हैं। यद्यपि आपके पास भी टिकट है और आप को पूरा अधिकार गाड़ी में बैठने का है, लेकिन आप अपने उस अधिकार का कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते, यदि उसकी रक्षार्थ आपमें शारीरिक बल नहीं है। स्मरण रखिए, अधिकारों की रक्षा शारीरिक शक्ति प्राप्त किए बिना नहीं हो सकती। अच्छा यदि आप स्टेशनमास्टर या रेलवे-गार्ड की सहायता से उस गाड़ी में चढ़ भी गये तो क्या वह मोटा गँवार आप को आराम से बैठने देगा? वह मजे से टाँग पसार कर लेट जाता है और आप गाड़ी के एक कोने में खड़े झूठे वैराग्य का पाठ पढ़ रहे हैं— "यह दुनिया मुसाफिरखाना है, दो-तीन घण्टे की तो बात ही है, इस रेल

में क्या किसी को घर बनाना है ? अरे भाई ! हमारे लिए कोना ही अच्छा है।" इस प्रकार मन को तसल्ली देकर आप अपनी यात्रा पूरी करते हैं और संसार की जातियाँ आपको धक्के लगाकर कोने में फेंक रही हैं। जिसे आप वैराग्य समझते हैं, वह कायरता है। अपने भीरुपन को वैराग्य के पवित्र आवरण में मत छिपाइये। शारीरिक बल प्राप्त कीजिये। अपने अधिकारों की रक्षा करने की शक्ति बढ़ाइये और सदा अपने प्राचीन वीर आदर्श को सामने रखिये। पाश्चात्य जातियों का सिद्धान्त—"Might is right"—जिसकी लाठी उसकी भैंस है, किन्तु हमारा आदर्श—'Right is might" है अर्थात् जिसका जो अधिकार है, वही उसकी शक्ति है। इसलिए शारीरिक बल की प्राप्ति कीजिए, परन्तु उद्देश्य यह रखिए कि हम इसके द्वारा अपने और दूसरों के अधिकारों की रक्षा करेंगे। जहाँ कहीं बालक, वृद्ध और बालिकाओं पर अत्याचार होता हो, वहाँ अपने शारीरिक बल से दुष्टों को दण्ड दीजिए। बल ग़रीबों को सताने के लिए नहीं होता, बल्कि उनकी सहायता करने के लिए है। यही सच्चा कर्मयोग है। जिसके पास अपनी रक्षाहेतु किसी प्रकार की शक्ति नहीं है, उसके लिए वैराग्य के गीत गाना केवल अपनी भीरुता प्रगट करना है।

अब जरा अपने यहाँ के शिक्षित लोगों की दशा देखिये। हमारे यहाँ जो कोई हट्टा-कट्टा शारीरिक बल से हृष्ट-पुष्ट नवयुवक हो तो उसको लोग गुण्डा समझते हैं और इनकी परिभाषा में भलामानस वह है जो दुबला, पतला, सिर में तेल लगाये हुए, बाल-कंघी किये हुए, नये फैशन का बाबू फूँक से उड़ने वाली छड़ी रखने वाला हो। माँ-बाप बड़े अभिमान से कहते हैं—"मेरा बच्चा किसी से लड़ता-झगड़ता नहीं। जो कोई इसको मारता भी है तो यह भले मनुष्यों की तरह चुप-चाप मार खा लेता है।" यह हमारी आजकल की भलमनसाहत है। मेरी आप लोगों से प्रार्थना है कि ऐसी कायरता की शिक्षा को बच्चों के दिलों से निकाल दीजिए और उनके हृदय पर स्वत्वाभिमान की शिक्षा खचित कीजिए। जो

कोई उनका अपमान करे और वह विनय अथवा नम्रता से न माने तो उन्हें उसकी यथायोग्य पूजा करने के लिए उद्यत रहना चाहिये। प्रत्येक माता-पिता का यह धर्म्म है कि वे अपने बच्चों को नियमपूर्वक व्यायाम करावें और कसरत किये बिना कभी भी भोजन खाने को न दें। यदि वे इस नियम में असावधानी करेंगे तो उनकी सन्तान को अपने भावी जीवन में सदा दूसरों से मार खानी पड़ेगी।

मैं एक बार इलाहाबाद से देहरादून जा रहा था। एक दुबला-पतला बङ्गाली मेरी बग़ल में खिड़की के पास बैठा था। लखनऊ के स्टेशन पर वह बेचारा अपनी टोपी अपनी जगह पर रखकर पानी पीने को नीचे उतरा। पीछे से एक लम्बा-चौड़ा जवान आदमी आकर उसकी टोपी ऊपर फेंक आप उसकी जगह पर बैठ गया। जब बङ्गाली पानी पीकर आया और अपनी जगह पर उस गुण्डे को बैठे देखा तो बेचारा भीगी बिल्ली की तरह चुपके से अपनी टोपी उठाकर दूसरी जगह जा बैठा। मुझसे न रहा गया। मैंने उस गुण्डे को प्रेम से समझाना चाहा, पर भला वह क्यों मानता था। अन्त को मैंने उसे कहा कि यदि आप इसी प्रकार मेरी जगह पर बैठ जाते तो मैं आपकी खूब मरम्मत करता। इस पर वह बिगड़ कर बोला—

"आप जैसे पूजा करने वाले मैंने बहुत देखे हैं !"

"अच्छा मैं उठता हूँ, तुम मेरी जगह पर बैठ कर देखो !"

यह कहकर मैं उठ खड़ा हुआ और ज्यों ही वह मेरी जगह पर बैठा, मैंने उसकी गरदन दबा, टाँगें पकड़ नीचे पटक दिया और छाती पर चढ़ दो घूंसे ऐसे लगाए कि उसके रुधिर बहने लगा। लोगों के छुड़ा देने पर वह उठकर कहने लगा—

"आप फकीर होकर इतना गुस्सा करते हैं, यह आपके लिए वाजिब नहीं था।"

इस पर बङ्गाली हँस कर बोला—"ये स्वामी जी महाराज हैं, इनका काम उपदेश देना है। जो मनुष्य बात से नहीं मानता, उसको लात से

भी समझाते हैं।"

इस पर सब लोग खिलखिला कर हँस पड़े। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए बल होना चाहिये।

इसी प्रकार की एक और घटना मेरे साथ हरदोई में हो गई। हरदोई में नागरी-प्रचारार्थ में व्याख्यान देने गया था। वहां अपने कार्य से निपट कर प्रयाग लौटने के लिए ड्योढ़े दरजे का टिकट खरीद मैं गाड़ी में जा बैठा। एक दस वर्ष का बालक भी मेरे साथ हरदोई से कहीं दूसरी जगह जा रहा था। उसके लिए बैठने को जगह न थी। एक 'भला मानस' सारी बेन्च पर कब्जा कर मुंह ढाँपे लेटा हुआ था : गाड़ी पर चढ़ते समय मैंने उसे मुंह खोले देखा था। मुसाफिरों को देख कर उसने मुंह ढांप लिया और टांग पसार कर सोने का वहाना किया था। उसका यह स्वार्थपूर्ण आचरण मुझे अच्छा न लगा, इसलिए जब उस बालक को बैठने की जगह न मिली और उसने मुझसे पूछा——

"स्वामी जी ! मैं कहां बैठूं ?"

तो मैंने तत्काल ही उसको लेटे हुए आदमी के ऊपर बैठने का इशारा किया। वह बालक मेरा इशारा पाकर उस स्वार्थी पर चढ़ बैठा। अब क्या था ! वह धूर्त चिल्ला कर उठा और लड़के को मारने की धमकी दी। तब मैंने कहा—"उस बालक को क्यों धमकाते हो, वह मेरे कहने पर आपकी छाती पर बैठा था।"

यह धूर्त देखने में मजबूत था, इसलिए गरज कर कहने लगा—

"आप कौन हैं उसको मेरे ऊपर बिठलाने वाले ?"

मैं मुस्करा कर—"लाल-पीली आँखें तो दिखलाओ नहीं। सारी बेंच संभाल कर टाँग पसार लेना, यह आपका अनुचित कार्य्य था। जब आपने मुसाफिरों को आते हुए देखा तो स्वयं ही आपको उठकर बैठ जाना था। आपने ऐसा न कर, मुँह ढाँप, झूठा बहाना बनाने की चेष्टा की तो मुझे लाचारी से लड़के को आप पर बिठलाना पड़ा।"

धूर्त (अकड़ कर)—"अगर मैं इस लड़के को दो-चार लगा देता तो आप क्या करते ?"

"मुझे आपकी पूजा करनी पड़ती ।"

इस पर वह बहुत बिगड़ने लगा । तब मैंने उसे कहा—

"देखो, घबराओ मत । लखनऊ का स्टेशन निकट ही है । वहाँ उतर कर आपकी और मेरी कुश्ती होगी ।"

बस इतना काफी था । उसके क्रोध का नशा उतर गया और वह बेंच के एक कोने में सिमट कर बैठ गया । फिर प्रेम से मैंने उसे समझाया—

"हम सबको एक दूसरे के अधिकारों का ध्यान रखना चाहिये । जब हम दूसरे के आराम का ख्याल करेंगे तो दूसरा भी हमारे आराम का ध्यान रक्खेगा । आप बलवान हैं, मजबूत हैं, अतएव आपका कर्तव्य अपने से कमज़ोरों को सुख देने का है । यदि हम सब प्रेमपूर्वक रहना सीख जायें तो हमारी सब कठिनाइयां दूर हो सकती हैं ।"

इस पर शान्ति होगई और दूसरे सब यात्री बड़े प्रसन्न हुए । संसार में अपने अधिकारों की रक्षा-हेतु युद्ध करने की आवश्यकता पड़ती है और बहुत से सुधार बिना संग्राम और शक्तिसंचय किये हो नहीं सकते । व्यक्तियों की शक्ति पर राष्ट्र की शक्ति निर्भर है, अतएव शिक्षा-प्रणाली के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करते समय देश-हितैषियों को सबसे पहले 'शारीरिक स्वतन्त्रता' का प्रबन्ध करना चाहिये । इसके लिए स्थान-स्थान पर "Gymnasium, अखाड़े, व्यायामशालायें" खोलना ठीक होगा । उन व्यायामशालाओं में धनी और निर्धनों के बालक, सुबह और शाम दोनों समय आकर व्यायाम करें । आधुनिक योरुपीय ढंग की कसरतों का प्रबन्ध होना चाहिये । तैरना सीखने के लिए निर्मल जल का तालाब होना उचित है । स्नान के लिए स्नानागार हों । यदि इन व्यायामशालाओं के साथ-साथ सच्चरित्रता सिखाने तथा पुस्तकावलोकन के साधन भी हों तो क्या कहना है !

जरा आँख उठाकर अपने बालकों की दशा देखिये । उनकी शारीरिक अवस्था बिगाड़ने के कैसे-कैसे भयानक साधन विद्यमान हैं ! गन्दे गली-कूचे, अश्लील गीत और बुरी आदतें सिखाने वाले साथी किस निर्दयता से उनके मनुष्यत्व का नाश कर रहे हैं ! हमारे नगर-नगर में मन्दिर, देवालय तथा शिवालय हैं । उनमें हजारों उपासक नित्यप्रति जाते हैं । क्या हमारे उपास्यदेव दुर्बलेन्द्रिय, विषयी और नपुंसक सन्तान की भेंट ग्रहण कर प्रसन्न हो सकते हैं ? कदापि नहीं । आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक मन्दिर के साथ एक व्यायामशाला होनी चाहिये । सवेरा होते ही नागरिकों के दल-के-दल वहाँ पर उपस्थित हों, बालक अपने-अपने लंगोटे लिये वहाँ आवें । नवयुवक कन्धे पर जाँघिए रखे खिले चेहरों से व्यायामशाला में प्रवेश करें; वहाँ ईश्वर-प्राप्ति के पवित्र साधन, मनुष्यत्व की खान, आत्मा की शक्तियों का प्रादुर्भाव करने वाले यन्त्र—'शरीर'—को पुष्ट किया जाये । गतका, फरी, पटा आदि का भी अभ्यास करना चाहिये । खूब शारीरिक परिश्रम करने के बाद थोड़ी देर आराम कर स्नानादि से निश्चिन्त हो, धूप-दीप-नैवेद्य हाथ में लेकर श्रद्धा से अपने पूज्य उपास्यदेव के मन्दिर में प्रवेश कीजिये । हमारी भगवती देवी, हमारे भगवान् कृष्णचन्द्र, मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र जी तथा कैलाशपति महादेव जिस समय बलिष्ठ, वीर्यवान् और नीरोग उपासकों को मन्दिर में प्रवेश करते देखेंगे तो उनके आनन्द की सीमा न रहेगी । परीक्षा के समय जब कभी उस देवालय की रक्षार्थ बलिदान की आवश्यकता पड़ेगी तो वीर्यवान् सन्तान ही अपनी विशाल भुजाओं से अपने इष्टदेवों की सेवा कर कीर्ति-लाभ कर सकती है । नपुंसक और रोगी उपासकों से देवता कैसे प्रसन्न हो सकते हैं ! परमात्मा की प्राप्ति का साधन—शरीर—यदि बिगड़ गया तो फिर भला ईश्वर-दर्शन कैसे हो सकता है ? इसीलिए उपनिषद् कहती है—

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।"

अर्थात् बलहीन व्यक्ति को आत्मा और परमात्मा प्राप्त नहीं हो

सकते। प्रभु की गोद में बैठने के लिए भी सुन्दर शरीर चाहिये। जो लोग शरीर को तुच्छ समझ कर इसकी अवहेलना करते हैं वे ईश्वरीय आज्ञा का पालन नहीं करते।

स्मरण रखिए, संसार एक संग्राम-क्षेत्र है। इस क्षेत्र में हम सब सिपाही हैं जो युद्ध हेतु यहां आये हैं। बिना युद्ध-विद्या सीखे हम इस क्षेत्र में विजयश्री लाभ नहीं कर सकते। पग-पग पर हमारा कठिनाइयों से सामना है। बाधाओं को जीतने वाला साधन शरीर है। यदि शरीर निर्बल है तो हम कभी भी संग्राम में ठहर नहीं सकते; हमें दुम दबा कर भागना पड़ेगा। वे ही विजयलक्ष्मी के सिंहासन पर बैठ सकेंगे जिन्होंने शारीरिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति की है। ब्रह्मचारी बनने के लिए, वीर्य-रक्षा हेतु और विकट शत्रुओं—काम-क्रोधादि—का सामना करने के लिए भी बलवान् शरीर ही सहायक हो सकता है। भला कमज़ोर अंगों वाले मनुष्य कामदेव का सामना कैसे कर सकते हैं? वे ज़रा से धक्के में गिर पड़ते हैं और उनमें सामना करने की शक्ति नहीं रहती। यदि आप संयमी बनना चाहते हैं तो पहले शरीर की साधना कीजिए। खूब व्यायाम द्वारा इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग को बढ़ाइए। जब यह साधन आपके उपयुक्त होगा तभी आपको यह यथेष्ट सिद्धियां दे सकता है। बदन में फुर्ती आएगी, बीमारी दूर भागेगी, मस्तिष्क काम देगा और आप जीवन-सुख का आनन्द ले सकेंगे।

शिक्षा के इस पहले साधन—'शारीरिक स्वतन्त्रता'—पर प्रत्येक देश-हितैषी को ध्यान देना चाहिए और जहां-जहां शिक्षा का प्रबन्ध किया जाये वहां सबसे पहले व्यायामशाला का प्रबन्ध होना उचित है। यह आवश्यक नहीं कि बड़ी भारी, बहुत खर्च की ही व्यायामशाला हो। कम खर्च पर—दो-चार सौ रुपये लगाने से भी काम चल सकता है। यदि इतना भी न हो सके तो खुले मैदान में दौड़, कबड्डी, कुश्ती, मुगदर, सौंची, बैठकी, फरी, गतका आदि कसरतों का अभ्यास कर लेना ही काफ़ी होगा। कुछ-न-कुछ उपाय, कुछ-न-कुछ व्यायाम के साधन प्रत्येक स्कूल व

पाठशाला के साथ होने चाहिएं।

'शारीरिक स्वतन्त्रता' मनुष्य को शिक्षित बनाने का पहला साधन है। इसकी उपयोगिता आपने देख ली, इसकी व्याख्या भी सुन ली। अब दूसरे साधन—'आर्थिक स्वतन्त्रता'—के विषय में जो-कुछ मेरा निवेदन है उसे भी कृपया ध्यानपूर्वक सुनिये।

आर्थिक स्वतन्त्रता

शिक्षित मनुष्य में धनोपार्जन की योग्यता का होना भी परमावश्यक है। जो मनुष्य अपने-आप को पढ़ा-लिखा कह कर स्वतन्त्र रोटी कमाने की भी शक्ति नहीं रखता, उसका पढ़ना-लिखना व्यर्थ है। आज हमारे स्कूल और कालेजों में पढ़ने वाले छात्र किस प्रकार इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं! छः वर्ष के हुए, माँ-बाप ने स्कूल में पढ़ने को भेजा, दस वर्ष मेहनत करके परीक्षा पास की, चार वर्ष दिमाग़ खाली कर बी० ए० की डिग्री ले ली, डिग्री लेने पर भी प्रश्न वही सामने है—"हमें रोटी कैसे मिलेगी?" माता-पिता ने अपनी जायदाद बेच कर लड़के को पढ़ाया, हजारों रुपये खर्च होगये, कर्ज़ सिर पर होगया, जब पढ़-लिख कर बाहर निकला और माता-पिता को आशा हुई कि अब सारा दरिद्र दूर हो जायगा तो उस समय एक नई समस्या खड़ी हो जाती है। अब चाहिए नौकरी की सिफ़ारिश करने वाला। कहीं सिफ़ारिश लग जाय, किसी साहब के सामने जाकर गिड़गिड़ाया जाय, उसको डालियां दी जायें, किसी ग़रीब की नौकरी हटवा कर अपना उल्लू सीधा किया जाय, तब कहीं जाकर नौकरी लगती है और उस बी० ए० की डिग्री का 'सब्ज़ बाग़' देखने में आता है। उस सब्ज़ बाग़ के नज़ारे देखिए। वहाँ मिलता है उन कालेज की डिग्रियों का सुन्दर पहला पुरस्कार—

Yours faithfully
आपका वफादार

यह तो हुआ पहला नज़ारा। अब दूसरे पुरस्कार की ओर

आइये। जिसकी सिफ़ारिश से 'आपका वफादार' बने हैं, उसकी सड़कें नापना, यह उस सब्ज़ बाग़ का दूसरा नज़ारा है। तीसरा पुरस्कार है अपना आत्म-सम्मान खोकर अफसरों की गालियाँ सिर-माथे पर लेना। अब सुनिए चौथे पुरस्कार की बात। दास का धर्म-कर्म कुछ नहीं होता। उसे 'जी हुज़ूर' बन कर केवल हुक्म मानना पड़ता है। आज लाखों भारतीय इन चार प्रकार के पुरस्कारों से लदे हुए अपना दुःखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनसे जाकर पूछिये। कैसे-कैसे झूठ, कैसी-कैसी मक्कारियाँ उनको नौकरी की खातिर करनी पड़ती हैं! अपने अफ़-सरों को खुश करने के लिए उन्हें कैसे-कैसे स्वांग रचने की ज़रूरत पड़ती है! लड़का घर में बीमार है, छुट्टी चाहिए, अब छुट्टी कैसे मिले? अपने अफसर से जाकर छुट्टी माँगते हैं। वह 'काम अधिक है' का डर दिखाता है; छुट्टी नहीं मिलती। अब क्या किया जाय? किसी डाक्टर मित्र के पास जाकर, दस-पांच रुपये दक्षिणा देकर, उससे अपनी बनावटी बीमारी का सार्टिफिकेट लेते हैं और बीमारी (Sick Leave) की झूठी अरज़ी भेज कर आत्मा को धोखा देते हैं। जानते हैं कि पाप कर रहे हैं, पर क्या करें—'मरता क्या नहीं करता'—लड़के के इलाज के लिए छुट्टी ज़रूर चाहिए। जब हाकिम छुट्टी न दे तो उसकी आँखों में धूल झोंकने के लिए कुछ बहाना करना ही पड़ता है।

और तमाशा देखिए। नगर में कोई प्रसिद्ध व्याख्यानदाता आता है। लोग उसका जोशीला प्रभावशाली व्याख्यान सुनने के लिए जाते हैं, पर यह क्रीतदास बाबू बेचारा मन मसोस कर घर बैठा रहता है। वह अपने देश-हितैषी बन्धुओं के उपदेश तक नहीं सुन सकता। नौकरी क्या की कि मानों शरीर और आत्मा बेच दिये। देश का हित साधन करने वाली सभाओं के अधिवेशनों में वे जा नहीं सकते। वाह री शिक्षा! वाह रे इसके सब्ज़ बाग़! ऐसी शिक्षा से तो अनपढ़ रहना अच्छा है। क्या शिक्षा के ये अर्थ हैं कि आप अपनी स्वतन्त्रता बेच दें? हां, इस अभागे देश में इसके यही अर्थ समझे जाते हैं। जब इन नौकरी-पेशा शिक्षितों से

देश-सेवा के लिए कुछ कहा जाता है तो वे आहें भर कर रह जाते हैं।

भला कौन समझदार इस स्कूली, स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाली और जीवन को नरकसम बनाने वाली शिक्षा को 'शिक्षा' कह सकता है। यह शिक्षा नहीं है, यह मकड़ी का ताना-बाना है। जो इसमें फंसा, वह गया। एक बनिये का लड़का चार आने का चना खरीदता है। वह उसको उबाल कर, नमक मिर्च लगा कर, बाजार में बेच कर आठ आने के पैसे पैदा करता है। वह कलमघिस्सू, कुरसी तोड़ने वाले, तथा अफसर की हां में हां मिलाने वाले 'जी हुजूर' महाशय से लाख दर्जे अच्छा है, उसको अपनी आत्मा का हनन तो नहीं करना पड़ता! वह जब चाहे तभी स्वेच्छानुसार घूम सकता है। वह अपनी मरजी का मालिक है। उसे किसी के सामने गिड़गिड़ाना नहीं है, उसे छुट्टी मांगने की ज़रूरत नहीं, देश-सेवा कर सकता है, देश-भक्तों से मिल सकता है, उनके व्याख्यानों का आनन्द ले सकता है; पर हमारा कालेज का ग्रेजुएट बेचारा 'मिल' और 'स्पेन्सर' पढ़ कर भी अपने गले में जञ्जीर बांधे हुए है और अपनी शक्तियों को बेच रहा है।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के ऐसे जहरीले फल क्यों हैं ? उत्तर स्पष्ट है। स्कूल और कालेजों की शिक्षा असल में शिक्षा नहीं है, यह केवल परीक्षा पास कराने की मशीन है। खूब रट-रट कर, घोटा लगाकर परीक्षा पास कर लेना ही इसका मुख्य उद्देश्य है। प्रत्येक कालेज का अधिष्ठाता परीक्षोत्तीर्ण छात्रों की संख्या बढ़ाना—फी सदी अधिक लड़के पास कराना—ही अपना उद्देश्य समझता है। स्कूलों के अध्यापक निरीक्षकों को बड़े गौरव से कहते हैं—"देखिये महाशय! हमारे स्कूल में से सेन्ट-पर-सेन्ट लड़के पास होते हैं।" बस, मतलब पूरा होगया, शिक्षा की इति-श्री होगई। लड़कों की तन्दुरुस्ती, उनका चरित्र बिगड़ जाय तो बिगड़ जाय, पर 'पास' होना चाहिये। लड़के परीक्षा पास करना अपना मुख्य कर्तव्य समझ कर, सब कुछ उसके लिए बलिदान

कर देते हैं और परीक्षा पास कर लेने पर समझ बैठते हैं—"बस, अब मैदान मार लिया। अब संसार के दुःखों से छूट गये।"

बेचारे यह नहीं जानते कि उनके जीवन का सबसे अच्छा समय गुज़र गया और अब मुसीबतों का आरंभ होने लगा है। फोनोग्राफ़ की भाँति उन्हें पढ़ाई की सब बातें याद हैं और जब चाहें तभी उन्हें उगल कर दूसरों का मनोरञ्जन कर सकते हैं। बेचारे अपने लिए कुछ नहीं कर सकते, वे केवल दूसरों के मनोरञ्जनार्थ हैं। मिल और स्पेन्सर के उपदेश तो उन्हें कण्ठ हैं, पर उनसे रोटी कमाने में कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती।

सहायता हो कैसे? पहले तो इस शिक्षा द्वारा शरीर खो दिया—तन्दुरुस्ती नष्ट हुई—जो कुछ बचा उससे आर्थिक स्वतन्त्रता लाभ करने के लिए सर्वथा असमर्थ हैं। चौदह वर्षों की शिक्षा नवयुवकों को इस योग्य नहीं बना सकती कि वे स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाह कर सकें। घर की पूँजी स्वाहा होगई और परिणाम निकला—नौकरी! यदि उसी पूँजी से कालेजों में समय नष्ट न किया जाता, तो अच्छे रहते। दुकान खोलकर मज़े में गुज़ारा कर सकते थे। धन भी गया, शक्ति भी गई, स्वतन्त्रता भी बेच डाली, अब जीवन का साधन केवल दूसरों पर निर्भर रहने पर ही रह गया है। दस रुपये की नौकरी के लिए जूतियाँ चटखाते फिरते हैं, मगर हाथ से कोई उद्योग-धन्धा नहीं करेंगे। अंग्रेज़ी पढ़कर धन्धा! स्वतन्त्रता की खान 'उद्योग' से इन्हें घृणा है। हमारे देश में पढ़ने-लिखने का अर्थ यह है कि केवल क्लर्की की जाए और अपने देश के अनपढ़ भाइयों की बेबसी का दुरुपयोग कर रुपया पैदा किया जाय। अब बढ़िया बूट-सूट चाहिये। घर में खाने को न रहे, मगर फैशन पूरा होना चाहिए। जहाँ अंग्रेजी की गिटपिट आई वहीं भेष बदला और जेन्टलमेनों का भूत सिर पर सवार हुआ। यदि बाप अपने मिडिल पास बेटे को बाजार से आटा खरीद लाने को कहता है तो बेटा बाजार जाकर सौदा खरीदने से हिचकिचाता है। यदि किसी प्रकार मान भी लिया तो दो, चार या दस सेर

आटा उठाने के लिए उसे एक नौकर चाहिए। अंग्रेजी पढ़ने से हाथों में मेंहदी लग जाती है और वे सुन्दर बन कर जेबों में रखने लायक रह जाते हैं।

एक बार मैं सण्डीले में व्याख्यान देने के लिए गया। किसी स्कूल के अध्यापक ने बुलाया था। वे अपने विद्यार्थियों के साथ रहा करते थे। जब मैं उनके स्थान पर जाकर पहुँचा तो उन्होंने आदरपूर्वक खाट डालकर उस पर सफेद कपड़ा बिछा दिया। मैं बैठ गया। जब मैंने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो खटिया के पास बहुत सा कूड़ा जमा देखा। उस विद्यार्थी से मैंने पूछा—

"क्यों बेटा! यह सब कूड़ाकर्कट क्यों जमा कर रखा है?"

लड़का बहुत झेंपा; कुछ ठहर कर बोला—"स्वामीजी, हमारा नौकर आज छुट्टी पर गया है।"

मुझे बड़ी हँसी आई। एक दूसरा नौकर जो मेरे लिए जल लाया था, उसकी ओर इशारा कर मैंने कहा—"यह आदमी किस लिए है? यह साफ़ कर सकता था।"

विद्यार्थी—"स्वामीजी, यह तो ब्राह्मण है। यह घर में झाड़ू नहीं दे सकता। यह केवल भोजन बनाता है।"

अपने देश के बच्चों की ऐसी अज्ञानता देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैंने कहा—"क्या झाड़ू देने से हाथ घिस जाते हैं? तुम स्वयं अपने हाथ से झाड़ू दे सकते थे और कमरा साफ कर सकते थे। लाओ झाड़ू, हम कूड़ा निकालते हैं।"

मेरे इतना कहने पर वह विद्यार्थी बड़ा लज्जित हुआ। दोनों विद्यार्थी लगे मकान साफ करने। असल बात क्या थी? वे दोनों क्षत्रिय बालक थे; अपने हाथ से झाड़ू देना उन्हें अपने लिए अप्रतिष्ठा का कारण मालूम होता था। तिस पर अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने वाले और धनी जमींदार के लड़के! हाथ से काम कैसे करें! और नौकर जो मौजूद है वह ब्राह्मण है! ऐसी दशा में कूड़ा-कर्कट कौन निकाले? यह दशा इस देश के बच्चों

की है। एक सिर्फ रोटी बनाने का काम करेगा, दूसरा केवल बर्तन मांजने का, तीसरा धोती धो सकता है। मेहनत-मजदूरी से डरने वाली भारत-सन्तान आज यदि इस बीसवीं शताब्दी में निर्धन है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ! जिस देश के शिक्षित मजदूरी की महत्ता (Dignity of Labour) को नहीं समझते, मजदूरी करने से भागते हैं, जो उद्योग-धन्धे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जो झूठे जाति-अभिमान में डूबे रहते हैं, ऐसा देश यदि निर्भरता के गहरे समुद्र में डूबा हुआ है तो कोई ताज्जुब की बात नहीं।

शिक्षा में मेहनत-मजदूरी (Manual Training) को सब से पहले स्थान मिलना चाहिये। जितना धन पैदा होता है, वह सब मेहनत-मजदूरी से पैदा होता है। ईश्वरदत्त इस भूमि से यदि हम मजदूरी द्वारा काम न लें तो हमें किसी प्रकार के धन की प्राप्ति नहीं हो सकती। हमारे भोगों के जितने सामान हैं वे सब मजदूरी द्वारा सिद्ध होते हैं। एक वक्त का भोजन हज़ारों मनुष्यों के परिश्रम का परिणाम है। फिर मजदूरी से घृणा क्यों ? बढ़ई, लुहार, तेली, कहार, मोची, सुनार और किसान हमारी आंखों में जंचते ही नहीं; वे छोटी जाति के लोग समझे जाते हैं, वे नीच हैं। अब इन ऊँचों की दशा देखिये। जो सबको लूट खायें, निर्दयी सूद द्वारा ग़रीबों का ख़ून चूस लें, रिश्वत ले-ले कर बड़े-बड़े मकान बना लें, जो दिन में सैकड़ों बार झूठ बोलें, ऐसे लोग कुलीन, ऊँचे दर्जे के और भद्र समझे जाते हैं। उनकी सब जगह प्रतिष्ठा होती है।

कितना बड़ा अन्याय है। देश का धन पैदा करने वाले, ज्येष्ठ तथा आषाढ़ की धूप सह कर अन्न उत्पन्न करने वाले तो छोटे दर्जे के समझे जायँ और मुफ्तखोर निखट्टू लोगों की समाज में प्रतिष्ठा हो। भला ऐसी दशा में कौन मजदूरी की ओर मुँह करेगा ! आज मज़दूरी का जमाना है। कल-कारखाने बिना मज़दूरी के नहीं चल सकते, आविष्कार बिना मज़दूरी के नहीं हो सकते, मशीनें बिना हाथ हिलाये चल नहीं सकतीं। अमरीका, योरुप और जापान आज मजदूरी के बल पर मालामाल हो रहे

हैं। विदेशी लोग आज उद्योग-धन्धे के सहारे भारत का रहा-सहा रुपया खींच रहे हैं। यह मजदूरी की शताब्दी है। आज भारतीय बच्चे यदि मजदूरी से घृणा करेंगे तो उनका गुजारा कैसे हो सकता है! हमारे यहाँ सब कोई बिना हाथ-पैर हिलाये मालदार होना चाहता है। इसीलिये चारों ओर झूठ-मक्कारी का बाजार गरम है। हमारा आदर्श धर्म-प्रचारक वही समझा जाता है जो निकम्मा बैठने की शिक्षा दे और जो कर्मण्यता सिखाता है वह इनकी दृष्टि में दुनियादार है। भीख माँग खायेंगे, पर काम नहीं करेंगे। बड़े-बड़े मोटे-ताजे फक़ीर हाथ फैलाये दुकान-दुकान पैसा माँगते फिरते हैं। उनसे काम करने को कहो तो काट खाने को दौड़ते हैं। कहेंगे—"बाबा आपकी जय मनाते हैं। राम-नाम जपते हैं।" बस होगया! इन्हें भीख माँगते तनिक लज्जा नहीं आती। लज्जा कैसे आवे, लज्जा तो रुपया-पैसा देने वालों को आनी चाहिए। मैंने ऐसा कोई मूर्ख देश नहीं देखा जहाँ के लोग घर का पैसा खर्च कर अपने देशवासियों को निकम्मे और आलसी बनाते हों। भारत की यह जोंकें ग्राम-ग्राम, नगर-नगर घूम कर भारतीय किसानों का खून चूसती हैं। मेलों में देखो, नाना रूप धर कर ये पाखण्डी फक़ीर जनता का पैसा ठगते हैं और मुफ्तखोरों की संख्या बढ़ाते हैं। सर्वसाधारण में ऐसे ही धूर्तों की पूजा होती है। खबर मिलनी चाहिये कि कोई बाबाजी आए हैं और वे मौनी हैं—बस, फिर लोगों का ठट्ठ उनके दर्शनार्थ जमा हो जाता है। सब प्रकार की भेंट-पूजा होती है। भोले-भाले लोगों के हजारों रुपये इसी प्रकार ठगे जाते हैं। देश के बच्चों के सामने अकर्मण्यता का आदर्श रक्खा जाता है। जिनके हाथ सूख गये हैं, वे सिद्ध समझे जाते हैं। कहा जाता है कि तपस्या से उनके हाथ सूख गए हैं। अच्छी तपस्या है! ईमानदार, मेहनती लोग अपने बाल-बच्चों का पेट तक नहीं भर पाते और ये आलसी धूर्त अपने वारे-न्यारे मुफ्त में करते हैं।

भारतीय बच्चों के सामने हमें शिक्षा का नया आदर्श रखना है। उनको कर्मवीर बनाने की शिक्षा देनी है। उनके अन्दर स्वावलम्बन की

संजीवनी शक्ति भरनी है। यह सब तभी होगा जब मजदूरी की महत्ता (Dignity of labour) को शिक्षा में प्रथम स्थान दिया जायगा, जब देश के लोग चरित्र की कसौटी से ऊंच-नीच की परख करेंगे। अकर्मण्यता का जहर जो आज हमारे समाज में फैल रहा है, हमें उसे निकालना है। जो शिक्षा आजकल स्कूलों में दी जाती है वह केवल एक प्रकार का बपतिस्मा है। उससे मनुष्य केवल किसी भलेमानस की बात समझने लायक बन जाता है। उसको मैं शिक्षा नहीं कहता, शिक्षा दूसरी वस्तु है। पिछले सौ वर्षों से भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हुआ है। यदि यह शिक्षा असल में शिक्षा होती तो अब तक भारत का उद्धार होगया होता। इस शिक्षा से उलटी भीरुता, कायरता और अकर्मण्यता फैल गई है और हमारा बल-वीर्य्य नष्ट होगया है। इसलिए अब हमें सच्ची शिक्षा की ओर आना चाहिए और अपनी पिछली भूलों को सुधारने का यत्न करना चाहिये।

इसलिए आर्थिक स्वतन्त्रता का सब से बड़ा साधन मजदूरी की महत्ता है। आप अपने देश के अनपढ़ सीधे-सादे मारवाड़ियों को देखिये। ये लोग बंगाल, बिहार, नैपाल, संयुक्तप्रांत तथा भारत के सभी प्रांतों में फैले हुए हैं। ये अनपढ़ लोग तो लाखों रुपया कमाते हैं, पर कालेजों में पढ़े-लिखे बी० ए० पास बेचारे कठिनाई से पेट भरते हैं। क्यों? कारण स्पष्ट है। जिस समय एक मारवाड़ी घर से रुपया कमाने के लिए निकलता है तो वह मजदूरी की महत्ता का पाठ पढ़ लेता है। कमर पर कपड़ों का गट्ठड़ लाद कर ग्राम-ग्राम घूमने में इसे तनिक संकोच नहीं। वर्षों इसी प्रकार दौड़-धूप करता है, शीत-उष्ण सहता है। जब कुछ पूंजी हो जाती है तो अपनी दुकान कर लेता है और फिर धीरे-धीरे अपनी सम्पत्ति बढ़ाता है। यह सब मजदूरी के फल हैं। स्टेशन पर बहुत बार अपना ट्रंक आप उठाये हुए इन मारवाड़ी-पुत्रों को आप लोगों ने देखा होगा; भारी-भारी बोझ उठाने में ये लोग तनिक भी हिचकिचाते नहीं। यही इनके धन कमाने का रहस्य है। इसके विपरीत हमारा दस रुपये का

वावू क्लर्क तथा कालेज का विद्यार्थी मामूली हैण्डवेग भी अपने हाथ से उठाना कसरे-शान समझता है। उसके लिए भी उसे कुली चाहिए। भला कहिये तो रुपया कमाया कैसे जाय ?

कहते हैं कि एक वार स्वर्गीय पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर गर्मी की छुट्टियों में अपने गाँव गए। रेल के जिस तीसरे दर्जे के डिव्वे में वैठे हुए थे, उसमें कलकत्ता कालेज का एक विद्यार्थी अपना सूटकेस लि अपने घर जा रहा था। वह वंगाल के इस महापुरुष को पहचानता नहीं था। उसका घर भी उसी गांव में था जहाँ विद्यासागर जी का जन्म हुआ था। छोटा-सा गांव होने के कारण वहाँ रेलगाड़ी का साधारण स्टेशन तो था, लेकिन कुली नहीं मिलते थे। जव गाड़ी स्टेशन पर पहुंची तो विद्यासागर जी उतरे और वह नवयुवक भी अपना सूटकेस हाथ में लेकर "कुली ! कुली !!" पुकारने लगा। वहाँ कुली कहाँ से आता ! विद्यासागर जी के पास कोई सामान नहीं था। उनका सिर नंगा और पांओं में जूता भी नहीं था—वे पहने हुए थे केवल धोती और कमीज़। जव उस नवयुवक को कोई कुली न मिला तो उन्होंने आगे वढ़कर उसके हाथ से सूटकेस ले लिया और कहा—"चलिए।" उस नवयुवक ने इन्हें कुली समझा और आगे-आगे हो लिया। स्टेशन पर भी किसी ने कुछ ध्यान नहीं दिया और ये दोनों अपने रास्ते चले। नवयुवक ने घर पहुंच कर अपना सूटकेस विद्यासार जी से ले लिया और चार पैसे देने लगा। विद्यासागर जी ने पैसे लेने से इन्कार किया और चुपचाप अपने घर की ओर चल दिये। वह नवयुवक वड़ा खुश हुआ और उसने समझा कि आज अच्छा वेवकूफ़ कुली मिला।

पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अपने ग्राम में पधारे हैं, यह खवर विजली की तरह इर्द-गिर्द के ग्रामों में फैल गई और ग्राम के नेताओं ने आपके स्वागत का आयोजन किया। हज़ारों आदमी मण्डप में एकत्र हुए और वह नवयुवक भी इस महापुरुष के दर्शनार्थ और वक्तृता सुनने के लिए सभा में पहुँचा। प्लेटफार्म पर जव उसने फूल-मालाओं से लदे हुए उस

कुली को बैठे हुए देखा तो वह अवाक् रह गया और आँखें मल-मल कर पहचानने लगा। जब उसे बिल्कुल निश्चय होगया कि जो कुली रेलवे स्टेशन से उसका सूटकेस उठाकर उसके घर पहुंचाने गया था, वही आज की सभा का आदरणीय अतिथि है, तो वह लज्जा के मारे मरने लगा। उसने व्याख्यान सुना और दूसरी कार्रवाई भी देखी, किन्तु उस पश्चात्ताप के कारण, उस ग्लानि ने उसे बेसुध-सा कर दिया। जब सभा समाप्त हुई तो वह डरता-डरता विद्यासागर जी के पास पहुँचा और उनके पांओं में सिर रखकर अपने अपराध की क्षमा मांगी। पण्डित जी ने उसे बड़े प्रेम से उठाया और बोले—

"मजदूरी किसी मनुष्य को नीच नहीं बनाती। जो नवयुवक अपना काम स्वयं करने की हिम्मत रखता है, जो अपना बोझा आप उठा सकता है, वह संसार-संग्राम में बाधाओं पर विजय प्राप्त कर सकता है। सदा स्वावलम्बी बनो और जहां तक हो सके अपना काम स्वयं करना सीखो।"

किसी कवि ने ठीक कहा है—

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।"

अर्थात् उद्योगी पुरुषसिंह को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। हालांकि ये मारवाड़ी, जिनमें कितने ही अनपढ़ हैं, अपना तार स्वयं नहीं पढ़ सकते हैं, तिस पर भी इनकी हिम्मत देखिए। क्या अंग्रेजी पढ़े-लिखे इस प्रकार धन नहीं कमा सकते ? कमा सकते हैं और मारवाड़ियों से बहुत अधिक कमा सकते हैं, अगर वे भी इन मारवाड़ियों जैसे उद्योगी बन जायें। आज इस उन्नति के जमाने में अनपढ़ आदमी व्यवसाय कर ही कैसे सकता है ? जब तक हम योरुपीय व्यापारिक रहस्यों से परिचित न हों, बैंकिंग पूरी तरह न समझें, न्यूयार्क, लन्दन की मण्डियों की पहचान न हो, पक्का माल तय्यार करने वाले कल-कारखानों का ज्ञान न हो, कच्चा माल पैदा करने वाले देशों की जानकारी न रक्खें, तब तक भला हम कैसे सफल व्यापारी हो सकते हैं ? इन विषयों का परिचय प्राप्त करने

में अंग्रेजी शिक्षित लोग मारवाड़ियों से अधिक साधनसम्पन्न हैं, परन्तु व्यापारी बनने की प्रारम्भिक शिक्षा के न होने से वे कुछ नहीं कर सकते। वे समझते हैं कि मारवाड़ियों के पास पूँजी है इसलिए वे अच्छे व्यापारी हैं, यह सरासर भूल है। व्यापार में पूँजी की आवश्यकता है सही, पर इससे भी अधिक आवश्यकता मजदूरी से प्रेम, मितव्ययिता, ईमानदारी, मधुरभाषण, निरन्तर उत्साह आदि गुणों की है, जिनके बिना बड़ी-से-बड़ी पूँजीवाला भी व्यवसाय नहीं कर सकता। संसार के प्रसिद्ध धन-कुबेर स्वर्गीय जान डी० रौकफेलर के पास कोई पूँजी न थी; बेचारा साधारण मजदूरी किया करता था। अपने अध्यवसाय, परिश्रम, मित-व्ययिता और मधुर-भाषणादि गुणों से उसने धीरे-धीरे पूँजी बढ़ाई। यही स्थिति कारनेगी और फोर्ड की भी जानिये।

इसलिए देश में धन की वृद्धि-हेतु हमें अपने बच्चों को ये सब बातें सिखलानी हैं। हमारे नवयुवक आज इन गुणों की ज़रा भी कदर नहीं जानते। बनारस में एक बार कुछ नवयुवक मुझसे मिलने आए। एक नौजवान से मैंने पूछा—"कहो भाई, क्या काम करते हो?"

नवयुवक—"कुछ नहीं करता।"

मैंने आश्चर्य से पूछा—"तो फिर खाते कहाँ से हो?"

लड़का—"ससुर के घर में रहता हूँ।"

मुझे बड़ा शोक हुआ। ससुर के घर में रह कर पेट भरना, इसमें तनिक भी लज्जा उस नवयुवक को मालूम न हुई। वह मनुष्य जो निकम्मा बैठा रहता है और अपने हिस्से का पैदा नहीं करता, उसको खाने का क्या अधिकार है? उससे तो चींटियां अच्छी हैं, जो उद्योग करके पेट तो भरती हैं। हमारे यहाँ सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा है। घर में एक पुरुष कमानेवाला है और बाकी बैठकर खाने वाले हैं। यह कहाँ का न्याय है? घर के प्रत्येक नवयुवक को अपना-अपना बोझ स्वयं उठाना चाहिए। दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाना मनुष्यत्व नहीं है। स्वात्माभिमानी अपनी भुजाओं से पैदा करता है और खाता है।

यदि हम अपना बोझ आप नहीं उठा सकते, यदि हम मेहनत कर रुपया पैदा नहीं करना चाहते तो हमें चाहिए कि श्रीगंगाजी में डूब मरें ताकि हमारे इस स्वार्थी जीवन का अन्त हो जाए। भारत-जननी पर व्यर्थ का भार बढ़ाना पाप है। हम यदि माता का बोझ हलका नहीं कर सकते तो उलटा बढ़ाते क्यों हैं ? यहाँ के धनिकों के लड़के पिता, पितामह के कमाये हुए धन पर चैन उड़ाते हैं। वे ईश्वर से प्रार्थना करते रहते हैं कि कब बुड्ढ़ा बाप मरे और वे उसका माल स्वतन्त्रतापूर्वक उड़ावें। हमारा यह स्वभाव-सा होगया है कि हम अपने बुजुर्गों की कमाई पर लट्टू होना ही जानते हैं और आप स्वयं कुछ करना नहीं चाहते। इस पुरानी बीमारी का अब इलाज करना है और हमें स्वयं अपने पांवों पर खड़ा होना सीखना है। यह तभी होगा जब हम हृदय से अपनी कमज़ोरी को अनुभव कर लें और उसके हानि-लाभ स्पष्ट तौर से जान जायें।

इस व्याधि का इलाज हमारे मौजूदा स्कूल, कालेज और विश्व-विद्यालय नहीं कर सकते। हमें अब 'नौकर' घड़ने वाली इन फैक्टरियों की संख्या बिलकुल कम कर देनी चाहिए। नौकरियों के दिन गए, अब क्लर्कों की ज़रूरत नहीं है। देश को इस समय कला-कौशल सिखलाने वाले विद्यालयों की आवश्यकता है। प्रान्त-प्रान्त में कला-कौशल सम्बन्धी स्कूल (Technical-Schools), विश्वविद्यालय खोलकर विज्ञान और हुनर की वृद्धि करनी चाहिए। साहित्य, विज्ञान, इतिहास और भूगोल आदि विषयों को सिखलाने के लिए अपने ढंग के कम खर्च वाले विद्यालय खोलने उचित हैं। उनमें मातृभाषा द्वारा सभी वैज्ञानिक और साहित्यसम्बन्धी विषयों की उच्च शिक्षा बहुत कम समय में हो सकती है। हम लोग पैंतीस करोड़ से भी अधिक हैं। जिस समय सादा जीवन व्यतीत करने वाले हमारे मज़दूर, कला-कौशल सम्पन्न होकर, स्वदेशी पक्का माल तैयार करेंगे तो संसार की सभी जातियां हमारे सुन्दर और सस्ते माल की कदर करेंगी और हमारे देश का बाहर गया हुआ धन फिर लौट कर आ सकेगा। हम बुद्धि और मस्तिष्क में किसी जाति

से कम नहीं। आज भी अपनी इस पतित अवस्था में हमारे विद्यार्थी योरुप और अमरीका के विश्वविद्यालयों में जाकर दूसरी सभ्य जातियों के विद्यार्थियों का मुकाविला करते हैं और किसी बात में भी उनसे कम नहीं निकलते। हम में कमी यदि है तो यही कि हम अन्य जातियों की तरह साधन-सम्पन्न नहीं हैं। अतएव अब हमें देशकालानुसार अपने बच्चों को आर्थिक स्वतन्त्रता दिलाने वाली शिक्षा देनी चाहिये।

यह कार्य कैसे हो सकता है? यह कार्य देश के धनिक लोग कर सकते हैं। आज इस आपत्काल के समय देश के प्रत्येक धनी पुरुष को देश-सेवा पर कमर कसनी चाहिए। जैसे स्वनामधन्य महाराजा महेन्द्र-प्रताप जी ने अपनी जायदाद लगाकर श्री प्रेम महाविद्यालय की जड़ जमा दी थी, इसी प्रकार दूसरे धनिकों को करना चाहिए। अमरीका के धन-कुवेर कारनेगी ने करोड़ों रुपए लगाकर पिट्सवर्ग में कला-भवन (Technical Institute) की बुनियाद डाली। उस कला-भवन से हज़ारों छात्र कला-कौशल सीखकर लाभ उठाते हैं। धीमान् बड़ौदानरेश ने भी अपने राज्य में कला-भवन खोलकर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया था। स्थान-स्थान पर ऐसे ही छोटे-बड़े 'कला-भवन' खुलने चाहिएं। जो-जो पक्का माल हम बाहर से मँगाते हैं, वह सब हम अपने यहां बनाना सीखें। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लड़कों को भी दस्तकारी के औज़ारों का प्रयोग बचपन से सीखना उचित है। उनमें मज़दूरी से घृणा का जो भाव है, उसको दूर भगा दीजिए। मैं तो एक भङ्गी को, जो ईमानदारी से समाज की सेवा करता है, उस मनुष्य की अपेक्षा लाख दरजे अच्छा समझता हूँ जो धूर्तता से दूसरों का माल ठग-ठग कर अपनी जेब भरता है।

क्या आप जानते हैं कि अमरीका के धनवान् होने का कारण क्या है? अमरीका में कोई आदमी मज़दूरी से नफ़रत नहीं करता। सब मेह-नत-मज़दूरी करने को तैयार रहते हैं। परिणाम यह है कि वे जहां जाते हैं, वहीं धन पैदा कर सकते हैं। हमारे यहां जिनके पास थोड़ा सा रुपया

हुआ, वे झट नौकरों के गुलाम बन जाते हैं। अमीर का लड़का है; वह स्कूल जाता है तो साथ एक नौकर उसका बस्ता उठाने वाला चाहिये। धनवान् होने का अभिप्राय यह समझा जाता है कि अपने हाथ से कोई काम ही न किया जाए। धीरे-धीरे यहाँ तक आदत बिगड़ती है कि चाहे प्यासे बैठे रहें, मगर उठकर पानी नहीं पी सकते। अपने हाथ से उठ कर पानी पीयें तो अमीरी को बट्टा लग जाये। ये नौकरों के भी नौकर हैं। इनको पता नहीं कि धन केवल धर्म करने के वास्ते है; धन निकम्मा बनने के लिए नहीं। इसका यह अभिप्राम नहीं कि नौकरों से काम ही न लिया जाए। नौकरों से काम लो, लेकिन उनके गुलाम मत बनो। जब नौकर है तो उससे काम लीजिये, यदि नहीं है तो झट से उठ कर स्वयं काम कर डालिए। अमरीका में अमीरों के लड़के अपना कमरा साफ़ करना, किताबें झाड़-बुहार डालना आदि कार्य सब आप कर लेते हैं; उन्हें अपने ऊपर निर्भर रहने की शिक्षा दी जाती है। यही आर्थिक स्वतन्त्रता का मूल मन्त्र है।

शिक्षा के इस दूसरे ढंग—आर्थिक स्वतन्त्रता—पर मैंने अधिक कहने की चेष्टा क्यों की है, इसका विशेष कारण है। उस देश की धार्मिक अवस्था सुधर नहीं सकती जिसकी आर्थिक अवस्था बिगड़ी हुई है। इस का धार्मिक अवस्था के साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध है। भूख से आतुर भारत-वासी आज घृणित से घृणित नौकरियां इसीलिए कर रहे हैं कि उन्हें पेट भर अन्न मिलने का दूसरा उपाय दिखाई नहीं देता। बेचारे अपनी आत्मा की हत्या करके जीवन-निर्वाह करते हैं। इसलिए देश-भक्तों का मुख्य कर्तव्य यही है कि वे देश की आर्थिक स्वतन्त्रता की चिन्ता करें। मैं उसी मनुष्य को बड़ा योगी, बड़ा संन्यासी मानता हूँ जो देश के बच्चों के लिए रोटी का प्रबन्ध करता है। जो रोटी के प्रश्न को हल करेगा, वही भारतसन्तान का सच्चा हितैषी होगा।

अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए देश के कुछ नवयुवकों को प्रत्येक वर्ष विदेशों में भेजना पड़ेगा। वहाँ वे आधुनिक वैज्ञानिक ढंग की असली

शिक्षा प्राप्त कर स्वदेश में उसका प्रचार कर सकेंगे। समाज-शास्त्र, राजनीति, विज्ञान आदि विषयों की पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर वे अपने यहां के विद्यालय में उसकी शिक्षा दे सकेंगे। इस प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता के प्रत्येक साधन को जुटाने का उद्योग करना चाहिए। जिस प्रकार जापान ने सभ्य देशों के विश्वविद्यालयों से फायदा उठाया है, उसी प्रकार हम भी लाभ उठावें। साथ ही अपने देश के प्राकृतिक तथा भौगोलिक विषयों का ज्ञान भी हमारे लिए परम आवश्यक है। इसके लिए भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, समय-समय पर जाकर सब बातों का परिचय प्राप्त करना चाहिए। कौन सी वस्तु कहाँ पैदा होती है? किस धातु की खान कहाँ पर है? किस प्रान्त में अच्छी कृषि होती है? कहाँ प्राकृतिक सुविधायें अधिक हैं? कहाँ का जलवायु नीरोग है? कहाँ तक लिखें, सैंकड़ों बातें हैं, जिनका परिचय हमें भली प्रकार करना चाहिए। जब इस प्रकार काल्पनिक शिक्षा को छोड़ कर हम व्यावहारिक शिक्षा की ओर आयेंगे, तभी हमें 'आर्थिक स्वतन्त्रता' मिल सकती है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर हमारे देश में विज्ञान, कलाकौशल और कृषि की उन्नति के लिए बहुत सी संस्थाएं खुल गई हैं और हजारों विद्यार्थी विदेशों में इनकी शिक्षा के लिए जाते हैं। जिस अभाव के कारण हम सभ्य संसार से बहुत पीछे रह गये थे उसकी पूर्ति हमारी सरकार बड़ी तत्परता से कर रही है।

शिक्षित मनुष्य के लिए आर्थिक-स्वतन्त्रता का होना परम आवश्यक है, इसे मैंने भली प्रकार समझा दिया है। अब मैं शिक्षा के तीसरे गुण—मानसिक स्वतन्त्रता—की ओर आता हूँ।

मानसिक स्वतन्त्रता

मानव-शरीर में मन का सबसे ऊँचा दर्जा है। इसी के कारण इस हाड-मांस के पुतले का नाम मनुष्य पड़ा है, अर्थात् मननशील मशीन। शास्त्रों ने तो इसके विषय में यहाँ तक कह दिया है कि मनुष्यों के बंधन

और मोक्ष का यदि कोई सबसे बड़ा कारण है, तो वह मन ही है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।" इसे इतना महान पद क्यों प्राप्त हुआ ? इसीलिए, क्योंकि यह मनुष्य का बौद्धिक और तार्किक यंत्र है। इसी के द्वारा मनुष्य में समझने की शक्ति आती है, यही अध्यात्म-शक्तियों का केन्द्र है, इसी से आत्मा की पहचान की जाती है। मनुष्य में जो विचारधारा बहती है, जो वस्तुओं को धारण करने की योग्यता है, और जो उसमें भला-बुरा पहचानने का माद्दा है, वह सब मानसिक-शक्ति से ही प्राप्त होता है। इसलि शरीर की सारी चेष्टाओं का मूल मन को माना जाता है। तपस्वियों का कहना है—

"यन्मनसा ध्यायति, तद्वाचा वदति,
यद्वाचा वदति, तत्कर्मणा करोति,
यत्कर्मणा करोति, तदभिसंपद्यते।"

अर्थात जैसा पुरुष मन में ध्यान करता है, उसी के अनुसार वह मुँह से बोलता है; जैसा वह मुँह से बोलता है, उसी के अनुसार वह कर्म करता है; और जैसा वह कर्म करता है, वैसा ही वह फल पाता है। इस से पता चलता है कि पूर्व और पश्चिम के विद्वान शरीर की चेष्टाओं का बादशाह मन को मानते हैं। मनुष्य के लाखों वर्षों का अनुभव भी यही कहता है कि 'मन के जीते जीत है और मन के हारे हार।' ऐसे जबर्दस्त शारीरिक साधन की स्वतन्त्रता के विषय में अब हमें विचार करना है।

हम यह कह चुके हैं कि शिक्षा का सर्व-प्रथम गुण शारीरिक स्वतन्त्रता है अर्थात् नीरोग शरीर का होना। जब हमने अपने अधिकारों की रक्षा करने वाला बलिष्ठ शरीर पा लिया और आरोग्यता का रहस्य जान लिया, तो दूसरी बात हुई आर्थिक स्वतन्त्रता की। हम अपना स्वतन्त्र धन्धा करते हैं, किसी के मोहताज नहीं हैं, किसी के आज्ञाकारी नहीं हैं, हम अपना पेट पालने में स्वावलम्बी हैं; ऐसी अवस्था में हमें ब्रह्मा से भी नहीं डरना चाहिए। लेकिन हमने ऐसे लाखों मनुष्यों को

देखा है कि जो उपरोक्त दो गुण रखते हुए भी पादरियों, मुल्लाओं और पण्डितों से भय खाते हैं—वे उनके सामने कठपुतली की तरह नाचते हैं। हमने ऐसे बेवकूफ़ों को भी देखा है कि जो आरोग्यता और स्वतन्त्र धन्धा रखते हुए भी गाँवों के ओझाओं के डर के मारे थर-थर काँपते हैं, उन्हें भूत-प्रेत का खौफ़ मारे डालता है, वे स्वयं सोचने की बुद्धि नहीं रखते। यहाँ तक ही नहीं, बल्कि बड़े-बड़े शिक्षित, विश्वविद्यालयों के डाक्टर और प्रोफेसर भी इल्हामी किताबों के सामने अपनी सब विद्या-बुद्धि को तिलाञ्जलि देकर नत-मस्तक हो जाते हैं और उनमें लिखी हुई विवेक-शून्य बातों को भी सच मानते हैं। ऐसी अवस्था में मानसिक स्वतन्त्रता का विषय कितना महत्वपूर्ण है, यह बात निर्विवाद सिद्ध होजाती है। अच्छा तो मानसिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय क्या है? सुनिये।

जो मनुष्य अपनी विवेकिनी बुद्धि से सत्-असत् की पहचान करता है, भलाई-बुराई समझने में किसी आप्त वाक्य पर निर्भर नहीं है, जो प्रमाण के सहारे न चलकर—किसी ग्रन्थ के श्लोक, मन्त्र अथवा आयत पर आश्रित न रहकर—अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से सम्मति निश्चित करता है, जो अपनी स्वतन्त्र विचारधारा से वस्तुओं का निरीक्षण कर परिणाम पर पहुँचने का अभ्यस्त है और जिसमें सत्य के प्रति परम निष्ठा, विद्वान् के प्रति परम श्रद्धा और देशकाल के अनुसार परिस्थितियों को समझकर अपने आपको ठीक चला लेने की स्वतन्त्र शक्ति है, वह पुरुष मानसिक स्वतन्त्रता के सद्गुणों से विभूषित माना जाता है। आज संसार में भेड़ों की संख्या अधिक है, जिन्हें चालाक गडरिये मनमाने ढंग से हाँक रहे हैं। कोई मजहब के नाम पर अपना शासन चलाता है और चेले मूंड रहा है; कोई राजनीतिज्ञ बनकर देशहित की आड़ में लोगों को ठग रहा है; कोई समाजवाद की दुहाई देकर मजदूर और किसानों का परम शुभचिन्तक बनकर अपना उल्लू सीधा कर रहा है; कोई पुराने शास्त्रों के सहारे लाखों मनुष्यों को पशुओं की तरह अपने पीछे लगा रहा है—इस प्रकार संसार आज इस वैज्ञानिक युग में भी भेड़ों से भरा हुआ दिखाई देता है। ऐसे

बहुत थोड़े लोग हैं जिन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान है, अपने व्यक्तित्व की पहचान है और जो यह जानते हैं कि उनके जीवन का कोई स्वतन्त्र मिशन है और वे प्रभु के इस विशाल ब्रह्माण्ड में अनन्त ज्ञान की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। मन की गुलामी की वजह से ही हमारा विकास रुक जाता है और हम पंगु बनकर जहाँ के तहाँ खड़े रह जाते हैं। मानसिक स्वतन्त्रता चिन्ह है उन्नति का स्रोत है विकास का और खज़ाना है व्यक्तित्व का। जैसे कोई पौदा सूखने से पहले अपने नये पल्लव निकालना बन्द कर देता है, नई सुकुमार कोंपलें फूटनी बन्द हो जाती हैं, इसी प्रकार उस आत्मारूपी पौदे की वृद्धि रुक जाती है जब उसका स्वतन्त्र सोचने का यन्त्र निकम्मा हो जाता है। कोई व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट हो, तन्दुरुस्त हो और पैसे वाला भी हो, लेकिन यदि वह स्वतन्त्र सोच नहीं सकता, तो उसे नीरोग पशु ही समझना चाहिए। इस कारण शिक्षा में मानसिक स्वतन्त्रता का बहुत ऊँचा स्थान है। हमें इस प्रकार की शिक्षा चाहिए जो हमें सोचने में स्वाधीन कर दे, प्राकृतिक पदार्थों का निरीक्षण करना सिखा दे, मानवी स्वभाव को समझना बतला दे और सब प्रकार की घटनाओं को तोलकर ठीक परिणाम पर पहुँचने की योग्यता पैदा करे। ऐसी शिक्षा ही हमारा पशुपन दूर कर हमें मनुष्यत्व की ओर ले जा सकती है। हमें ज़रूरत है सच्चरित्र, सहनशील और विनयी नागरिकों की, जो न तो मज़हब के बन्धनों से बँधे हों और न जातपात की जंजीरों से जकड़े हुए हों—ऐसी शिक्षा ही मनुष्य को मानसिक स्वतन्त्रता दे सकती है और आत्मस्वरूप का दर्शन करा सकती है।

ऐसी शिक्षा कैसे मिले ? वैज्ञानिक ढंग की पद्धति द्वारा। आप अपने बच्चों के मस्तिष्क पर अध्यात्मवाद (Metaphysics) के गुरुतर प्रश्नों को न लादिये; ईश्वर, आत्मा और प्रकृति सम्बन्धी पहले से फर्ज किये हुए सिद्धान्तों को बच्चों के दिमाग़ों में न ठूंसिए; अन्धविश्वासी गुरु-पूजा, असम्भव बातों (Miracles) का जंगल और प्रमाणवाद का बोझा शिशुओं के कोमल कन्धों पर न रखिए। उन्हें इनकी आवश्यकता

नहीं और न समाज को ऐसे पचड़ों से कोई काम है। बच्चों को प्राकृतिक पदार्थों को दिखलाइये, उन्हें विज्ञान की वातें समझाइये, आंख, कान, नाक आदि का ठीक उपयोग करने को शिक्षा दीजिए, ताकि वे प्रकृति-माता के स्कूल में बैठकर उसके सच्चे विद्यार्थी वन सकें। हमें कट्टर हिन्दू, कट्टर मुसलमान, कट्टर सिक्ख, कट्टर ईसाई और कट्टर पारसी लड़के-लड़कियाँ दरकार नहीं जो हजारों वर्षों की पुरानी दकियानूसी वातों के लिए आपस में मजहवी झगड़े करें। हमें तो परस्पर सहानुभूति रखने वाले, नागरिकता के कर्तव्य से भली प्रकार परचित, सेवा-धर्म से दीक्षित और समवेदना से भरे हुए हृदय वाले नर-नारियों की जरूरत है। हमारी पाठशालाओं में भगवान् वुद्ध और महात्मा गांधी के व्यावहारिक धर्म की शिक्षा होनी चाहिए; पाश्चात्य देशों के विद्वानों की वैज्ञानिक पुस्तकें पढ़ाई जानी चाहिएँ; सव धर्मों के ग्रन्थों में से सुन्दर नैतिक उपदेश निकालकर वच्चों को उनकी उपयोगिता समझानी चाहिए और मजदूरी की महत्ता की छाप उनके हृदय पर डालने के लिए किसी न किसी प्रकार की कला, दस्तकारी सिखलानी उचित है। अव्यावहारिक सिद्धान्ती शिक्षा विद्यार्थी को दिमाग़ी ऐयाशी सिखलाती है और उसमें अहम्मन्यता भरती है।

याद रखिए, विभिन्नता उन्नति का मूल है। प्रकृति में विभिन्नता के होने से ही ऐसा सौन्दर्य और ऐसा लावण्य है। प्राचीन काल के आर्यों की संस्कृति विभिन्नतामूलक थी और वर्तमान काल के वैज्ञानिकों की शिक्षा-पद्धति भी इसी तत्व से ओतप्रोत है। ज्ञान के भिन्न-भिन्न विभाग आज प्रभु की अनन्त लीला का दिग्दर्शन करा रहे हैं और नये-नये आविष्कारों को सामने रख रहे हैं। हमें यह जान लेना चाहिए कि मानसिक स्वतंत्रता विचारों की विभिन्नता उत्पन्न करेगी, इसलिए हमें अपने से भिन्न विचार रखने वाले भाई-वहिन का आदर करना होगा। हम एक दूसरे के साथ मानवीयता के सूत्र में पिरोये हुए हैं, साम्प्रदायिक बन्धनों से बँधे हुए नहीं। हमें तो जुदा-जुदा मत रखते हुए आपस की सहानुभूति पैदा

करनी है, क्योंकि इसी में हमारा कल्याण है। कोई-कोई भले लोग यह तर्क करते हैं कि मानसिक स्वतन्त्रता संगठन की विघातक है। वे मुसलमानों का उदाहरण देकर साम्प्रदायिक गुलामी की महत्ता दिखलाने की चेष्टा करते हैं और यह कहते हैं कि मानसिक स्वतन्त्रता की शिक्षा से ही हिन्दुओं का संगठन टूट गया है। हम ऐसे बन्धुओं से सविनय मतभेद रखते हैं। हमारा निवेदन यह है कि इन्हीं साम्प्रदायिक मुसलमानों की फौजें संगठित अंग्रेजी फौजों के सामने ठहर नहीं सकतीं। मजहबी जोश का संगठन क्षणिक होता है, स्थायी नहीं। इसके विपरीत जागरूक आत्माओं का संगठन अत्यन्त सुदृढ़ होता है, उनकी दोस्ती चिरकाल तक रहती है, वे अव्यवस्थित मनुष्यों की तरह शीघ्र ठण्डे-गर्म नहीं होते। मजहबी जोश से अन्धे लोग फौरन मदान्ध हो जाते हैं और न करने योग्य कृत्यों को भी कर बैठते हैं। अतएव हमें पाशविक संगठन नहीं चाहिए, हमें तो जागरूक और चैतन्य नरनारियों के संगठन की आवश्यकता है। हमारे सामने इसका ज्वलन्त उदाहरण पाकिस्तान है, जहां अपने ही मत वालों को जरा सा मतभेद के होने के कारण काफिर बना दिया गया है।

संक्षेप में, शिक्षा के इस गुण के आये बिना कोई पुरुष और स्त्री पशुपन से निकल नहीं सकते। शारीरिक स्वतन्त्रता और पेट पालने की आजादी, मानसिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के आवश्यक स्तम्भ हैं; इनके बिना दिमागी आजादी मिल नहीं सकते। इसी कारण हमने इनकी व्याख्या पहले की है। हमें विश्वास है कि शिक्षाप्रेमी सज्जन हमारे उद्देश्य को भली प्रकार समझ गए होंगे। अच्छी अंग्रेजी, संस्कृत, अरबी या फारसी जान लेने से कोई शिक्षित नहीं बन जाता। चारों वेद यदि गधे पर लाद दिये जायें तो गधा पण्डित नहीं कहला सकता। इसी प्रकार फोनोग्राफी शिक्षा, शिक्षा होने का दावा नहीं कर सकती। असली चीज तो अन्दर के भाव हैं, भाषायें तो केवल दासियाँ हैं जिनके द्वारा अन्दर के भावों का प्रकाश होता है। यदि कोई एम० ए० पास पुरुष या स्त्री अन्धविश्वास में फँसकर किसी गुरु को आत्म-समर्पण कर देते हैं, अपनी अक्ल को

ताला लगाकर, गुरु के पैरों का गन्दा पानी पी लेने में अपना मोक्ष समझते हैं, तो हम उनकी किताबी शिक्षा पर धिक्कार देंगे और स्पष्ट शब्दों में गुरुडम में फँसे हुए ऐसे विवेकहीन स्त्री-पुरुषों की, उनकी विश्वविद्यालयों की डिग्रियाँ होने पर भी, गणना अशिक्षितों में ही करेंगे। मानसिक स्वतन्त्रता का मूल्य न जानने के कारण आज सैकड़ों मत-मतान्तर मानव-समाज को डस रहे हैं और पारस्परिक कलह फैला रहे हैं। मानसिक स्वतन्त्रता की कमी की वजह से ही मजहबी ढोंगों की बन आती है और धूर्त लोग आराम से जिन्दगी बसर करते हैं।

अतएव हम अपने प्रेमियों से सविनय अनुरोध करते हैं कि वे हरगिज़-हरगिज़ भी किताबी शिक्षा से शिक्षितों की परख न करें, बल्कि सच्चरित्रता के सद्गुणों, मानसिक स्वतन्त्रता के अमूल्य रत्नों से ही शिक्षा की परख किया करें। हमें संसार को स्वर्गधाम बनाना है, मत-मतान्तरों का जंगल नहीं; व्यक्तियों के सद्गुणों का विकास करना है, गुरुडम द्वारा उनका उत्थान रोकना नहीं; हमें सत्यज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करनी है, पैग़म्बरों की भर्ती कर ज्ञान का दरवाज़ा बन्द नहीं करना है। इसलिए हमने मानसिक स्वतन्त्रता की व्याख्या में थोड़ा-थोड़ा प्रकाश उन सब दुर्गुणों पर डाल दिया है जिनके कारण आज मनुष्य-समाज स्वार्थ के वशीभूत होकर ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि में जल रहा है। जब हमें मानसिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायेगी, तब हम आत्मिक स्वतन्त्रता का दरवाज़ा खटखटायेंगे और इस बात की खोज करेंगे कि इस हाड़-मांस के पुतले में अद्भुत चमत्कार करने वाला व्यक्ति कौन है। तब हम पिछली थोथी गप्पों पर विश्वास न कर अपनी स्वतन्त्र खोज इस विषय में करेंगे। तभी इस विभाग में हम भी अपना ज्ञान-अंश दे सकेंगे।

आत्मिक स्वतन्त्रता

शरीर किस लिए पुष्ट किया जाए ? आत्मिक स्वतन्त्रता के लिए। आर्थिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता क्यों है ? आत्मिक स्वतन्त्रता हेतु।

मानसिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने से क्या मिलेगा ? उत्तर वही है—आत्मिक स्वतन्त्रता। यही हम सब का लक्ष्य है, यही भारतीय संस्कृति का उद्देश्य है।

आप पूछेंगे कि वह आत्मिक स्वतन्त्रता क्या है ? उसके गुण क्या हैं ? उसकी व्याख्या होनी चाहिए। यही अब हम करने की चेष्टा करेंगे; क्योंकि मस्तिष्क का विकास, वुद्धि की कुशाग्रता, शरीर का वल, धन की शक्ति सभी तुच्छ हैं, यदि हमने आत्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की। आत्मिक स्वतन्त्रता के प्रकाश के विना सभी अन्धेरे में हैं। क्या आज इस देश में वड़े-वड़े लम्बे-चौड़े पञ्जावी सिक्खों की कमी है ? क्या वे वलिष्ठ नहीं हैं ? क्या आज भारत में दानी नहीं हैं ? क्या आज हमारे में ऊँचे मस्तिष्क वाले वावू नहीं हैं ? क्या आज वाल की खाल उतारने वाले पण्डितों का हम में अभाव है ? ये सव है, पर उस ढंग के नहीं जिनकी व्याख्या हमने अपने इस व्याख्यान में की है। यदि उस ढंग के होते तो आत्मिक स्वतन्त्रता का वहुत सा प्रश्न हल होगया होता। इसीलिए हमने उन साधनों की व्याख्या और शिक्षा के आदर्श की पूर्त्ति करने वाले अङ्गों की मीमांसा पहले कर दी है, ताकि रास्ता साफ हो जाये और लक्ष्य के आगे जो रुकावटें हैं वे दूर कर दी जाएं। जव भूमि साफ़ होगई, वाधाओं को हटा दिया गया, सव सामग्री जुट गई, तव परिणाम पर पहुँचने में कुछ कठिनाई न होगी।

वह आत्मिक स्वतन्त्रता क्या है ? मनुष्य जो संसार में आया है उसका उद्देश्य खाना-पीना, धन इकट्ठा करना, अच्छे-अच्छे आविष्कार कर लेना—यही नहीं है, क्योंकि आखिर इन सव वस्तुओं का कुछ परिणाम भी तो होना चाहिए। मनुष्य संसार में अपने आपको जानने तथा अपने स्वरूप को पहचानने के लिए आया है। अज्ञानवश वह समझता है—"मैं कुछ नहीं हूं; मुझसे कुछ नहीं हो सकता; मेरे में कुछ भी शक्ति नहीं है।" वह अपने स्वरूप को पहचान नहीं सकता। पहचाने कैसे ? जिस शरीर में उसका निवास है, जिस कमरे में

वह रहता है, उसकी दीवारों पर 'दासता' के लाखों भद्दे चित्र खिंचे हुए हैं। यह नियम है कि अपना मुँह खुर्दरी, छेदों से भरी हुई तथा ऊँचे नीचे तल वाली वस्तु में दिखाई नहीं देता। जरूरत है कि उस खुर्दरेपन को दूर किया जाये, छेद भरे जायें और ऊँच-नीच दूर कर दीवारों को समतल बनाया जाए। जब तक यह कमी दूर नहीं की जायेगी, तब तक हमें अपना स्वरूप दिखाई नहीं देगा। शरीर एक साधन है, जो इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् से संस्कारों को ग्रहण करता है। वही अच्छे बुरे संस्कार उसको बना दें या बिगाड़ दें। जिस समय हम यह कहते हैं कि अमुक पुरुष महान् आत्मा रखता है, या अमुक पुरुष में बड़ा आत्मिक बल है, तो इसका तात्पर्य यह है कि वह पुरुष अपने स्वरूप को पहचानने लग गया है। आत्मा बढ़-घट नहीं सकता, वह तो एक-सा रहता है; केवल भेद इतना हो जाता है कि महान् आत्मा वाला पुरुष अपने शरीर रूपी कमरे की दीवारों में अपना मुँह देखने लग जाता है; उसने उन भेदों, उन छिद्रों तथा उस खुर्दरेपन को कुछ-न-कुछ दूर कर दिया है; इसीलिए वह दूसरे साधारण मनुष्यों से भिन्न हो जाता है। उसे अपने अस्तित्व का पता लग जाता है और जिस पवित्र स्रोत से उसका सम्बन्ध है, उसका कुछ न कुछ ज्ञान उसे हो जाता है। जितना अधिक जिस आत्मा के शरीर रूपी कमरे की दीवारें साफ-सुथरी होती जाती हैं, उतना ही अधिक उसका आत्मिक बल बढ़ता जाता है; जैसे-जैसे कुसंस्कारों से वे दीवारें भोंडी होती जाती हैं, वैसे ही वह अपने को भूल कर घृणित चेष्टायें और कुकर्म करने लग जाता है। इसलिए आत्मिक स्वतन्त्रता का पहला लक्षण अपने स्वरूप को पहचानना है। 'मैं' जो इस शरीर में बोल रहा हूँ वह शरीर नहीं, बल्कि शरीर से भिन्न जीती-जागती, अजर, नित्य और शाश्वत शक्ति है। उस शक्ति—उस आत्मा—को न आग जला सकती है, न तलवार काट सकती है, न बन्दूक की गोली मार सकती है। उस आत्मा का सम्बन्ध अमृत के स्रोत परमात्मा से है, जो सारे ब्रह्माण्ड पर अखण्ड राज्य करता है। इसलिए आत्मा 'अमृत' है। यह ज्ञान, यह जागृति और इस

आत्मिक सत्ता का ज्ञान ही हमारी शिक्षा का आदर्श है। मैं शरीर से भिन्न, लेकिन शरीररूपी साधन द्वारा, अपने पिता परमात्मा का न्यायशील राज्य स्थापित करने के लिए आया हूँ। मुझे उस प्रभु ने अपना सिपाही बना कर इस संसार में फैले हुए प्रकृतिवाद के दोषों को दूर करने के लिए भेजा है। मैं कमज़ोर नहीं हूँ, मैं दुर्बल नहीं हूँ, मैं किसी का 'ताबेदार गुलाम' नहीं हूँ। मैं आत्मा हूँ आत्मा ! वह आत्मा जिसमें असीम बल है, जो असम्भव को सम्भव कर सकता है, जिसमें पहाड़ को उड़ा देने की शक्ति है, जो अग्नि, जल तथा वायु, सबको वश में कर सकता है।

इसी आत्मा का ज्ञान आत्मिक स्वतन्त्रता की कुञ्जी है। शरीर आपका पुष्ट है, खाने कमाने की शक्ति आप में है, बुद्धिबल भी है, इतना पाकर अपने स्वरूप आत्मा को पहचानिए। क्या आपको कोई डरा सकता है ? डराता किसको है, आपको ? डर उसमें रह नहीं सकता जो अपने आपको 'आत्मा' समझता है। शरीर टूट-फूट सकता है, बिगड़ सकता है; मगर आत्मा ? न किसी से टूटे, न बिगड़ सके। फिर डर किसका ? यदि हमें ईश्वरीय आज्ञापालन करने में कोई डर दिखाये, तो डर दिखाने वाले की यह अपनी बेवकूफी है; वह केवल अपनी भीरुता का परिचय देता है।

अतएव प्रत्येक बालक-बालिका को, प्रत्येक स्त्री-पुरुष को इस पवित्र मन्त्र की दीक्षा देनी चाहिए। यह स्वतन्त्रता का मूल मन्त्र है। इसी का भगवान कृष्णचन्द्र जी ने अपनी गीता में उपदेश दिया है—

न जायते म्रियते वा कदाचित्,
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

फिर आगे कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

आर्य्य-सन्तान, सुना आपने ? ऐसा स्पष्ट, ऐसा सुन्दर, ऐसा निर्मल उपदेश आत्मिक स्वतन्त्रता का आपको कहाँ से मिलेगा ! भगवन् कहते हैं—

"यह आत्मा न उत्पन्न होता है, न यह मरता है, न यह कभी हुआ और न इसका अन्त हुआ । यह जन्म नहीं लेता, यह नित्य है, सदा रहने वाला है, सदा एकरस है; इसलिए जब किसी का शरीर कट जाता है तो आत्मा वैसे का वैसा रहता है, यह नहीं मारा जाता ।"

"जैसे हम पुराने कपड़े उतार कर नए कपड़े पहन लेते हैं, ऐसे ही आत्मा पुराने शरीर को उतार नया शरीर धारण कर लेता है ।"

आहा ! क्या सुन्दर उपदेश है ! क्या इस उपदेश को धारण करके भी कोई भीरु रह सकता है ? कदापि नहीं । सब प्रकार के भय, सब तरह की कठिनाइयाँ उसी समय हवा हो जाती हैं जिस समय इस उपदेश को हम अपने हृदय पर लिख लेते हैं । यह उपदेश सब प्रकार के बन्धनों को काट देता है । यह अन्याय को जड़ से उखाड़ने वाला है, यह असीम आशा, मधुर आनन्द का रस पान कराता है । यह मुर्दों में जान डाल सकता है, यह कायरों को वीर बनाने वाला है ।

यदि शिक्षा पाकर भी हम भीरु ही रहे, यदि शिक्षा ने हमारी कायरता भी दूर न की, यदि शिक्षित होकर भी हम—"हाँ हुज़ूर, फ़िदवी आपका गुलाम है, खाकसार है"—आदि दीनता के वचनों से पेट पालते रहे, तो हमारी शिक्षा किसी काम की नहीं । हमें मनुष्य बनना है और हमें अपने अधिकारों की प्राप्ति करनी है । प्राचीन आर्य्य-मातायें अपने बच्चों को—

"शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि"

के मन्त्र सुनाकर प्यार किया करती थीं । इसीलिए उनकी सन्तान "दीनता,

पलायन, आधीनता" इन दुर्गुणों से अपरिचित थी। वे आर्य्य-वीर मृत्यु के साथ कुश्ती करने के लिए सदा उद्यत रहते थे और 'न्याय' तथा 'ईश्वरीय राज्य-स्थापना' हित सिर देना अपना अहोभाग्य समझते थे।

अतएव मेरे प्यारे बन्धुओ, आत्मिक-स्वतन्त्रता के प्रथम गुण—आत्मा का स्वरूप—को भली प्रकार समझ लीजिए। अपने आपको शरीर से अलग अजर, अमर और अविनाशी जानिए। अपने सब तरह के डर निकाल डालिए और अपने आपको ईश्वर-पुत्र समझकर प्रभु का पवित्र झण्डा उठाइये। वह झण्डा उठाने से आपको अपने स्वरूप का ज्ञान हो जायगा और संसार में प्रत्येक शरीर के अन्दर आपको अपने जैसी आत्मा दिखाई देगी। आपको पता लगेगा कि हम सब एक ही पिता के पुत्र हैं और हमारा परस्पर एक दूसरे के साथ द्वेष करना वृथा है। संसार एक सुन्दर उद्यान है, उसमें हम सबके लिए काफ़ी फल लग सकते हैं, यदि हम न्यायपूर्वक उनका भोग करना सीखें। मनुष्यों के स्वभावों में जो विभिन्नता है वह उनकी आत्माओं के कारण नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न संस्कारों से युक्त शरीरों का परिणाम है। द्वेषभाव त्याग कर संसार में शान्ति की स्थापना करनी चाहिए। भला जो व्यक्ति अपने जैसे आत्मा को दूसरों में देखेगा, वह किसी से द्वेष कैसे कर सकता है? कदापि नहीं। जब अपना स्वरूप पहचान लेने से प्रकृति के यथार्थ गुणों का ज्ञान हो जायगा, तो ये झूठे सांसारिक मद भी धीरे-धीरे कम होते जाएँगे। अपने सामने संसार में देखो क्या हो रहा है? किस प्रकार मनुष्य मनुष्य का शत्रु बना हुआ है और एक जाति दूसरी जाति को नीचे गिराने में कूटनीति के कैसे-कैसे गर्हित उपायों का अवलम्बन करती है! जिसे सभ्य जातियाँ राजनीति (Diplomacy) कहती हैं, वह सचमुच वंचकता की खान है। हा! इस अधम स्वार्थ के लिए कैसे-कैसे पाप किए जाते हैं, मनुष्य अपने भाई मनुष्य के साथ कैसी दग़ा करता है, हिंसक पशु की तरह उस पर कैसे बलात्कार करता है, कैसी-कैसी कुटिल चालें चलकर वह इसे अपने जाल में फँसाता है—ऐसे भयंकर उदाहरण आज नित्य-

प्रति हमारी अदालतों में देखे जाते हैं और पुलिस की डायरियां ऐसे भीषण कुकर्मों से भरी हुई मिलती हैं।

मनुष्य ऐसे घोर कुकर्म क्यों करता है? इसीलिए, क्योंकि वह पशु है। उसकी हज़ारों वर्षों की आदतें उसके अन्दर विद्यमान हैं। उसका शरीर आदमी का अवश्य है, किन्तु उसके अन्दर के संस्कार पशुपन से ओतप्रोत हैं। इसी पशुपन को दूर करने के लिए ही तो शिक्षा की आवश्यकता है। आज लाखों वर्षों के अनुभव के बाद हमें अपने पशुपन का ज्ञान होने लगा है। आज हम सोचने लगे हैं अपने इन अधोगति के कारणों को। विज्ञान ने हमें एक दूसरे के निकट लाकर खड़ा कर दिया है, फासला मिटा दिया है, देशों का भेदभाव हटा दिया है। आज हम सचमुच विश्व-बन्धुता का अर्थ समझ सकते हैं, यदि हम अपने स्वरूप को पहचानने लग जाएँ। हमें ईश्वर की व्यापकता का अर्थ भी आज समझ आ सकता है, क्योंकि आज हम शब्द की सूक्ष्म कम्पनाओं को हज़ारों मील दूर भेज सकते हैं।

जब भगवान् बुद्ध के हृदय में ज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी, तो उन्हें पहले अपने स्वरूप को जानने की आवश्यकता पड़ी। वर्षों की तपस्या ने उनके मस्तिष्क में सत्यज्ञान का प्रकाश किया। वे पण्डितों के जाल से निकले, उन्होंने आत्मिक स्वतन्त्रता पाई, तभी तो उन्हें बुद्धत्व का पद मिला। जब तक हम दूसरों पर अवलम्बित हैं, जब तक हममें स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास नहीं होता, जब तक हम शरीर से भिन्न स्वतन्त्र चेतनशक्ति को पहचानने नहीं लग जाते, तब तक हममें सात्विक जागृति आ नहीं सकती। इसी सत्य-सिद्धान्त को समझ कर महात्मा बुद्धदेव जी ने राजपाट को छोड़ कर अक्षय कीर्ति लाभ की और संसार को जीत लिया। इसी बल से हज़रत ईसामसीह चक्रवर्ती राजाओं के सिर-ताज बने। इसी ज्योति के प्रकाश से हज़रत मुहम्मद साहब ने अरब के रेगिस्तान में रहने वाले जंगलियों को खुदापरस्त बना दिया।

यद्यपि हम पैग़म्बरवाद और मसीहावाद को नहीं मानते और हमारी

यह धारणा है कि इस प्रचार का दावा करने वाले संसार की ज्ञानवृद्धि में अत्यन्त बाधक होते हैं, परन्तु एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि जो पुरुष अपनी शक्तियों को पहचान कर किसी भीष्म व्रत को ले लेता है, तो सफलता उसकी दासी बन जाती है। भगवान् रामचन्द्र, भगवान् कृष्ण, भगवान् बुद्ध, हज़रत ईसामसीह और पैगम्बर मुहम्मद साहब ने अपने-अपने आदर्श के लिए अपने समय में काफ़ी बलिदान किया था; यही कारण हुआ कि उन्होंने अपने उद्देश्य को पा लिया। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने स्वरूप को पहचानें, अपनी शक्तियों को जानें और संसार के साथ चार आँखें करना सीखें। शिक्षित मनुष्य वही नहीं कि जो स्वतन्त्र विचार करना जानता हो अथवा जो agnostic, free thinker या नास्तिक हो। मानसिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के यह अर्थ नहीं हैं कि हम अपने सात्विक गुणों को खो दें, झूठे तार्किक हो जायें, अध्यात्मवाद की खिल्ली उड़ायें या अपने से भिन्न मत रखने वाले लोगों के धार्मिक भावों का अनादर करें। आजकल मूर्खतावश स्वतन्त्र विचार करने के अर्थ ऐसे ही समझे जाते हैं। ऐसे अज्ञानी लोग मानसिक स्वतन्त्रता नहीं रखते, बल्कि स्वच्छन्द बन जाते हैं और उस स्वच्छन्दता को ही ऊँचे दर्जे की आज़ादी समझते हैं।

इसी हेतु आत्मिक स्वतन्त्रता के साथ मानसिक स्वतन्त्रता का गहरा सम्बन्ध है। जैसा हम पहले बतला चुके हैं, ज्ञान प्राप्ति के लिए सत्य-निष्ठा, श्रद्धा और विवेक का होना अत्यावश्यक है। जब इस ढङ्ग से मानसिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति की जाए, तो वह संसार की विभिन्नता में एकता स्थापित करने की योग्यता को पकड़ने की शक्ति ग्रहण करती है। सब वस्तुओं में आत्मिक ज्योति की झलक दिखलाई देने लगती है और व्यक्ति धीरे-धीरे सहानुभूति और समवेदना से भर जाता है। हमारा लक्ष्य है पशुपन का त्याग और मनुष्यत्व की प्राप्ति। आत्मिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि हम अपने में उन विकारों को स्पष्ट देखने लग जायें जो हमारे मनुष्यत्व के शत्रु हैं। शरीर और आत्मा में जो भेद है, शरीर

के विकारों का जो आत्मा पर प्रभाव है, जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से शरीर ने जो आत्मा पर कब्ज़ा पाया हुआ है, शरीर की उस गुलामी को आत्मा से अलग कर जब उसमें स्वयं परीक्षा की दृष्टि आने लगती है— जब व्यक्ति यह स्पष्ट देखता है कि मैं इन-इन विकारों के कारण गुलाम बना हुआ हूं और वे विकार उसे कांटे की तरह खटकने लगते हैं, तब आपको निश्चय जान लेना चाहिए कि आप आत्मिक स्वतन्त्रता की सीमा पर आकर खड़े हुए हैं। यह वह रास्ता है जहां शरीर और आत्मा के मार्ग फटते हैं। इसी कारण मानसिक स्वतन्त्रता के बिना किसी व्यक्ति को भी आत्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

यहां पर यह प्रश्न उठता है कि पैग़म्बरी और मसीहापन का दावा करने वाले तो मानसिक स्वतन्त्रता से वञ्चित होते हैं, तो फिर उन्हें आत्मिक स्वरूप का दर्शन कैसे हो सकता है? उत्तर में हमारा निवेदन यह है कि असल में ऐसे व्यक्ति अपने समय के क्रान्तिकारी होते हैं। वे चली हुई प्रथाओं और रूढ़ियों के विरुद्ध ज़बर्दस्त आवाज़ उठाते हैं। दूसरे शब्दों में, वे जनता को नया पथ दिखाते हैं और मानसिक स्वतन्त्रता की घोषणा करते हैं। हममें और उनमें फ़र्क यह है कि वे परिस्थितियों के प्रचण्ड प्रभाव से अपने आप को उस समय का पैग़म्बर समझने लग जाते हैं, मूर्ख जनता की दुर्दशा के कारण उनके अन्तःकरण में इस प्रकार की शक्तिशाली कल्पनायें आप-ही-आप उठने लगती हैं और वे खुल्लमखुल्ला कहने लगते हैं—"हमें ईश्वर ने भेजा है। हम तो खुदा के बेटे हैं। खुदा ने हमें यह सन्देश दिया है। मुझे बुद्धत्व की पदवी प्राप्त होगई है और मैंने सच्चे धर्म को जान लिया है।" ऐसा कहने में वे कोई मक्कारी नहीं करते, परिस्थितियां ही उनके मस्तिस्क को ऐसा बना देती हैं। जैसे महात्मा गांधी अपने कथनों और लेखों में यह घोषणा कर देते हैं कि वे ईश्वरीय आज्ञा का पालन करते हैं और अमुक आन्दोलन उन्होंने प्रभु के हुक्म से ही उठाया है। गांधी जी मक्कार नहीं हैं, ऐसी घोषणा करने में उनका कोई स्वार्थ नहीं, वे भेड़ें मूंडना नहीं चाहते। उनके इर्द-गिर्द की

व्यवस्थाएँ, जनता की उनके प्रति असाधारण श्रद्धा और उनका दिनरात उन्हीं बातों को सोचने का अभ्यास उनके मस्तिष्क को ऐसा बना देता है। यह मार्ग भयपूर्ण है। इसमें व्यक्ति और जनता के पतन के लिए बड़ी गुन्जायश है। इसके विपरीत जिस शिक्षा के आदर्श की व्याख्या हम कर रहे हैं और जिस पद्धति से योरुप के कई एक शिक्षाचार्यों ने मस्तिष्क की स्वतन्त्रता का द्वार खोला, वह पथ अभयदान देता है। उसमें किसी प्रकार की भावी दासता के लिए स्थान नहीं। वह जहाँ एक ओर समाज को विचारों की स्वतन्त्रता प्रदान करता है, जहाँ वह अनन्त ज्ञान की खोज करने का विशाल मार्ग बतलाता है, वहाँ दूसरी ओर आध्यात्मिक बातों के लिए भी खोज का द्वार खोलता है। पैग़म्बरों का मार्ग विकासवाद का विरोधी, व्यक्तियों की उन्नति का बाधक है और समाज को मस्तिष्क की दासता की दलदल में फँसा देता है। इसके विपरीत हमारा मार्ग स्वतन्त्र सुखद समीर बहाता है, व्यक्ति को मानसिक स्वतन्त्रता देता है, उसमें ज्ञान के प्रति श्रद्धा भरता है, और धीरे-धीरे आत्मिक ज्योति के दर्शन कराता है।

इसीलिए शिक्षा के आदर्श की व्याख्या करते हुए हमने इसे चार विभागों में विभक्त किया है और आत्मिक स्वतन्त्रता को शिक्षा का अन्तिम ध्येय कहा है। क्या यह ध्येय आधुनिक विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने से सिद्ध हो सकेगा? क्या गुरुकुलों, ऋषिकुलों तथा अन्य महाविद्यालयों में शिक्षा के इस आदर्श की सिद्धि हो सकती है? इसका उत्तर स्पष्ट है—"नहीं हो सकती।" साम्प्रदायिक संस्थाएँ अपने-अपने सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की शिक्षा देती हैं, मानसिक स्वतन्त्रता की नहीं। सरकारी विश्वविद्यालय केवल परीक्षायें पास कराते हैं, उन्हें आत्मिक स्वतन्त्रता से कोई मतलब नहीं। तो फिर करना क्या चाहिए? सचमुच यह समस्या हमसे अपना हल पूछती है। अब हमारा देश स्वतन्त्र हो गया है और हम अपनी संस्कृति के अनुसार अपनी शिक्षा-योजना बना सकते हैं। अब हमें अच्छा नीरोग साहित्य प्रकाशित करवा कर जनता के हाथों

में पहुँचाना चाहिए। हममें से जितने भी पढ़े-लिखे लोग हैं, उन्हें देश में साक्षरता लाने का शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए, ताकि हमारे लोग पेड़ों के नीचे बैठकर अपने बच्चों को पढ़ा सकें और राष्ट्रीय साहित्य की कथा करें। एक-एक व्यक्ति यदि एक-एक गाँव में बैठ जाय तो हम थोड़े ही काल में इस देश को साक्षर बना सकते हैं। काम बहुत है, केवल करने वाले चाहिएँ। जब हम शुद्ध अन्तःकरण से अपने देश की सेवा में लग जायेंगे तो हमारे श्रेष्ठतम उदाहरणों से जनसाधारण के चरित्र में महान् परिवर्तन होगा। हमें अब निर्भय होकर सब बातें स्पष्ट कहनी सीखनी चाहिएँ। सैकड़ों वर्षों का कूड़ा-कचरा हमें साफ करना है। बड़े धैर्य और अध्यवसाय से यदि हम काम पर लग जायेंगे तो ईश्वरीय कृपा से हमें पूरी सफलता होगी। राक्षसी साम्प्रदायिकता के कारण हमारे बहुत से काम बिगड़े हुए हैं। बुद्धिवाद ही इसकी हत्या कर सकता है। अनपढ़ मुसलमान बन्धुओं में जो धर्मान्धता फैली हुई है उसे बुद्धिवाद ही दूर करेगा। पुराने ढर्रे के हिन्दुओं में जो अस्पृश्यता और सामाजिक कुरीतियों की बीमारियां हैं, उन्हें भी बुद्धिवाद ही भगायेगा।

अतएव बुद्धिवाद का सहारा लेकर, इसे साम्प्रदायिकता का रूप न देकर, इसके स्वाभाविक गुणों के सहारे, सहानुभूतिपूर्ण हृदय से हमें आज शिक्षा के आदर्श की सिद्धि करनी चाहिये। शारीरिक, आर्थिक, मानसिक और आत्मिक स्वतन्त्रता के अर्थ भली प्रकार समझकर अपनी-अपनी पाठशालाओं और स्कूलों में शिक्षा-योजना बनानी उचित है। ग्रन्थ चाहे किसी ग्रन्थकार के पढ़िये, विद्याशाला का नाम चाहे कुछ रखिए, लेकिन ध्येय बिलकुल स्पष्ट रहना चाहिये। उपरोक्त चार प्रकार की स्वतन्त्रताओं को सिद्ध करने वाली योजना आपका यह लोक और परलोक सुधार सकेगी और आपके देश को सच्ची स्वाधीनता प्रदान करेगी। प्रभु से हमारी यही प्रार्थना है कि हम स्वतन्त्रता की कीमत समझें और सदा उसके लिए बलिदान करने को तैयार रहें।

पच्चीसवाँ पुष्प

जीवित जाति के चिन्ह

जातियों का उत्थान और पतन महान् प्राकृतिक नियमों पर अवलम्बित है। निरन्तर बहने वाली नदी जब अपने स्रोत से जल नहीं पाती तो धीरे-धीरे उसकी धारा सूखने लगती है। वे फूल जो उत्तरी अमरीका के ठंडे देशों में मिलते हैं, उष्णदेशों का जल-वायु पाकर अपना जीवनान्त कर देते हैं, लेकिन यदि उन्हें किसी गर्म देश के किसी फूल का पराग चटा दिया जाए तो वे अपना स्वभाव बदल कर शीत और उष्ण दोनों प्रकार के जल-वायु को सहन करने लग जाते हैं। घुमक्कड़ जिरगे, जब शीत-प्रधान देशों से जीवन-निर्वाहार्थ गर्म देशों में जाते हैं, तो उन्हें अपने स्वभाव के विरुद्ध बहुत-सी नई बातें पकड़नी पड़ती हैं, ताकि इर्द-गिर्द की विरोधी परिस्थितियां उनका अन्त न कर दें। शताब्दियों तक जिन्हें मांस खाने की आदत होती है, वे भी विरोधी जल-वायु पाकर शाकाहारी बन जाते हैं। इतना ही नहीं, प्रत्येक ऋतु मनुष्य पर अपना प्रभाव डालती है और उसे मजबूर करती है कि वह उसकी आज्ञानुसार अपनी जीवन-चर्या में परिवर्तन करे।

जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध समय को न समझ कर, काल की गति को न परख कर और परिस्थितियों के प्रभाव की अवहेलना कर जीना चाहता है, प्रकृति उसे पीस डालती है और उसकी जीवन-गति बन्द हो जाती है। जीवित जाति वही है जिसमें काल की गति को समझने की शक्ति है, जो नवीन परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको व्यवस्थित कर सकती है और मशीन के पुर्जे की तरह ठीक अपना स्थान बना लेती है। अपने गुण और दोष पहचानने के लिए नवीन परिस्थितियां बिजली के लैम्प का काम देती हैं। समाज को उस समय पता लगता है

कि उसके अन्दर कौन-कौन से ऐसे गुण हैं जो उसे आगे बढ़ने में मदद दे सकते हैं और कौन से ऐसे दोष हैं जो उसे घुन की तरह चाट रहे हैं। आत्म-निरीक्षण के लिए नवीन परिस्थितियां जादू का सा प्रभाव डालती हैं। हिन्दुओं की यही बीमारी है कि वे देश और काल के अनुसार अपने आपको बना नहीं सकते। इसीलिए उनका ह्रास अवश्यंभावी है। परिस्थितियों का प्रचण्ड प्रभाव व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन में महान् परिवर्तन कर देता है। वह नये सिद्धान्त घड़ता है और पुरानी दकियानूसी रूढ़ियों को उखाड़ कर फेंक देता है। जो पुरानी रूढ़ियों को नहीं छोड़ना चाहते, समय के अनुसार अपने आपको नहीं बनाते, ताज़गी उनसे दूर भाग जाती है और सड़ांद उनके चारों ओर पैदा हो जाती है। हम हैरान होते हैं कि हिन्दुओं के पास ऊँचे दर्जे की अध्यात्म-फिलासोफी, श्रीमद्भवद्गीता का सुन्दर कर्मयोग और उपनिषदों की दिव्य ब्रह्मधारा होते हुए भी फिर उनके जीवन में ऐसी दुर्गन्ध क्यों है? इसका उत्तर स्पष्ट है।

हिन्दू समय को नहीं समझते, काल की गति को नहीं निरखते और परिस्थितियों के प्रभाव का अनादर करते हैं। इसीलिए उनके सामाजिक जीवन तथा नागरिक व्यवस्था में इतनी बदबू उठ रही है। हजारों वर्ष की पुरानी आदतें वे छोड़ना नहीं चाहते, नई समस्याओं के प्रति वे आंखें बन्द कर लेते हैं और मूर्खतावश पुराने गीत गाकर शेखचिल्लियों की तरह ख्याली पुलाव पकाते रहते हैं; इसी कारण वे आज पराजित अवस्था में हैं और उनके मस्तिष्क में पराजय घर कर गई है।

क्या करें ?

तो करना क्या चाहिये? वही जो प्रकृति हमें सिखाती है। हम ऋतुओं के अनुसार कपड़ा बदलते हैं, मौसमी फल खाकर अपने शरीर का रक्त निर्दोष बनाते हैं और परिस्थिति समझ कर उपचार करते हैं। इसी प्रकार हमें अपने में परिस्थिति के अनुकूल बनाने (Adaptability)

का गुण लाना होगा और वर्तमान काल के विरोधी वातावरण के मुकाबले की तैयारी करनी होगी। तभी हम जीवित जातियों में अपना नाम लिखा सकेंगे। एक बार जीवन पाकर मनुष्य में निरन्तर जीने की इच्छा बनी रहती है। अपनी मर्जी से कोई मरना नहीं चाहता। हिन्दू भी संसार में जीने की इच्छा रखते हैं, लेकिन सिसक-सिसक कर जीना घृणास्पद है। मान और गौरव के साथ जीने के लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है कि हम परिस्थितियों को भली प्रकार समझने की चेष्टा करें और अपनी झूठी शेखी छोड़कर पिछली भूलें सुधार लें, नई आदतें पैदा करें, ताकि हम समय के साथ चलने योग्य बन सकें। जीने की इच्छा एक ऐसा अंकुश है कि जो व्यक्तियों और राष्ट्रों को आगे बढ़ने में बराबर मदद देता है। जो प्रारब्ध के मायाजाल में फँस जाते हैं, उन्हें असाध्य बीमारी लग जाती है, अतएव प्रारब्ध का गला घोटकर पुरुषार्थ को अपने हृदय-मन्दिर में बिठाना चाहिये। जब जातियों में झूठे वैराग्य के संस्कार फैल जाते हैं, अथवा "खाओ, पीओ और मजा मारो" का वाममार्ग अपना असर डाल देता है, तो जातियां शीघ्र ही नष्ट होने लगती हैं। जीने की इच्छा अत्यन्त प्रबल हो, लेकिन मान और गौरव के साथ, तब आगे बढ़ने का पथ आसानी से मिल जाता है। राजस्थान की वीर गाथाओं के बहादुरों ने बहादुरी से मरना तो सीखा था, किन्तु काल की गति को समझकर कैसे सम्मान के साथ जिया जाता है, इस तथ्य को वे न समझ सके थे, क्योंकि उन्होंने परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको नहीं बनाया था। सिक्खों और मरहटों ने नवीन परिस्थिति को समझकर उसके अनुकूल साधन उत्पन्न किये, तभी वे विजेता बन सके; परन्तु आगे चलकर वे फिर गुरुडम में डूब गये और उन्होंने परिस्थितियों का अध्ययन करना छोड़ दिया। परिणामस्वरूप उन्हें अंग्रेजों के हाथों पराजित होना पड़ा।

आइये, अपने पिछले इतिहास से शिक्षा ग्रहण करें। राजपूतों की भूलों को न दुहरायें और न विजेता सिक्खों और मरहठों के पतन की

रोमांचकारी कथाओं को ही भूल जायें। वे आज हमें पुकार-पुकार कर कह रही हैं—

"यदि तुम बीसवीं शताब्दी की नवीन परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको नहीं बनाओगे, तो विज्ञान की भयंकर शक्ति तुम्हारा अस्तित्व मिटा देगी।"

अतएव हमारा कर्तव्य यह है कि हम मुर्दा जातियों की कतार से निकल कर जीवित जातियों के मध्य में खड़े हो जायें। महासमर के बाद जर्मनी निराशाओं और झूठे वैराग्य में डूब गया था, मगर वीरप्रवर हिटलर ने डूबते हुए जर्मनी को उबार लिया, उसे समय के अनुसार अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर दिया। जो विचारधारायें जर्मनी के विवेक पर मिट्टी डाल रही थीं, उन्हें उसने सुखा दिया और जो सोसाइटियाँ जर्मन नवयुवकों को स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलता की ओर ले जा रही थीं, उनका उसने गला घोट दिया। जो पापात्मा कानून के शिकंजे से बचकर अपना उल्लू सीधा कर रहे थे, नाज़ियों ने उन्हें चुपके से मौत के घाट उतार दिया। इस प्रकार इस वीर ने जर्मनी का कूड़ा-कचरा साफ कर, उसकी दुर्गन्ध को मिटा, उसे आशा की गंगा में नहला दिया। इसी वजह से आज जर्मनी फिर अपने पुराने गौरव को पाने लगा है। जीवित जाति का यही लक्षण है। लेकिन वही वीरकेसरी हिटलर यदि दूसरे योरुपीय-महासमर में रूस के यूक्रेन प्रान्त में जाकर आगे न बढ़ता और अपने विश्वासी सेवक हेस (Hess) को चर्चिल के पास न भेजता, तो जर्मनी को उस प्रलयकारी युद्ध में घोर पराजय का मुख न देखना पड़ता। घमण्ड के आवेश में उठाया हुआ एक गलत पग राष्ट्रों का सर्वनाश कर देता है। मुर्दा जाति सिद्धान्तों की माप-तोल में लगी रहती है। पुराने दकियानूसी सिद्धान्तों की बदबू उसे ऐसी प्यारी लगने लगती है कि वह उसी में अपना कल्याण मानती है। जीवित जाति नये सिद्धान्त, नए शास्त्र और नई स्मृतियों की रचना करती है, ताकि उसके बच्चे नवीन हालात

का मुकाबिला कर सकें और गौरव के साथ फूलें और फलें । यदि हिन्दू इस वर्तमान युग में सिद्धान्तों की भूल-भुलैयाँ में रहेंगे, पुरानी रूढ़ियों का मोह नहीं छोड़ेंगे और व्यावहारिक धर्म को अपने जीवन में धारण नहीं करेंगे तो परिस्थितियाँ निश्चय ही उन्हें पीस डालेंगी ।

अतएव सभी चिन्तनशील लोगों का यह कर्त्तव्य है कि वे बहुत शीघ्र जनता में नीरोग नवीन विचारों का प्रचार करें, जीवनप्रद गीतों की रचना करें, धर्म-सम्बन्धी पुराने हानिकारक विचारों को नष्ट करें और अपने इर्द-गिर्द की हालत का अध्ययन कर इस बात के समझने की भरपूर चेष्टा करें कि वर्त्तमान समय उनसे क्या परिवर्त्तन माँगता है, क्या तपस्या चाहता है, क्या नवीनता लाने की आज्ञा देता है । यदि हम समय को समझकर जीवन के वर्तमान संग्राम के अनुसार साधन जुटा लेंगे तो संसार की कोई शक्ति हमें मार नहीं सकेगी । तभी हमारा नाम जीवित जातियों की सूची में लिखा जायगा ।

छव्वीसवाँ पुष्प

क़ौमें कैसे उठा करती हैं

पंचपुरी कांग्रेस कमेटी की ओर से २८ दिसम्बर सन् १९३५ की शाम को हरिद्वार में श्रीगंगाजी के किनारे विशाल प्लेटफार्म पर कांग्रेस का पचासवर्षीय स्वर्णजयन्ती-महोत्सव मनाया गया था। प्लेटफार्म खचाखच भरा था और बहुत-से नर-नारियों को अत्यन्त भीड़ के कारण पीछे खड़ा रहना पड़ा। मैं उन दिनों गुरुकुल कांगड़ी में ठहरा हुआ था। जब आचार्य देवशर्मा ने मुझे उस सभा का सभापति होने के लिए कहा तो मैंने सोचा कि इस शुभ अवसर पर अपने देशवासियों को जातियों के उत्थान और पतन के विषय में कुछ सच्ची बातें साफ तौर से कहनी चाहियें। इस कारण मैं उस महोत्सव में सम्मिलित हुआ, झंडा फहराने का पुण्य संचय किया और अन्त में उपस्थित नर-नारियों को नीचे लिखे आशय की बातें कहीं।

आज हम लोग कांग्रेस की स्वर्णजयन्ती मनाने के लिए यहाँ पर एकत्रित हुए हैं। इसका अर्थ यह है कि हम पिछले पचास वर्षों के राष्ट्रीय जीवन का सिंहावलोकन करने लगे हैं। सन् १८८५ में एक उदाराशय अंग्रेज़ की सलाह से कांग्रेस की स्थापना की गई थी। अपने देश की राजनीति के अनुसार मिस्टर ह्यूम यह चाहते थे कि भारतवर्ष में भी एक ऐसा प्लेटफार्म बन जाये जिस पर यहाँ का शिक्षित समुदाय अपने दिल के फफोले फोड़ सके और शासन करने वालों को भी समय के अनुसार जागृति को संयमित करने में सहायता मिल सके। वे इसमें सफल-मनोरथ हुए और देश का शिक्षित वर्ग उस प्लेटफार्म पर जाकर वर्ष में एक बार अपने दिल की बातें नौकरशाही को सुनाने लगा।

कांग्रेस का बाल्यकाल इस प्रकार प्रारम्भ हुआ। सन् १९०६ की

कांग्रेस में स्वराज्य शब्द का प्रवेश हमारी राष्ट्रीय परिभाषा में होगया और १९०७ में जब सूरत में कांग्रेस हुई तो वहाँ काँग्रेस की सूरत बदल गई। एक नई राष्ट्रीय पार्टी का जन्म हुआ, जिसमें महाराष्ट्र और बंगाल के नेताओं ने भाग लिया। लोकमान्य तिलक राजनीतिक सिद्धान्तों के अद्भुत पंडित थे और साथ ही देश-भक्ति की जीती-जागती मूर्ति थे। उनके नेतृत्व में राष्ट्रीय पार्टी धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ती गई। सन् १९१६ की लखनऊ कांग्रेस में जब देश भर के नेता राष्ट्रीय महासभा में मुसलमानों को सम्मिलित कर उसे अत्यन्त शक्तिशाली बनाने की व्यवस्था करने लगे, तो दुर्भाग्यवश उन्होंने पृथक्-निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर कांग्रेस में साम्प्रदायिक फूट का बीज बो दिया। यह पहली ज़बर्दस्त भूल हमारे नेताओं ने की, जिसका दण्ड वे अब तक भोग रहे हैं और आगे भी भोगेंगे।

सन् १९१७ का वर्ष कांग्रेस के इतिहास में क्रान्ति-युग कहलायेगा। उस वर्ष महात्मा गाँधी जी ने मोतीहारी में पहली बार भद्र-अवज्ञा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और देश के लोगों को यह सिखला दिया कि निर्बल-से-निर्बल भी आत्मिक बल रहने पर अत्यन्त शक्तिशाली का मुकाबिला कर सकता है। भारतवर्ष के लोग निरस्त्र किये गये हैं, आत्म-रक्षा के लिए उनके पास कोई हथियार नहीं; ऐसी अवस्था में लोगों की मनोवृत्ति यही रहा करती है कि वे शस्त्रहीन शस्त्रवालों का क्या सामना कर सकते हैं! महात्मा गाँधीजी ने जनता को यह सिखलाया कि जातियाँ निरस्त्र होने के कारण ही गुलाम नहीं बन जातीं, बल्कि कौमों के उठने और स्वाधीन होने के प्रधान कारण दूसरे ही होते हैं।

सचमुच सन् १९१७ से ही कांग्रेस का राष्ट्रीय जीवन प्रारम्भ होता है और तब से लेकर आज तक इन अठारह वर्षों के राष्ट्रीय जीवन का हमें सिंहावलोकन करना है। सन् १९२० की कांग्रेस में महासभा की बागडोर महात्मा गाँधी के हाथ में आई और उन्होंने मुसलमानों को अपने साथ मिलाकर काँग्रेस की प्रगति को आगे बढ़ाया। यह समय ख़िलाफ़त

के आन्दोलन का था। उस मज़हवी आन्दोलन को काँग्रेस का अंग वना कर जन-साधारण में एकता की पुनीत भावना को जवर्दस्त वनाना कोई वुराई की वात नहीं थी, वल्कि एक अत्यन्त राजनीतिक दूरदर्शिता की वात थी। परन्तु मुसलमानों द्वारा पैदा की गई राष्ट्रीय स्टीम को नियन्त्रित कर उसे नौकरशाही के विरुद्ध काम में लाना यही अत्यन्त विवेक और कौशल की वात थी, जिसे महात्मा जी न कर सके—वे सफल सेनापति सिद्ध न हुए। जिस दूरदर्शिता के कार्य को उन्होंने ऐसी निर्भीकता से उठाया था, जिसे उन्होंने वायसराय लार्ड रीडिंग को चैलेंज देकर पूर्णता तक पहुँचाने का व्रत लिया था, परीक्षा का समय आने पर उनका हृदय सहम गया और वे उस भयंकर मारकाट को देखकर डर गये जिसका श्रीगणेश चौरीचौरा में हुआ था।

मुझे वह सुवह कभी न भूलेगी जव वारडोली में चौरीचौरा की घटना के वाद काँग्रेस के भविष्य का फैसला हुआ था। भारतवर्ष के करोड़ों नर-नारियों में केवल मैं ही एक ऐसा व्यक्ति हूँ, जिसे उस ऐतिहासिक पराजय का रहस्य मालूम है। महात्मा जी ने जव सवको वाहर निकाल दिया, तो उस कमरे में मैं और गांधीजी अकेले ही रह गए। वे चर्खा कात रहे थे और मैं उनके चेहरे की ओर देख रहा था। कुछ देर तक चुप रहने के वाद मैंने पूछा—

"क्यों वापू जी, आप ऐसे उदास क्यों हैं ?"

सर्द आह भर कर वे वोले—"जिस कार्य के करने के लिए मैंने सारी तैयारी की थी, आज मेरा हृदय उस जिम्मेदारी को उठाने में असमर्थ है।"

इसके वाद जो-जो हुआ, घटा, सलाहकारों की मीटिंग में जो फैसला हुआ, भावी इतिहासकार उस पर खून के आँसू वहायेंगे। यदि गांधीजी उस समय दोनों हाथों में अपने साहस को लेकर, चौरीचौरा की कुछ परवाह न कर, ख़िलाफ़त आन्दोलन द्वारा पैदा हुई उस शक्तिशाली स्टीम को नौकरशाही पर छोड़ देते, तो मुसलमान सदा के लिए सच्चे भारतीय वन जाते। धर्मान्ध मौलवी और मुल्ला शहीद होकर

स्वर्ग में विहार करते और जनता उन शहीदों के गुण गाकर राष्ट्रीयता का अमृतपान करती और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रश्न सदा के लिए हल हो जाता।

देखिये भारतवर्ष का दुर्भाग्य ! सन् १९१६ में लोकमान्य तिलक ने पृथक् निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार कर देश को फूट के गढ़े में गिरा दिया। इसके छः वर्ष बाद जब महात्मा गांधी जी को एक स्वर्ण अवसर उस भूल को सुधारने का मिला, तो उन्होंने केवल उसे खो ही नहीं दिया, बल्कि ऐक्य के प्रश्न को और भी कठिन बना दिया। इसके बाद कांग्रेस की क्या दशा हुई ? स्वराज्य पार्टी ने ज़ोर बांधा, असेम्बली और कौंसिलों में कलाबाजियां हुईं, सत्याग्रह संग्राम के शङ्ख फूंके गये, हज़ारों नवयुवक और युवतियाँ जेलों में सड़ीं, वीर स्वयंसेवकों ने माता के नाम पर डण्डे खाये और गालियाँ सहीं, गांधी-इरविन समझौता हुआ, कांग्रेस का बोलबाला हुआ—मगर अफ़सोस ! राउण्ड-टेबिल कान्फ्रेंस में जाकर भारत के स्वराज्य का प्रश्न फुटबाल की 'किक' खाकर दूर चला गया।

आज की हालत

आज हम कहां खड़े हैं, इस पर हमें ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। एक ओर सोशलिस्ट पार्टी वाले अजगर की तरह कांग्रेस को निगलने के लिए तैयार बैठे हैं, दूसरी ओर ओहदों के भूखे कांग्रेस को २० वर्ष पीछे खींच रहे हैं, तीसरी ओर स्वार्थी मुसलमान नेता कांग्रेस द्वारा पैदा की हुई जागृति का लाभ लेकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं और भारतवर्ष में मुस्लिम राज्य स्थापित करने की तैयारी कर रहे हैं, चौथी ओर नौकरशाही तीनों तरफ झांक-झांक कर उन्हें मुंह चिढ़ा रही है और कांग्रेस का मज़ाक उड़ा रही है। हमारी म्युनिसिपैलिटियाँ पार्टीबाजी का घर बन गई हैं, जहाँ हमारे चुने हुए प्रतिनिधि लूट के माल के लिए लड़ते हैं। राष्ट्रीय बंगाल दो कैम्पों में नंगी तलवार लिये खड़ा है, जिसके झगड़े निपटाये ही नहीं जा सकते। पदलोलुप लोग मज़हबी

महन्तों की तरह पब्लिक गद्दियाँ बनाने के लिए निकल पड़े हैं—ऐसी अवस्था में हमें क्या करना चाहिये ?

स्वर्णजयन्ती के इस शुभ अवसर पर हमें आज अपना वही-खाता मिलाना होगा और सोचना होगा कि हमें कितना घाटा और कितना नफा हुआ। यदि घाटा हुआ तो क्यों हुआ है ? उसके कारणों की तलाश कर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना होगा। नफा हमारे सामने है—जनता की जागृति। पिछले २० वर्षों में जो जागृति देश में हुई है, वह निःसन्देह अत्यन्त आशाजनक है। स्वराज्य के लिए लोगों के दिलों में चाह उत्पन्न हुई है, दासता के प्रति घृणा के भाव बराबर फैल रहे हैं, कांग्रेस का प्रभाव बहुत व्यापक होगया है, छूत-छात घट रही है, जात-पांत के बन्धन ढीले हो रहे हैं, लेकिन कौमों के उठने में जिस चीज़ की अत्यन्त आवश्यकता है, वह कुछ और ही है।

स्मरण रखिये, वह शक्ति जो जातियों को उठाती है, वह तेज जो देश को उज्ज्वल करता है, वह बल जो राष्ट्र को शक्तिशाली बनाता है, वह समीर जो उसका यश फैलाता है, जो उसकी नैतिक प्रभुता को उत्पन्न करता है, जो उसका आदर और उसका गौरव बढ़ाता है, जो करोड़ों आत्माओं के हृदयों को उसके आधीन करता है और इर्द-गिर्द के अभिमानी राष्ट्रों को उनके प्रति विनयी बनाता है, वह आज्ञा पालन करने वाला तेजस्वी साधन, वह आधिपत्य दिलाने वाला सुन्दर स्रोत, किसी राष्ट्र का वह सच्चा सिंहासन और राज्याधिकार—अरे मेरे लोगो ! वह शक्तिशाली महत्ता वर्णाश्रम की डींग मारने से प्राप्त नहीं होती, न वह फ़ैशन और शृंगार में डूबे रहने से मिलती है, ना ही वह वाक्चातुरी, मज़हबी ढोंग और बुद्धि-कौशल से ही प्राप्त हो सकती है। वह महत्ता तो केवल निर्मल चरित्र रखने वाले नर-नारियों द्वारा ही राष्ट्र को हासिल होती है और मानव-जाति का एकमात्र पथ-प्रदर्शक केवल वह सुन्दर चरित्र ही है।

वह चरित्र क्या है ? उसका क्या स्वरूप है ? उसके मुख्य-मुख्य

अंग क्या हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर दिये विना इस सिंहावलोकन का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि दुर्भाग्यवश भारतवर्ष के लोग चरित्र का व्यापक स्वरूप नहीं पहचानते। वे यही समझते हैं कि जो पर-स्त्री-गमन नहीं करता, जो इन्द्रिय-भोग के विषय में संयमी है, वही चरित्र-वान् है। यह तो इस शब्द का अत्यन्त ही संकुचित रूप है। अब हम इसकी सविस्तर व्याख्या करते हैं।

अपने पिछले तीस वर्षों के अनुभव से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूं कि हिन्दू-समाज राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करने की बुद्धि को खो बैठा है। इसका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यक्तिवादी हो गया है और वह व्यक्ति-वाद निपट स्वार्थ का रूप धारण कर बैठा है। अभी मैंने यह आश्रम लिया है। मुश्किल से एक महीना होने लगा है, लेकिन कैसा अनुभव मुझे हो रहा है ? मैंने आश्रम की आवश्यकताओं के अनुसार कुछ मकान बनवाने हैं। भट्टे वाले, मेमार, बढ़ई, लोहार, मज़दूर और ठेकेदारों का कुछ दिन तक तांता लगा रहा। सब का रुख मैंने पूर्ण स्वार्थ का देखा। वे यही चाहते हैं कि दूसरे की आंख में धूल झोंक कर, उसे ख़राब माल दे कर अपना उल्लू सीधा करें। भारतीय मस्तिष्क तो बनियापन के गहरे गढ़े में बुरी तरह गिर गया है—यहाँ तक कि स्वार्थ के वशीभूत होकर वह अपने हित को भी हानि पहुंचा लेता है। ईमानदार आदमी दरकार हैं। वे कहाँ से आवें ? जो मिस्त्री आता है, वह अपने-आपको अपने धन्धे में पूरा जानकार बतलाता है, लेकिन कितना कम जानता है वह ! तीर्थों में आते हैं लोग शान्ति के लिए, लेकिन कितनी अशान्ति है वहाँ ! स्वार्थ का तो मानो साम्राज्य है। गिद्धों की तरह यात्रियों पर टूट पड़ते हैं, मानो पैसा ठगने का इनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। मन बेचैन हो उठता है और मुंह से बे-इख्तियार ये पद्य निकलते हैं—

छन्द भुजङ्गी

धनी की नहीं खोज में घूमते,
न लिक्खाड़ के पैर को चूमते;

न विद्वान् मक्कार ही चाहिये,
कहीं से खरा आदमी लाइये।

कहाँ है नहीं जो बहा धार में,
रहे जो तना तेग़ की मार में;
सदा जो डटा बीच मैदान मे,
सभी वार दे देश की आन में।

मसीतें रहीं रो इमामी विना,
मठों में मची धूम स्वामी बिना;
शिवाले खड़े हैं पुजारी नहीं,
अहो आज मोहन मुरारी नहीं।

('अनुभव' में से)

भारतवर्ष का हृदयमर्मभेदी क्रन्दन यही है—"Men wanted, अर्थात् मनुष्य दरकार हैं।" निस्सन्देह राष्ट्रों के उत्थान में आदर्श का बड़ा ऊँचा स्थान है। आदर्श के विना कोई जाति उठ नहीं सकती। लेकिन आदर्श भी क्या करेगा जब आपके पास सामग्री रद्दी है? आपने सुन्दर सुदृढ़ राष्ट्रीय भवन बनाना है, लेकिन आपके पास जो मसाला है वह बिलकुल थर्ड क्लास है। पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास कर देने से ही हम इस आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकते। महाराजा रणजीतसिंह ने अतुल परिश्रम कर सब सिक्ख मिसलों को मिटाकर एक बलशाली सिक्ख-राष्ट्र पंजाब में स्थापित किया था, लेकिन वह उनकी मृत्यु के कुछ दिन बाद ही धराशायी हो गया। क्यों? इसलिए कि जिस मसाले से उन्होंने उस राष्ट्र की बुनियाद डाली थी, वह अच्छा नहीं था। क़ौमें बल्लियां लगाने से नहीं उठा करतीं। गुरु गोविन्दसिंह जी ने अपने बलिदान की बल्ली से सिक्खों को खड़ा कर दिया था। इसी प्रकार शिवाजी

महाराज ने अपने अविरल प्रयत्न से मराठों को उठाने की कोशिश की थी। पर कौमें ऐसी वल्लियां लगाने से नहीं उठा करतीं। कौमों को उठाने के लिए सुन्दर, नीरोग और सच्चरित्रतापूर्ण विचारों की आवश्यकता है। वही एक ऐसा स्थायी सीमेन्ट है जो राष्ट्र को दीर्घकाल तक जोड़े रखता है। सुन्दर नीरोग विचार ही नागरिकों में जीवन-स्फूर्ति भरते हैं और जब वे पवित्र विचार मानव-शरीर में अवतार लेकर किसी राष्ट्र का अंग बनते हैं तब वह राष्ट्र भाग्यशाली हो जाता है।

जब भगवान् बुद्ध ने सच्चरित्रता की भित्ति पर अपने संघ की बुनियाद रखी थी तो उन्होंने संसार को एक अटल सिद्धान्त सिखला दिया, और वह सिद्धान्त यह है—"समाज का पथ-प्रदर्शक सुन्दर निर्मल चरित्र है, जन्म का अभिमान और पाण्डित्य की डींगें जातियों को महान् नहीं बना सकतीं।" करीब एक हजार वर्ष तक भगवान् बुद्ध की शिक्षा ने हिन्दू समाज को ऊंचा उठाने में मदद दी, लेकिन ज्यों-ज्यों वह शिक्षा मिटती गई और हिन्दू परिस्थितियों के अनुसार अपना परिवर्तन करने में असावधान रहे तो काल ने उस बौद्ध समाज को पछाड़ डाला।

श्रेष्ठ साहित्य

हम आज एक नये युग का द्वार खटखटा रहे हैं। हमें आज अपने राष्ट्र का निर्माण करना है। वह निर्माण कार्य किस सामग्री से होगा? भारतवर्ष में रहने वाले सात करोड़ मुसलमान अपनी आत्मिक खुराक कहाँ से लेते हैं? कोई ऐसी सोसायटी अथवा आन्दोलन उनमें नहीं है जो उन्हें सच्चरित्रता की ओर ले जाने वाला हो। उनकी सारी शिक्षा साम्प्रदायिक है और मजहबी कठमुल्लापन उनमें ठूंस-ठूंसकर भरा जाता है। आपका बीस वर्षों का पुराना मुसलमान नौकर, हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा होने पर हमेशा अपने मजहब वालों की तरफ जाता है, न्याय-अन्याय पहचानने की बुद्धि उसके पास है ही नहीं। वह बुरे-से-बुरा कर्म भी मजहब के नाम पर कर बैठता है। इस प्रवाह को कांग्रेस कैसे रोकेगी?

हिन्दुओं की आवादी इस देश में सवसे अधिक है। उनका आदर्श-मनुष्य धर्मराज युधिष्ठिर जूए में अपनी स्त्री तक को हार देता है। इस कुकर्म को आज साधारण-से-साधारण सभ्य मनुष्य भी अत्यन्त घृणित समझता है। यही दशा भागवत के नायक श्रीकृष्णचन्द्रजी की भी है। करोड़ों हिन्दू उसे माखनचोर, चोर-जार-शिरोमणि और ज्वारियों का सरदार समझते हैं और भगवद्गीता में भी भगवान् ने अपने मुंह से अपने-आपको सवसे वड़ा ज्वारिया कहा है। पुराणों में हजारों वर्षों तक तपस्या करने वाले ऋषि साधारण-सी अप्सरा आ जाने पर कामातुर हो जाते हैं। दूसरी ओर जव हम डाक्टर स्माइल्स रचित Duty और Character अर्थात् कर्त्तव्य और चरित्र नामक पुस्तकों को पढ़ते हैं, तो हमारा हृदय गद्गद् हो जाता है। कैसी सुन्दर और परिमार्जित भाषा है इन पुस्तकों की और कैसी स्फूर्ति देती हैं वे हमें! क्या ऐसी पुस्तकें हमारे साहित्य में हैं? ऐसी ही पुस्तकों के कारण ब्रिटिश जाति ने अपने उत्थानकाल में ऊँचे दर्जे के चरित्रवान् और वीर पुरुष उत्पन्न किये थे। ऐसे ही साहित्य के वल पर अंग्रेज जाति ऐसी शक्तिशाली हुई है। जव से अंग्रेजी साहित्य में थर्ड क्लास जासूसी उपन्यास, गन्दे सिनेमा और वाममार्गी गीत प्रचलित होने लगे हैं, तभी से ब्रिटिश जाति का वीर्य क्षीण होने लगा है और इसमें ऊँचे दर्जे के राजनीतिज्ञों और वीरश्रेष्ठों की कमी होने लगी है। जातियों का उत्थान श्रेष्ठ साहित्य द्वारा ही हो सकता है, अश्लील और शृंगाररस पूर्ण कविताओं से नहीं।

पुराना कूड़ा कचरा

कांग्रेस की इस स्वर्णजयन्ती के अवसर पर हमें आज वड़ी गम्भीरता से अपनी दशा पर विचार करना है। जिस देश में महात्मा गांधी जैसा महा-पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसके पीछे लाखों आदमी मरने को तैयार हैं, वह देश अव तक अपनी स्वराज्य समस्या को हल क्यों नहीं कर सका? केवल इसीलिए कि हमारे नेता मुसलमान जनता से डरते हैं और हिन्दुओं को

ठीक मार्ग नहीं बतलाते। यह सच है कि हमारा आर्थिक प्रश्न भी हमारे रास्ते में एक बड़ी बाधा है, लेकिन उसके हल होने पर भी हम उत्थान-पथ पर नहीं जा सकेंगे। पहाड़ी नदी की बाढ़ जैसा उत्थान स्वाभाविक नहीं होता, वह तो नाशकारी ववण्डर होता है। जातियों का उत्थान उन समय माना जाता है जब उनमें रचनात्मक कार्य करने वाले स्त्री-पुरुष उत्पन्न होते हैं। ऐसे पुरुष तो केवल निर्मल विचारों द्वारा ही बन सकते हैं। भला सोचिये तो सही कि जिस कुम्भ के मेले पर हमारे लाखों पुरुष एकत्र हों और वे नांगे साधुओं की लंगोटिया उतरवाने के लिए रुपये भेंट करें और हमारे कई एक लोकप्रिय नेता तथा धुरन्धर शास्त्री उसी मेले में मौजूद हों और इस प्रकार के धार्मिक अनाचार के विरुद्ध भयंकर आंदोलन न करें, ऐसे देश की जनता भला कभी चरित्रवान् हो सकती है?

भारतवर्ष में जनता को उत्थान-पथ पर ले जाने का मार्ग तब तक नहीं निकल सकता जब तक कि हम पुराने कूड़े-कचरे साहित्य को निर्भय होकर गंगा जी में न बहा देंगे। हिन्दू और मुसलमान जनता प्रमाणवाद के गढ़े में गिरी हुई है, उसमें सत्यासत्य पहचानने की विवेकिनी बुद्धि नहीं। जब तक हम लोकप्रियता की प्रलोभना छोड़ कर, ख्याति से उदासीन हो, शुद्ध सत्य की शिक्षा अपने लोगों को नहीं देंगे, तब तक इस देश में सच्चरित्रता का आधिपत्य स्थापित नहीं हो सकता।

कौन है चरित्रवान् ?

वही, जो लाखों रुपये का प्रलोभन मिलने पर भी न्याय पथ न छोड़े, जिसमें स्वार्थ न हो, जो दूसरों की हानि को अपनी हानि समझे, जिसमें कर्तव्यनिष्ठा हो, जो वीरता से अत्याचार का सामना करने के लिए उद्यत हो जाये। गुरु तेगबहादुर जी ऊँचे दर्जे के चरित्रवान् थे। अमरीकन रिपब्लिक के पिता जार्ज वाशिंगटन सच्चरित्रता की मूर्ति थे। छोटा सा लड़का कैसेवियन्का पिता की आज्ञा के लिए जीता जल गया, मगर उसने

अपना स्थान नहीं छोड़ा। धर्मी हकीकतराय सच्चरित्रता के ज्वलन्त उदाहरण थे। इस प्रकार के नरपुंगव जिस देश में उत्पन्न होते हैं—वे भी एक दो नहीं, बल्कि जब साधारण जनता इन पवित्र सिद्धांतों से ओत-प्रोत हो जाती है तब देश सच्ची स्वाधीनता प्राप्त करने के योग्य बनता है।

हमें आदमी चाहियें—ऐसे आदमी जो तोप के मुंह के सामने भी वही कहें जो उनके हृदय में हो, जो मनों सोना मिलने पर भी देश के साथ द्रोह न करें, जिन्हें जब किसी जिम्मेदार जगह पर खड़ा कर दिया जाए तो वे हिमालय की तरह अचल हो जाएँ, ऐसे विश्वासपात्र नर-नारी जिन पर हमें सोलह आना विश्वास हो और जिनमें कार्य करने की क्षमता हो, दूसरों के अधिकारों का जो मान कर सकें और अपने अधिकारों के लिए प्राण तज सकें, जो निर्भय सिंह की तरह कठिनाइयों में से निकल सकें और कार्यसिद्धि के लिए जिनमें रक्त की नदी पार करने का साहस हो—ऐसे नर-श्रेष्ठ जब भारतवर्ष पैदा करेगा तभी इसका उद्धार हो सकेगा, क्योंकि हमने शासन की बागडोर अपने हाथ में लेनी है। जब हमारे पास योग्य आदमी ही नहीं तो हमारा उद्देश्य कैसे सिद्ध हो सकता है ?

स्वराज्य से पहले

लोग हमें यह कहेंगे कि पहले हम स्वाधीनता प्राप्त कर लें, रोटी का प्रश्न हल हो जाये, तब ऐसे आदमी आप ही आप पैदा हो जायेंगे। ऐसा विचार रखनेवाले लोग रेत की भित्ति पर दीवार खड़ी करना चाहते हैं। संसार में कोई जाति इस तरह से नहीं उठी। प्रारम्भ के ईसाई अत्यन्त चरित्रवान् थे, उन्हीं के पुण्य-प्रताप से ईसाई-साम्राज्य बलशाली हुआ था। इस्लाम के जन्मकाल में जिन लोगों ने इसे आगे बढ़ाने का यत्न किया था वे भी अपने समय के चरित्रवान् और ऊँचे दर्जे के मनुष्य थे। उन्हीं वीरों के सहारे इस्लाम का बल बढ़ा और जब उन सच्चरित्र लोगों का

पुण्य समाप्त होगया तो इस्लाम की शक्ति का सूर्य अस्त होगया। अब कमालपाशा पाश्चात्य गुणों की कलम लगाकर नया तुर्की बनाने लगा है। भारतवर्ष भी जब तक यही पथ नहीं पकड़ेगा, इसका उत्थान नहीं हो सकता। हिंदुओं में चरित्र को बिगाड़ने वाला जितना साहित्य है, जितनी अश्लील गाथायें हैं, जितने शृङ्गार-रसपूर्ण ग्रंथ हैं और जितने गलत आदर्श हैं, उन सबका अंत करना ही पड़ेगा। मुसलमानों में जो भयंकर कठमुल्लापन है, उसे दूर किए बिना हमारा कल्याण नहीं हो सकता। हमें चाहिये कि हम प्रमाणवाद का गला घोंट कर बुद्धिवाद का प्रचार जनता में करें और ऐसे साहित्य को रचें जो जनता में सच्चरित्रता के व्यावहारिक धर्म का प्रचार करे। जब ऐसी निर्मल विचारधारा इस देश में बहेगी, तभी यह देश अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने में समर्थ हो सकेगा।

प्रचुरता बनाम उत्कृष्टता

अतएव मेरी प्रार्थना अपने देशवासियों के सम्मुख यही है कि अब हमें प्रचुरता (Quantity) की परवाह न कर उत्कृष्टता (Quality) का अधिक ध्यान रखना चाहिए। हमें बहुत बड़ी संख्या की आवश्यकता नहीं, हमें तो थोड़े लेकिन चरित्रवान् नर-नारी दरकार हैं। ऐसा मुट्ठीभर समाज देश की काया-पलट कर सकता है। सब सभा-सोसाइटियों को अच्छे चरित्रवान् नागरिक पैदा करने का प्रयत्न करना चाहिये, तभी हम अपने राष्ट्र को गौरव का स्थान दिला सकेंगे।

सत्ताईसवाँ पुष्प

यात्रा-स्फूर्ति

उठ बाँध कमर चल यात्रा पर,
है अन्धकार पथ दूर घना;
तेरा साथी वह है ईश्वर,
निज जीवन मित्र पवित्र बना।

* * *

तेरे पथ में हैं बाधायें,
हिम्मत से पग आगे रखना;
पूरी होंगी सब आशायें,
निज जीवन परम पवित्र बना।

* * *

दुर्गम पर्वत नद नालों में,
घनघोर तिमिर से मत डरना;
वह रक्षक है सब कालों में,
निज जीवन मित्र पवित्र बना।

* * *

कुछ करते हैं तेरी हाँसी,
कुछ प्रेम करें प्रिय वचन सुना;

तू होकर ईश्वर-विश्वासी,
निज जीवन परम पवित्र बना।
* * *

कुछ निन्दा चुगली हैं करते,
कुछ द्वेष करें कुछ करें घृणा;
तू पीठ फेर ले इन सब से,
निज जीवन मित्र पवित्र बना।
* * *

यह दुनिया रंग विरंगी है,
निर्भर इस पर तू मत रहना,
तू चंगा तो यह चंगी है,
निज जीवन परम पवित्र बना।
* * *

तू निर्जन मैदानों में भी,
निर्भय होकर आगे बढ़ना;
वह दूर करेगा कष्ट सभी,
निज जीवन मित्र पवित्र बना।
* * *

इस कर्मयोग के मारग में,
नित ओ३म् नाम का जप करना;
है 'देव' सफल होना जग में,
तो जीवन परम पवित्र बना।

ज्ञान के उद्यान में

बाग़ की बहार

एकांग का पाठ नहीं पढ़ाती, सर्वांगिणी संस्कृति भारती है;
ब्रह्माण्ड सौन्दर्य्य विभिन्नता में, जो एकता-पालन मानती है।



जग में पूजा ना मिले, विना घिसाये चाम;
रगड़ रगड़ खाकर बने, पाहन शालिग्राम।

* * *

पर दुख का वन पारखी, जो जी जान जराय;
वह खींचे संसार को, चुम्बक चरित बनाय।

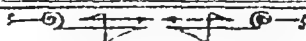
* * *

जीवन-ज्योति जला गया, प्रिय 'यतीन' प्रणवीर;
जिसने माता के लिए, अर्पण किया शरीर।

* * *

राखत नांहि मलीन मन, सज्जन 'देव' उदार;
गुण गहते हैं हंस वन, अवगुण लेत सुधार।

('अनुभव' में से)



अट्ठाईसवाँ पुष्प

लुनेता में हवाखोरी

सन् १९०५ के सितम्बर मास में मैं फिलिपाइन द्वीप-समूह के प्रसिद्ध नगर मनीला में था। धनाभाव से मैं यहाँ पर पैसा कमाने के लिए आया था, क्योंकि मेरा विचार संयुक्त राज्य अमरीका में जाकर विद्याध्ययन करने का था। यहाँ पर मैं कई द्वीपों में घूमा और इधर के प्राकृतिक दृश्यों का खूब आनन्द लिया। अमरीकन लोगों के उदार व्यवहार ने मेरे हृदय पर अच्छा प्रभाव डाला। मनीला नगरी में मैं कई मास तक रहा और एक संस्कृतप्रेमी अमरीकन सज्जन को उपनिषदें पढ़ाता रहा। इन्हीं दिनों मैं नगर के प्रसिद्ध विहार-स्थल लुनेता में सैर के लिए जाया करता था। एक ऐसी ही सैर का वर्णन मैं यहाँ लिखता हूँ।

दिन ढल गया था। सूर्यदेव अपने दिन के कार्य से निश्चिन्त हो धीरे-धीरे पश्चिम दिशा की ओर जा रहे थे। मनीला निवासियों ने उनके गमन से मानो प्रसन्नता प्रकट की और सैरसपाटे के लिए घरों से निकलने लगे। एसकोल्टा के धनी दुकानदारों ने दुकानों के पर्दे उठा दिये और बाहर खड़े होकर ठंडी पवन की प्रतीक्षा करने लगे। वह प्रतीक्षा न थी, मानो आह्वान सुनने के लिए वे लोग इस प्रकार उद्विग्न थे।

आखिर वह आह्वान आया। समुद्रदेव ने अपने शीतल पवन के झकोरों द्वारा मनीला के नर-नारियों, वृद्ध-वनिताओं, निर्धन धनवानों को सप्रेम बुलाया और नगरनिवासी सहर्ष समुद्रदेव के आमन्त्रण की ओर चल खड़े हुए। वह एक सुन्दर दृश्य था। पासिग नदी के पुल पर से होकर समुद्र तट की ओर जाने वाली सड़क के किनारे खड़ा होकर मैं उस दृश्य को देखने लगा।

धनी अमरीकन अपनी-अपनी गाड़ियों में बैठे हुए अपनी प्रियाओं के

साथ सपाटे भरे जा रहे थे। अमरीकन सिपाही खाकी जीन की वरदियाँ पहिने अपने मित्रों के साथ हँसते-खेलते सड़क के एक किनारे चल रहे थे। मोटे-मोटे धनी चीनी लोग इक्कों में सवार होकर समुद्र तट पर सैर करने चले थे। हलके-फुलके जापानी तथा सैलानी फिलीपीनो भी नये कालर-टाई लगाकर अकड़ते जा रहे थे। पंजाबी सिक्ख भी किसी से कम न थे। इनकी पोशाक अजीब थी। किसी की पतलून बड़ी, किसी का कोट छोटा, किसी के बटन टूटे हुए, पर सभी अंग्रेजी सूट पहिने सैर करने चले थे।

मैं भी उनके साथ-साथ हो लिया। दिल में सोचता जाता था कि आज नई और पुरानी दुनिया की सृष्टि के बन्दरों को देखने का अच्छा अवसर हाथ लगेगा।

× × ×

शहर से क़रीब डेढ़ मील के फासले पर 'लुनेता' नाम का स्थान है। वह समुद्र के किनारे है। यहाँ घास के बड़े lawns (क्षेत्र) हैं, जिनके मध्य में एक ऊँचे चबूतरे पर खुला सुन्दर चौदरा बना हुआ है। यहाँ सन्ध्या के समय बैंड बजा करता है और मनीलानिवासी सन्ध्या का आनन्द लूटने यहीं आते हैं।

यहीं पर आज भी नित्य के अनुसार लोग सैर करने आये थे। मेरे लिए यह दिन अपनी क़िस्म का नया था, क्योंकि भारतवर्ष में तो गौरांग प्रभु अपने क्रीड़ालयों में किसी 'नेटिव' को फटकने नहीं देते और प्राकृतिक दृश्यों के भोक्ता केवल अपने आप ही को समझते थे। इसलिए मुझे यह जानने की बड़ी उत्कण्ठा थी कि नई दुनिया के श्वेतांग सज्जन फिलीपाइन लोगों के प्रति कैसा व्यवहार करते हैं। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि हम लोग तो योरुपियनों की भाँति आर्य-सन्तान हैं; विद्या, शिक्षा, बुद्धि और सभ्यता में योरुप के कान कतरते हैं; तिस पर भी कई अंग्रेज शासक हमारे साथ बहुत बुरा सलूक करते थे। इन बेचारे फिलीपीनों पर कैसी गुज़रती है, अमरीकन इन 'नेटिवों' के साथ कैसा बर्ताव करते

हैं, यह बात जानने के लिए मैं बड़ा उत्सुक था।

लुनेता पहुँच कर मैंने देखा कि क़रीब सभी देशों के लोग वहाँ विद्यमान हैं। चीनी, जापानी, भारतीय, अरबी, तुर्की, स्विस, स्पेनिश, अंग्रेज़, जर्मन, अमरीकन, नीग्रो (हब्शी) सभी नमूने की मूर्तियाँ वहाँ देखने में आईं। इससे प्रतीत होता था कि मनीला एक अच्छा सर्वमिश्रित (Cosmopolitan) नगर है। यहाँ सभी मिले बैठे थे। भारत जैसी 'महापुरुषता' देखने में नहीं आई। अपने यहाँ तो प्रायः जहाँ अंग्रेज़ खेला करते हैं, वहाँ एक पहरेदार खड़ा रहता है, जो काले 'नेटिवों' को निकट नहीं आने देता, ताकि साहब के रंग में भंग न पड़ जावे। परन्तु यहाँ यह बात नहीं थी। एक ही बेंच पर अमरीकन, फिलीपीन और चीनी बैठे देखने में आये। कोई भेदभाव नहीं था। अमरीकन लेडियाँ फिलिपीनों के साथ हँस-हँस कर बातें करती थीं। बैंड वाले चबूतरे के इर्दगिर्द सभी लोग—क्या फिलीपीनो, क्या नीग्रो, क्या जापानी, क्या सिक्ख—खड़े बाजा सुन रहे थे। कोई किसी को नहीं कहता था—"तुम मुझे सलाम करो; हाँ हजूर, हाँ हजूर, हाँ हजूर कहो"। सभी अपने मन के राजा थे। जहाँ चाहते बैठते, जहाँ चाहते जाते, कोई किसी की आज़ादी में विघ्न नहीं डालता था।

इस दृश्य ने मेरे दिल पर बहुत अच्छा प्रभाव डाला। समुद्र के किनारे घूम-घूम कर मैं अपने मन से बातें करने लगा।

'पीद्रो' नाम के एक फ़िलीपीनी सज्जन से मनीला लाइब्रेरी में मेरी भेंट हुई थी। मैं बहुधा पुस्तकावलोकनार्थ वहाँ जाया करता था। कोई लम्बी-चौड़ी वाकफ़ियत उससे मेरी न थी, खाली साहब-सलामत दो-चार दफ़े हुई थी।

जब मैं समुद्र के किनारे टहल रहा था तो किसी ने मेरे पीछे आकर मुझे छुआ। मैंने घूम कर देखा तो 'पीद्रो' खड़ा है। उसने हँस-कर मुझे कहा—

"सीन्योर[1] का मिजाज़ कैसा है ?"

"बड़ा अच्छा मिजाज़ है मेरा। कहिए आप कैसे हैं ?"

"देखिये, खूब मोटा-ताज़ा हो रहा हूँ।"

मैंने भी उसके साथ क़हक़हा लगाया, क्योंकि पीद्रो एक बहुत ही दुबला-पतला आदमी था, पर था हँसोड़। थोड़ी देर बाद फिर उसने पूछा--

"सीन्योर क्या सोच रहे थे ? मैं सीन्योर को आध घण्टे से यहाँ टहलता देख रहा हूँ।"

यह तो मेरे मतलब का प्रश्न था, क्योंकि अब एक 'नेटिव' मिल गया था जिससे उस विषय पर और बहुत कुछ पूछ सकता था। सो मैंने पीद्रो से कहा--

"आइये, वहां घास पर बैठ कर वार्त्तालाप करें।" घास पर जाकर हम लोग बैठ गये। मैंने पीद्रो से पूछा--"अमरीकन लोगों को यहाँ वाले कैसा समझते हैं ?"

"अच्छा ख्याल करते हैं। स्पेनिश लोगों से अमरीकन बहुत अच्छे हैं।"

"आप लोगों को उनसे कोई शिकायत तो नहीं ?"

मेरे इस प्रश्न पर पीद्रो ज़रा मुस्कराया और बोला--

"इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है।"

मैं ज़रा हैरानी से--"क्यों, मुश्किल क्यों ?"

"देखिए, अमरीकन लोग अच्छे हैं, स्पेनिश लोगों की तरह ज़ुल्म नहीं करते। हमारे लिए स्कूल खोल रहे हैं। हम लोगों को हमारे क़ौमी गीत सिखाते हैं। पुलिस तथा अदालत का इन्तज़ाम अच्छा है। यह सब

---

1 फिलीपीनों की भाषा में लाला, बाबू अथवा मिस्टर के स्थान पर 'सीन्योर' बोलते हैं।

कुछ है, लेकिन यह कहना कि हम लोगों को उनसे कोई शिकायत नहीं है (सिर हिलाकर) ठीक नहीं है।"

इससे मेरी हैरानी और भी बढ़ गई और मैंने ज़रा सरगरमी से पूछा—

"तो आप लोग और क्या चाहते हैं? आप लोग आनन्द से अमरीकनों की तरह रहते हैं। वे लोग यहाँ वालों से कोई नफ़रत नहीं करते, जैसा कि मेरे देश में है।"

"अच्छा, तो आप अपने मुल्क से मुक़ाबला करके पूछते हैं। हाँ, हिन्दुस्तान वालों से हम लोग कई दर्जे अच्छी हालत में हैं।"

"तो फिर और शिकायत क्या है?"

पीद्रो इस पर हँसा और धीरे से मेरे कान में कहा—

"हम लोग अपना मुल्क अपने हाथ में लेना चाहते हैं। हमारी तिजारत कभी नहीं बढ़ सकती जब तक हमारी अपनी गवर्नमेंट न होगी।"

मैं भी ज़रा धीरे से—

"तो क्या अमरीकन गवर्नमेंट आप लोगों की तिजारत को नुक्सान पहुँचा रही है?"

"अमरीकन गवर्नमेंट सबसे पहले अपने मुल्क का फ़ायदा देखती है, बाद में हमारा। वह अपना नुक्सान करके हमारा फ़ायदा कर ही नहीं सकती। उनकी टेरिफवाली (तिजारत के माल पर कर लगाने वाली) पालिसी से हमारा लाखों का नुक्सान हो रहा है।"

मैंने दिल में सोचा कि एक ही सिद्धान्त सर्वत्र काम कर रहा है। ख़ैर, पीद्रो तो अद्योस (नमस्कार) कर मुझ से विदा हुआ पर मैं अपने विचारों में ही पड़ा रहा।

उन्तीसवाँ पुष्प

नई दुनिया से पुरानी दुनिया में

यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका के पूर्वीय भाग में मसचूसटस नाम की प्रसिद्ध रियासत है। यह अपनी विद्या, बुद्धि तथा धन के लिए सारी नई दुनिया में प्रख्यात है। बोस्टन इस रियासत का सबसे प्रधान नगर है। सच पूछिये तो यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका की यह नाक है। विद्या तथा संस्कृति का यह केन्द्र है; वाणिज्य कारोबार में भी यह बहुत बढ़ा चढ़ा हुआ है।

सन् १९११ के अप्रैल महीने में मैं बोस्टन पहुँचा। क्योंकि मेरे पास भारतवर्ष लौटने के लिए काफी रुपया नहीं था, इसलिये मैंने यहीं से किसी स्टीमर में नौकरी कर मानचेस्टर पहुँचने की ठानी। बोस्टन से मानचेस्टर साढ़े तीन हज़ार मील की दूरी पर है और अच्छे स्टीमर प्रायः छः दिन में यह यात्रा कर लेते हैं। मगर मुझको जाना था नौकरी करके—और वह भी ऐसे जहाज़ पर जिसमें पशु लदते हों—इसलिए अधिक दिनों का लग जाना स्वाभाविक ही था।

मेरे एक भारतीय बन्धु डाक्टर राय बोस्टन में रहते थे। आप बड़े सज्जन पुरुष थे और भारतीय छात्रों की सहायता करने में त्रुटि नहीं करते थे। इनकी सिफ़ारिश से मानचेस्टर की ओर जाने वाले आईबेरियन जहाज़ पर मुझे नौकरी मिल गई। काम क्या था? बैलों की सेवा करना।

१३ मई को प्रातःकाल अपने देशबन्धु शर्मण को साथ लेकर मैं कम्पनी के घाट पर पहुँचा। जहाज के चलने में अभी चार-पाँच घण्टे की देरी थी। अपने असबाब को एक कोने में धर, मैं उसके पास एक लकड़ी पर बैठ गया। शर्मण कुछ काम के लिए कम्पनी के दफ्तर में चला गया था। एक गोरे खलासी ने जब मुझे बैठे देखा तो निकट आकर बोला—

"तुम कहाँ जाओगे ?"

"मानचेस्टर जाऊँगा।"

"इसी आइवेरियन पर ?"

"हाँ।"

"तुम्हारे पास रुपया है ?"

मैं उसकी धूर्तता समझ गया। मैंने कहा—"रुपया होता तो पशु-स्टीमर पर नौकरी करने आता ?"

"कुछ तो रुपया ज़रूर ही होगा। देखो, मैं इस जहाज़ पर 'वास'[1] हूँ। मैं तुमको आसान काम दूँगा। तुम मुझे एक डालर शराव के लिए दो।"

मैंने मन-ही-मन कहा—ऐसी चालाकियाँ किसी और को दिखाना, मैं ये सब बातें पढ़ा हुआ हूँ। (प्रकट में)—"जाइये, अपना रास्ता देखिये।"

इतने में शर्मण आ गया और उसने मुझे हिन्दी में कहा—"मुझे पौण्ड के डालर लेने हैं। कहाँ से लाऊँ ?"

वह गोरा तुरन्त समझ गया कि कुछ रुपये की बातचीत हो रही है। वह शर्मण को सम्बोधित करके बोला—

"आपको क्या चाहिये ?"

शर्मण बिल्कुल 'नन्हा' था। झट बोल उठा—"मुझे पौण्ड के डालर चाहियें।"

गोरे खलासी ने फौरन हाथ पसार कर कहा—"लाओ, मैं शराव की दुकान से अभी ला देता हूँ।"

शर्मण उसके हाथ में पौण्ड देने ही लगा था कि मैंने उसे पकड़ा और हिन्दी में फटकार कर कहा—

"तुम भी बड़े मूर्ख हो, शर्मण ! तीन साल तुमको अमेरिका में आये

---

[1] वास कुलियों के सरदार तथा जमादार को कहते हैं।

हुए होगए, पर अभी तक उल्लू-वसन्त ही रहे।"

मेरे ऐसा करने पर गोरा जल-भुन कर खाक होगया, पर कर क्या सकता था ? यदि वह कुछ बोलता तो हम उसकी वह पूजा करते कि वह सारी उम्र याद रखता। अपना-सा मुंह ले वह वहाँ से चलता बना।

इसी समय डाक्टर राय भी आ गये थे। उन्होंने जहाज के बावर्ची से मेरे खान-पान के विषय में कह दिया और ताकीद कर दी कि खाना अच्छा मिले। डाक्टर महोदय का इस कम्पनी से कुछ सम्बन्ध था, उनकी बात सब कोई मानते थे।

शर्मण और डाक्टर महाशय तो मुझे 'गुड बाई' कहकर चले गये और मैं अपने साथियों की देख-रेख करने लगा। बहुत से अमेरिकन लड़के इस जहाज़ पर नौकरी करने आये थे। एक हट्टा-कट्टा हब्शी भी भर्ती हुआ था। जो आदमी भर्ती कर नौकरी देता था, वह पाँच-पाँच डालर प्रत्येक से दक्षिणा भी लेता था। जब मेरी बारी दफ्तर जाने की आई और भर्ती करने वाले ने मेरा नाम पूछा तो मैंने अपना नाम 'साम डेविस' बतलाया। शुद्ध नाम न बतलाने के कई कारण थे। उनमें से एक यह भी था कि गोरे लोग हिन्दू नाम का अण्ड-बण्ड उच्चारण करते हैं और मुझे दस-बारह दिन खलासियों में रहना था—किसी प्रकार की हँसाई न हो, इसलिये मैंने अपना शुद्ध नाम नहीं बतलाया।

अब दक्षिणा की बारी आई। वह मुझसे भी पाँच डालर माँगने लगा। मैंने देने से इन्कार कर कहा—"यदि डालर लेने हैं तो डाक्टर राय से लेना।" बहुत-सी मीठी बातें कर वह मुझे रिझाने लगा, पर मुझे तो 'होबो' लोगों की हवा लग चुकी थी; ऐसे-ऐसे हथकण्डे मेरे देखे हुए थे। निदान वह चुपका हो रहा।

बारह बजे के बाद स्टीमर ने सीटी दी और यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका की स्वतन्त्र भूमि को मैंने सप्रेम प्रणाम किया। उस समय कैसे भाव हृदय में थे ! यद्यपि मैं अपनी मातृभूमि की ओर जा रहा था; भारत पहुँचने के लिए मैं बड़ा ही उत्सुक था, पर नई दुनिया छोड़ते समय

मुझे दुःख अवश्य हुआ। नई दुनिया ने मुझको वह शिक्षा दी जो मुझे अपने देश में कदापि न मिल सकती थी। नई दुनिया ने मुझे मनुष्यत्व के पाठ पढ़ाये थे; नई दुनिया ने मुझे स्वतन्त्रता का मजा चखाया था—वह मजा जिसका आनन्द चखे विना हरगिज़ मिल नहीं सकता। ओ यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका ! मैं अवश्य तेरा ऋणी हूँ। तेरी स्वतंत्र भूमि ने मुझे ऐसी अमूल्य शिक्षायें दी हैं जिनका उल्लेख मेरी लेखनी नहीं कर सकती। तेरे विश्वविद्यालयों में रहकर मैंने ऐसे-ऐसे महात्माओं का सत्संग किया है जो मनुष्य-समाज के रत्न हैं। यद्यपि तेरे चरणों में रहकर मैंने वड़े-वड़े कष्ट उठाये, पर उन कष्टों ने मुझे वड़ा लाभ पहुँचाया। तू मेरी सरस्वती है; तू मेरी अध्यापिका है। तूने जो सन्देशा मुझे दिया है, मैं उसको अपने देशवासियों तक पहुँचाने का यत्न करूँगा।

नई दुनिया को छोड़ते समय मुझे दुःख अवश्य हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं। जव स्टीमर ने पुरानी दुनिया की ओर मुँह किया, तो मैंने सोचा कि क्या जिस उद्देश्य के लिए मैं नई दुनिया में गया था, जिसके लिए इतना कष्ट मैंने सहा, जिसके लिए कुलियों की तरह जीवन व्यतीत किया, क्या वह कार्य सफलता को प्राप्त हुआ है ? ऐसे-ऐसे प्रश्न मेरे हृदय में उठते थे। मन को शान्ति थी; आत्मा कहता था—"तेरा परिश्रम व्यर्थ नहीं गया। तैंने जो उद्योग किये, कष्ट सहे, वे फल लाये हैं—फल लायेंगे। उनका परिणाम वहुत अच्छा होगा।"

नई दुनिया को आखिरी प्रणाम कर मैं अपने काम में लग गया। जहाज़ के वावर्ची से भेंट हुई। वह मेरा नाम जानता था। डाक्टर राय ने इसको मेरा नाम वतला दिया था। उसने मुझसे कहा कि कुछ दक्षिणा मिलनी चाहिए। मैंने उसको दो डालर निकालकर दे दिये और मेरे लिए उसने वैष्णवी भोजन का प्रवन्ध कर दिया।

अव काम की सुनिये। मुझे अपनी ड्यूटी का कुछ भी पता नहीं था। जव भोजन कर चुका, तो काम की सीटी वजी और सव खलासी

जहाज के निचले भाग में उतर गए। मैं भी उनके पीछे-पीछे, मैले कपड़े पहने, डेक से नीचे उतरा। नीचे दुर्गन्ध, वदवू ! क्योंकि वैलों का गोवर इकट्ठा होगया था, हमीं लोगों ने उसको साफ करना था। अपने-अपने काम पर सव लग गए। एक तरफ के वैलों की रखवाली का भार मुझे और मेरे छः साथियों को मिला और दूसरे भाग का काम इतने ही और खलासियों के हिस्से में आया। वाकी जो रह गये थे उनको भेड़ों की रक्षा सौंपी गई और काम शुरू हुआ।

घास के गट्ठों को खोलकर वैलों के आगे डालने लगे। इसमें हमारे तीन घण्टे लग गये। इसके वाद सव लोग ऊपर डेक पर काम करने चले गये। यहाँ की वहार का क्या कहना ! नीले आकाश की आभा, समुद्र देवता की शान्त मूर्ति और स्टीमर का उस पर तैरना—क्या कहना ! यह ऐसा आनन्द है जो समुद्रयात्रा किए विना नहीं मिल सकता। जव तक वाहर निकलकर समुद्र देवता के दर्शन न किये जायँ तव तक इसका अनुभव नहीं हो सकता। जव वोस्टन की खाड़ी में से निकले तो फिर काम की घण्टी वजी और हम लोग नीचे भागे।

नीचे आकर पहले वैलों के आगे पड़ी हुई घास को वाहर निकाल नांद को साफ किया। उस वची हुई घास को वैलों के नीचे डाल दिया, ताकि वे गोवर में लतपत न हों और इनके नीचे की जगह सूखी रहे। इसके वाद फिर मकई उनके आगे डाली गई और हम लोगों ने छुट्टी पाई।

अव भोजन का समय होगया। रात का खाना खाकर फिर नीचे काम पर आये और नांद को साफ कर दिया। वाहर का स्थान झाड़-वुहार दिया। अव काम खत्म हुआ। सोने के कमरे में दो-दो आदमियों के लिए ऊपर-नीचे लकड़ी के सोने लायक लम्वे तख्ते लगे हुए थे। इस प्रकार वारह आदमियों के सोने का प्रवन्ध था। अपने-अपने कम्वल ओढ़ कर हम लोग सो रहे।

मई १४ : प्रातःकाल साढ़े तीन वजे खलासियों का जमादार सम्राट्

की भाँति पहुँचा। वह एक लम्बा-चौड़ा भद्दा नीग्रो बूचड़ था। सोने वालों को इसका जगाना बहुत बुरा मालूम हुआ, पर क्या करते ? आखिर उठे। सबसे पहले बैलों को जल पिलाना था। बैल बेचारे सारी रात के प्यासे पानी की तरफ अपनी जीभें लपकाते थे। हम लोगों के हाथों से डोलों को छीनते थे। एक ओर से पानी पिलाना आरम्भ किया। ढाई घण्टे के बाद पानी पिलाने से निपटे।

जलपान का समय होगया। जलपान करने के बाद थोड़ी देर ठहर कर फिर काम पर लग गये। घास के गट्ठों को नीचे से ऊपर खींचना था। यह सब काम मशीन के द्वारा होता था, परन्तु पकड़-धकड़ तो हम लोगों को करनी पड़ती थी। जहाँ-जहाँ गट्ठों की आवश्यकता होती थी, वहाँ-वहाँ उनको बाँटकर रखते थे। दो एक जगह, तीन दूसरी जगह, इस प्रकार दिन-भर में हमारी पार्टी के हिस्से में १५ गट्ठे आते थे। घास के गट्ठे निकाल चुकने के बाद मकई के बोरे निकाले। दस बोरे हमारी तरफ के बैलों के हिस्से में आये। हम लोगों ने बैलों के आगे मकई डाल दी और अपने काम से निवृत्त होकर ऊपर धूप सेकने चले गये। थोड़ी देर बाद खाने की घण्टी बजी।

खाने के बाद दो-तीन घण्टे की छुट्टी हम लोगों को मिली। अपनी रुचि के अनुसार खलासियों ने छुट्टी का समय बिताया।

तीन बजे फिर ड्यूटी पर गये। बैलों को घास डाला। इसमें दो घण्टे के करीब लग गए। एक घण्टा आराम किया। भोजन के पश्चात् फिर थोड़ी देर नांदों को झाड़ने-बुहारने में लग गये। एक घण्टा इसमें खर्च होगया—इसके बाद छुट्टी। सब मिलाकर कुल नौ-दस घण्टे हम लोग काम करते थे।

मई १५ : बोस्टन से जो अमरीकन मज़दूर इस स्टीमर पर काम करने के लिए आये थे, उनमें एक हब्शी भी था। मेरी पहले ही दिन से उसके साथ मित्रता होगई। वह बड़ा हृष्ट-पुष्ट, सुडौल बदन और हँस-मुख था। सब गोरे मज़दूर उससे डरते थे। किसी की हिम्मत नहीं पड़ती

थी कि उसे कुछ कहे। अंग्रेजी का अच्छा कवि होने के अतिरिक्त उसमें कई-एक गुण थे—हाथ-देखना (रमल), दूसरे का चेहरा देखकर उसके मन की बात जान लेना, ताश की सभी चालाकियाँ, मुक्केवाजी, कुश्ती इत्यादि कई बातों का वह पण्डित था। जब कभी कोई गोरा मुझे कुछ कहता तो वह हब्शी फौरन उससे लड़ने को मुस्तैद हो जाता था।

आज फुरसत के समय हम पाँच-चार जने ऊपर डेक पर बैठे धूप सेक रहे थे। बातें होने लगीं। बातों-बातों में मेरा गोरों से झगड़ा हो गया, क्योंकि उन्होंने मेरे प्यारे देश के विरुद्ध अपशब्द कहे थे। लड़ाई होने ही वाली थी कि मेरे हब्शी मित्र को पता लग गया। वह भागा-भागा ऊपर आया और आते ही गर्ज कर बोला—

"खबरदार! कोई मेरे साथी को हाथ न लगाए, नहीं तो मारे मुक्कों के खोपड़ी तोड़ दूँगा। तुम लोग इसको अकेला समझते होगे। याद रखो, यह अकेला नहीं है, इसके साथ में भी हूँ।"

भला उसके सामने कौन दम मार सकता था? उसकी काली-काली भयावनी आँखें देखकर सब काँप गये। झगड़ा ठण्डा होगया और हम सब नीचे काम करने चले गए।

मई १६ से १९ तक—समुद्र क्षुब्ध रहा। बड़ी कठिनता से ड्यूटी भुगताई। बैल बेचारे कष्ट में रहे।

मई २०: जमादारों का सरदार जो एक नीग्रो बूचड़ था, आज उसकी मेरी झपट हो गई। मेरे साथी मजदूर गार्डर्ड ने बड़ी सहायता की। जमादार के सभी बखिलाफ़ थे, क्योंकि वह मजदूरों से अच्छा सलूक नहीं करता था। एक बात मैंने बड़ी अच्छी देखी। दुष्ट जमादार के विरुद्ध जब कोई बात होती, तो गोरे-काले सभी मजदूर एकता कर लेते। आपस में उनका चाहे कितना ही झगड़ा होता, पर जहाँ वे अन्यायी जमादार को किसी मजदूर के साथ जुल्म करते देखते, फ़ौरन सब के सब उस पर टूट पड़ते थे।

सचमुच यह बात बड़े मार्के की है। भारत में इसी के अभाव से सब काम चौंपट हो रहे हैं।

मई २१ और २२ : समुद्रदेव बड़े प्रसन्न हैं। उनकी धूप बड़ी प्यारी लगती है। शान्त जल में स्टीमर किस नजाकत से चलता है ! दो दिन बड़े आनन्द से कटे। काम तो वही करना पड़ता था, परन्तु प्रकृति का सौन्दर्य उस सब थकान को अपने जादू की छड़ी से दूर कर देता था। आज खबर मिली कि कल सवेरे आयरलैण्ड की वीरभूमि का किनारा दिखाई देगा। सभी बड़े प्रसन्न हैं। रात को हब्शी मजदूर ने ताश के खेल दिखला कर सबका मन बहलाया। बड़ी देर तक धार्मिक विषयों की चर्चा होती रही।

मई २३—आज प्रातःकाल वीरप्रसवा आयरलैण्ड भूमि के दर्शन हुए। हमारे बायें हाथ दूर काली लकीर दिखाई देती थी। यही आयरलैण्ड था। पथ-प्रदर्शक बोट (Pilot) भी आ पहुँचा। वह हमारे स्टीमर को लिवरपूल की ओर ले जा रहा था। पक्षियों के झुण्ड हमारा स्वागत करने के लिए चले आ रहे थे। आज बदली हो जाने के कारण सर्दी विशेष थी। मल्लाह लोग काम में लगे हुए थे। उनको मरने की फुरसत नहीं थी।

मई २४ : वह देखो वेल्स की पहाड़ियाँ ! लिवरपूल के डाक्स भी दिखाई देने लगे। जहाजों के बनने की आवाज़ आ रही थी। बरकनहेड में बड़े-बड़े जहाज़ बनते हैं। किस कदर फैक्टरियाँ, मिलें होंगी ! इन्हीं की बदौलत इंगलैण्ड महान है, धनी है।

आज दिन-भर काम में लगे रहे। बिल्कुल छुट्टी नहीं मिली। रात को निश्चिन्त होकर सो रहे। जानते थे कि कल इस कारावास से निकलेंगे—कल मानचेस्टर ज़रूर पहुँच जायेंगे।

मई २५ : मानचेस्टर की ओर जाने के लिए एक नहर बनाई गई है। उसी नहर में से होकर सब जहाज़ मानचेस्टर पहुँचते हैं। दोनों ओर इंगलैण्ड के ग्रामीणों के ओलतीनुमा एकमंज़िले, दोमंज़िले पक्के मकान दिखाई देते थे। कई स्थानों पर नहर के साथ सड़कें चली गई हैं,

उन पर घूमने वाले हम लोगों के साथ बातें भी करते जाते थे । ये लोग बड़े स्वतन्त्रताप्रिय मालूम होते थे । हरी-हरी घास दूर तक दिखाई देती है । कई घरों की चिमनियों में से धूआँ उठ रहा था । धूप भी आज बड़े मजे की थी। इंगलिश दृश्यों को देखते जाते थे । आज काम थोड़ा था ।

एक स्थान पर पहुँचकर स्टीमर खड़ा होगया । बैल और भेड़ों के ग्राहक बूचर यमराजों की भाँति स्टीमर पर आये । सब पशु खोल दिये गये। उनको किनारे पर उतार दिया। दीन पशुओं की करुणाभरी आवाजों ने मेरी आँखों में आँसू आ गये। मैं ज़ार-ज़ार रो रहा था—मगर चुपचाप। मनुष्य कैसा स्वार्थी है ! स्वार्थ का गुलाम मनुष्य, मनुष्य का शत्रु बन जाता है; फिर भला इन बेचारे ग़रीब पशुओं की कौन कहे ! संसार में अभी सभ्यता नहीं फैली । सभ्य कहलाने वाले अव्वल दर्जे के असभ्य हैं, जंगली हैं । उनकी आदतें जंगली जानवरों की भाँति हैं ।

बूचर अपने-अपने पशुओं को गिनकर ले गये । हमारा जहाज़ मानचेस्टर डेक की ओर चला । १२ बजे स्टीमर अपने स्थान पर पहुँच गया । हम सबने स्नान कर नये कपड़े पहने । खूब बन-ठनकर स्टीमर से निकले। जिसको जिधर जाना था, वह उधर चला। मैं अपने अँग्रेज़ साथी गार्डर्ड तथा अमरीकन दोस्त क्लार्क के साथ मानचेस्टर में घुसा । मेरे हब्शी मित्र ने दूसरी जगह जाना था; उसका साथ न हो सका ।

मानचेस्टर से मैं और मेरा मित्र क्लार्क, दोनों पैदल लन्दन की ओर चल पड़े। ऋतु अत्यन्त सुहावना था । इस वर्ष गर्मी ज़ल्दी शुरू होगई थी और वर्षा का भी कहीं पता न था, इस कारण हम दोनों को पैदल यात्रा करने में कुछ कठिनाई नहीं हुई । लन्दन की ओर जाने वाली सड़कें बहुत सुन्दर बनी हुई हैं, जहाँ यात्री निर्भयतापूर्वक पैदल भ्रमण कर सकता है । बंगलेनुमा मकानों को देखते हुए, हरी-हरी घास के मैदानों में विचरते हुए हम जा रहे थे । कई रातें हमने वनस्थलों में पेड़ों के नीचे गुज़ारीं । कुछ सर्दी नहीं लगी । न्यू केसल की ओर जाते हुए हमें कुछ

'होवो' भी मिले; तब मुझे पता लगा कि इंगलैण्ड भी सड़क-निवासी जन्तुओं से खाली नहीं है। इनमें से कई अधेड़ उम्र के थे और कुछ नौ-जवान पट्ठे भी। वे प्रायः घास के कुप्पों के पास रातें काट देते थे। जब हमें किसी गाँव के पास रात हो जाती थी तो प्रायः यह देखने में आता था कि वहाँ के शराबखाने पियक्कड़ों से भरे रहते थे, जहाँ ग्रामीण नर-नारी खूब विहार करते थे। हम दोनों किसी पेड़ के नीचे बैठकर किसी विशाल कमरे में होने वाली रंगरलियों को देखा करते। बिजली की रोशनी से वे कमरे जगमगाते थे। इंगलैण्ड के लोग पारस्परिक व्यवहार में बड़े सुसंस्कृत देखने में आए। कई बार ग्रामों में भोजन खरीदने के लिए जब मुझे जाना पड़ा तो इन लोगों ने मेरे साथ बड़ा शिष्ट व्यवहार किया। इस प्रकार इंगलैण्ड के ग्राम्य-जीवन का कुछ दिन आनन्द लेकर मैं ऑक्सफोर्ड पहुँच गया और वहाँ से रेल द्वारा लन्दन में। मेरे मित्र मिस्टर क्लार्क लन्दन में नौकरी की तलाश करने लगे और मैंने अपने भारतीय बन्धु मिस्टर बेन्कर की सलाह से शेपहर्ड बुश में मकान किराये पर ले लिया।

तीसवाँ पुष्प

योरुप में मेरा प्रथम पर्यटन

वर्तमान युग में योरुप संसार का ज्ञानोद्यान है। यहीं के फूल पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में ले जाकर लगाये गए और उनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रदेशों में सौरभ-प्रसार हुआ। संयुक्त राज्य अमरीका में बसे हुए लोग योरुप से ही गये थे। इसी प्रकार कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा अन्य सब उपनिवेश योरुपीय उद्योग, सभ्यता और संस्कृति के बल से आज धन-धान्यपूरित हो रहे हैं। आधुनिक जापान भी योरुप का ऋणी है ओर उसी से उसने यह सब ज्ञानविभूति पाई है। योरुप की पुरुषार्थी जातियाँ अपने अदम्य उत्साह से सारी पृथ्वी पर अपनी संस्कृति का झण्डा लेकर पहुँची हैं और जहाँ गई हैं वहीं उनकी ज़बर्दस्त छाप दिखलाई देती है। मैं अपना विद्याध्ययन समाप्त कर सन् १९११ के मई मास के अन्तिम सप्ताह ऐसे योरुप में पहुँचा था। उस समय किसी को स्वप्न में भी ध्यान नहीं था कि सवा तीन वर्षों के बाद इसी योरुप में महाभयंकर प्रलयकारी युद्ध प्रारम्भ हो जायेगा। उस समय यहाँ पर अत्यन्त शान्ति विराज रही थी। इंग्लिस्तान अपने सम्राट् पंजम जार्ज के सिंहासनारूढ़ होने का महोत्सव मनाने की तैयारियाँ कर रहा था; फ्रांस अपनी मौज-बहार में मस्त था; जर्मनी का कैसर विलियम अपनी शक्तिशालिनी प्रजा पर निर्भय राज्य करता हुआ नये क्षेत्रों की खोज में लगा हुआ था और बेचारे बेल्जियम को अपनी आने वाली मुसीबत का कुछ भी ज्ञान न था। ईश्वर की अजब लीला है! भविष्य रहस्यों से परिपूर्ण है। काल बड़ा मसखरा है। वह सब की खिल्ली उड़ाकर मुंह चिढ़ाता रहता है।

इंगलैण्ड का अपना पैदल भ्रमण समाप्त कर मैं लन्दन में आकर ठहर

गया। लाला हरदयाल जी ने मुझे एक परिचयदायक पत्र भी श्री वेन्कर जी के नाम दिया था, जिसके कारण मुझे वहाँ रहने और घूमने में बड़ी सुविधा होगई। जबलपुर के श्री ज्ञानचन्द्र जी बैरिस्टर इन दिनों यहीं थे; उनका भी मुझे सहयोग मिला। एक स्वतन्त्र कमरा किराये लेकर ब्रिटिश-साम्राज्य की इस सुविख्यात राजधानी में मैं विचरने लगा।

यों तो संसार में बहुत से बड़े-बड़े नगर हैं, किन्तु लन्दन की अपनी खास विशेषतायें हैं। इसकी सबसे प्रधान विशेषता इसका हाइड पार्क नामक उद्यान है, जिसमें हर समय चहल-पहल रहती है। आप और कहीं न जायें, सिर्फ हाइड पार्क में घूमें, बैठें। बस इतना ही आपके लिए काफ़ी मनोरंजन है। अनुभव-प्राप्ति के लिए यहाँ भरपूर सामग्री मिलती है। संसार के सभी देशों के नागरिक आपको इस बाग़ में मिलेंगे। इसके सघन कुंजों में न जाने किस-किस मस्ताने ने विहार किया है और कैसे-कैसे षड्यन्त्र इसकी सुन्दर स्थलियों में बैठकर रचे गए होंगे। प्रेमी-प्रेमिकाओं का तो यह ख़ास अड्डा है। दुनिया के किसी बाग़ में प्रेमियों को ऐसी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती जैसी यहाँ मिलती है। सायेदार वृक्षों के नीचे पड़ी हुई बैंचें यदि किसी प्रकार बोल सकें तो वे अद्भुत रहस्यों का उद्घाटन कर सकती हैं, किन्तु वे मूक हैं, इसलिए युवक और युवतियाँ इन मूक पदार्थों से बड़ी मुहब्बत करते हैं और इन्हें अपना सच्चा मित्र समझकर इनसे कोई बात छिपाते नहीं।

ज्ञान-प्राप्ति के लिए तो यह पार्क सचमुच एक ईश्वर-दत्त साधन है। मुफ्त में बड़े-विद्वानों के आख्यान, उनका रोचक वार्तालाप, धार्मिक वादविवाद और कवियों के दरबार यहाँ देखने में आते हैं। सन्ध्या के समय आप नित्यप्रति ज्ञान-चर्चा और सत्संग के जमघट पायेंगे। एक स्थान पर नहीं, अलग-अलग जगहों में जुदा-जुदा विचारों के लोग अपना अखाड़ा जमाते हैं। कोई नास्तिक है और अपनी धुन में सारी दुनिया के लोगों को नास्तिकता के घाट उतारना चाहता है। रोमन कैथो-

लिक मिशनरी अपने लैक्चर झाड़ते हैं, प्रोटेस्टेन्ट पादरी लोगों को अपनी ओर खेंचते हैं। सोशलिस्टों का कैम्प अलग ही पड़ा है, वह पूंजीवाद की हत्या करने पर उतारू हैं। कोई मजदूर नेता अपने हक़ों के लिए पार्लियामेन्ट को कोसता हुआ सुनाई देता है। कहीं कोई इस्लाम का प्रेमी दो, चार, दस आदमियों में बैठा हुआ अपना जी बहला रहा है। इस प्रकार एक ही समय में एक ही दिन अपनी-अपनी धुन के पक्के प्रचारक लन्दन के इस मशहूर बाग़ में अपनी-अपनी तान उड़ाते हुए दिखाई देते हैं।

लन्दन में मैं थोड़े ही दिन रहा। एक दिन भारतीय मित्रों से मिलने के लिए क्रामवेल रोड पर चला गया। वहाँ से लौटते हुए मैं हाइड पार्क सैर करने गया। पार्क के दक्षिणी द्वार से जब मैंने भीतर प्रवेश किया तो बहुत-से स्त्री-पुरुषों को सघन वृक्षों के नीचे बैठे हुए देखा। यहाँ बैण्ड बज रहा था और सब नागरिक उसका आनन्द ले रहे थे। मैं आगे बढ़ गया। कुछ बुड्ढे लोग घास पर बैठे गुनगुना रहे थे। वे धार्मिक श्रद्धा-युक्त हावभावों से दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करने का उद्योग कर रहे थे, किन्तु न जाने क्यों यहाँ के सैलानी इनसे इतने उपराम थे! आठ-दस दर्शक इनसे कुछ फ़ासले पर खड़े हुए इन्हें निहार रहे थे, मानो इनसे भय खाते हों। इसी प्रकार एक दूसरा 'झक्की' खड़ा हुआ गला फाड़-फाड़ कर कुछ कह रहा था, जिसे सुन कर लोग हँसते थे और उसे पागल बनाते थे। मैं इस तमाशे में मशगूल था कि इतने में मेरे कानों में कुछ शोरोगुल सुनाई पड़ा। कौतूहलवश मैंने अपनी दृष्टि उधर दौड़ाई। देखता क्या हूँ कि एक मौलवी साहब शरई पाजामा पहरे, सिर पर पगड़ी बाँधे और लम्बा तुर्रा लटकाये बाँके-टेढ़े बने हुए अपने दो अंग्रेज़ साथियों के साथ चले आ रहे हैं। खासी भीड़ उनके पीछे लगी हुई थी, जिससे पता चलता था कि लन्दन के लोगों के लिए हिन्दुस्तानी मौलवी की पोशाक एक अजूबे की चीज़ थी। जो कोई उस हुल्लड़ को सुनता वह उधर ही लपकता और मौलवी साहब के पीछे हो लेता।

"क्या बात है ?" मेरे मुंह से यह वेइख्तियार निकला और मैं भी उस ओर बढ़ा। मैं तो चूंकि अमरीका से आया था, योरुपीय पोशाक में था, अच्छी अंग्रेज़ी बोलता था, इसलिए मुझे कोई पहचान नहीं सकता था। मैं उन सब में रलमिल गया। लेकिन भारतीय पोशाक में ये मौलवी ब्रिटिश साम्राज्य की इस प्रधान नगरी में कौतुक की वस्तु बन गए थे। भारतवर्ष को अंग्रेज़ी शासन के नीचे आये एक शताब्दी हो चुकी थी, लेकिन तिस पर भी अंग्रेज़ी जनता को हिंदुस्तानी वेशभूषा के विषय में बिल्कुल अनभिज्ञता थी, वह उनके लिए कौतूहल की चीज़ थी। ख़ैर, मैं भी इस तमाशे को देखने के लिए भीड़ के साथ हो लिया। मग़रिब की नमाज का समय होगया था। मियां मौलवी उस मज़हबी फ़र्ज़ को अदा करने के लिए एकांत तलाश कर रहे थे, पर यहाँ वह कहाँ ! आखिर उनके साथियों ने घास के एक टुकड़े की ओर इशारा कर उन्हें नमाज़ पढ़ने के लिए कहा और वे स्वयं पास पड़ी हुई बेंच पर बैठ गये। मग़रिब की नमाज़ के लिए मौलवी साहब को मशरिक की ओर मुंह करना पड़ा, क्योंकि जो हिंदुस्तान में मग़रिब है वह लंदन में मशरिक बन जाता है। भाग्य का फेर ही तो है। जब यह मेरे भारतीय बंधु नमाज़ पढ़ने के लिए घुटने जोड़कर बैठे तो भीड़ इन्हें घेर कर खड़ी होगई। नमाज़ उनके लिए एक नई चीज़ थी। गिर्जे में जाकर खुदा की पूजा करना, इसे तो वे समझ सकते थे, लेकिन खुले मैदान में बैठना, उठना, झुकना, खड़ा होना और मत्था टेकना इस प्रकार का क़वायदी ढंग, ईश्वरीय पूजा, उनके लिए मनोरंजन की वस्तु होगई। ऐसा मनोरंजन इन लोगों को सरकसों और थियेटरों में पैसा खर्च करने पर मिलता है, भला वे यह मुफ्त की चीज़ क्यों छोड़ते ! मौलवी साहब जब आंखें खोलते, तो ख़ुदा की बजाय भीड़ अर्थात 'शैतान' को सामने खड़ा हुआ पाते। इनके लिए नमाज़ पढ़ना मुश्किल होगया। बेचारे बेग़ार पूरा कर, जल्दी-जल्दी रस्म अदा कर, खड़े होगए और अपने अंग्रेज़ मित्रों से बोले—

"तोबा ! तोबा !! यहां तो नमाज़ पढ़ना भी आफ़त है।"

इनके साथी हँसने लगे। एक ने कहा—"लंदन के लोगों ने कभी किसी को नमाज़ पढ़ते हुए नहीं देखा। उनके लिए यह नई चीज़ है। एक तो आपकी पोशाक बिल्कुल अजीब और दूसरे खुदा की परस्तिश (पूजा) का ढंग निराला; इसलिए ये लोग तमाशा देखने के लिए आए हैं।"

मौलवी साहब ने खफ़ा होकर विरोध के लहजे में कहा—

"इतनी मुद्दत से अंग्रेज़ लोग हिंदुस्तान पर हकूमत करते हैं, क्या वे मुसलमानों की पोशाक और उनकी नमाज़ से नावाकिफ़ हैं? खुदा का यह मज़हब इस्लाम, क्या यहां के बाशिंदे इससे ऐसे उम्मी (अनभिज्ञ) हैं?"

उनके साथी मुस्कराकर बोले—

"इस साठ लाख की आबादी के शहर में बहुत ही कम ऐसे अंग्रेज़ निकलेंगे जिन्हें हिंदुस्तान से वाकफ़ीयत हो। फिर यह तो लंदन ठहरा! यहां तो योरुप के दूसरे मुल्कों—फ्रांस, जर्मनी, इटली, डेनमार्क, हॉलैण्ड आदि—के लोग हज़ारों की तादाद में आते रहते हैं। वे बेचारे हिंदुस्तानियों की बाबत क्या जानें!"

तीनों जने जिधर से आए थे, उधर ही लौट चले और दर्शकों का समूह उनके पीछे-पीछे हो लिया। मैं अपनी धुन में आगे बढ़ा।

'Votes For Women' ये शब्द मेरे कान में पड़े। मेरी बड़ी इच्छा ऐसे व्याख्यानों को सुनने की थी। इसलिए मैं उधर ही चला। निकट पहुँच कर मैंने एक ऊँचे छकड़े पर तीन स्त्रियां देखीं—दो स्टूलों पर बैठी हुई थीं और एक खड़ी व्याख्यान दे रही थी। एक झण्डा उनके पास था, जिस पर "Votes For Women" मोटे अक्षरों में लिखा हुआ था। व्याख्यानदात्री स्त्री कोई पैंतीस वर्ष की होगी, पर थी बड़ी निपुण। उसने बड़े कौशल से स्त्रियों के अधिकारों की चर्चा की और युक्तियों द्वारा सिद्ध कर दिखलाया कि स्त्रियों को राज्याधिकार दिये बिना कभी इङ्गलिस्तान का कल्याण नहीं हो सकता। श्रोताओं ने बहुत से प्रश्न किये, जिनका बड़ी योग्यता से समाधान किया गया।

यह दृश्य मेरे लिए बड़ा शिक्षाप्रद था। भारत में तो स्त्रियों को साधारण अधिकारों से भी वंचित किया जाता है और वे अबलायें सब कुछ चुपचाप सहन कर लेती हैं। वे तो जानती ही नहीं कि अधिकार किसका नाम है। उनको तो घर में रोटी पकाने के सिवाय दूसरा ज्ञान ही नहीं। ऐसी अवस्था में हमारी स्त्रियों का इङ्गलिस्तान की स्त्रियों से भला मुक़ाबिला क्या! इङ्गलिश स्त्रियों के व्याख्यान सुन कर मैं बड़ा ही प्रसन्न हुआ, क्योंकि संसार के किसी देश की जागृति अपना असर दूसरे देशों पर डाले बग़ैर नहीं रह सकती। आज रेल, स्टीमर, तार तथा अखबारों का ज़माना है। इस ज़माने में कैसी भी जागृति हो, उसका प्रभाव दूसरे देशों के समाज पर पड़े बिना नहीं रह सकता और भिन्न-भिन्न देश अपनी-अपनी योग्यतानुसार उससे हानि-लाभ उठाते हैं।

ऐसे विचारों में मग्न मैं वहां खड़ा था। उस स्त्री का व्याख्यान अब ख़तम हो चुका था। मैंने उस व्याख्यानदात्री रमणी के पास जाकर कई-एक प्रश्न किए और उसके साथ टहलता-टहलता थोड़ी दूर तक चला गया।

इङ्गलिस्तान में यह समय ज़बर्दस्त नारी-आंदोलन का था। देवी पैन्कहर्स्ट स्त्रियों के सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए कमर कसकर खड़ी हुई थीं। इङ्गलिस्तान में इस समय तक स्त्रियों को 'वोट' देने का हक़ नहीं था। देवी पैन्कहर्स्ट ने स्त्रियों के सामाजिक और राजनीतिक संघ की स्थापना की और सन् १९०८ में उन्हें औरतों को भड़काने और विद्रोही बनाने के अपराध में तीन महीने का कारावास हुआ था; सन् १९१२ में इन्हें नौ महीने का जेलदण्ड हुआ, लेकिन शीघ्र छोड़ दी गई थीं। इस प्रकार के वातावरण में मैं नई दुनिया से लौटकर लंदन में पहुँचा था। हाइड पार्क ऐसे क्रांतिकारी आंदोलनों का अड्डा रहा है। यह भाषण-स्वतंत्रता और विचार-स्वातन्त्र्य का केंद्र है। संसार भर के विद्रोही, क्रांतिकारी, आतङ्कवादी, नास्तिक और सत्यज्ञान-प्रेमी लंदन के इस उद्यान में आकर अपने दिल के फफोले फोड़ते हैं और

उन्हें ऐसी आजादी देने वाले इङ्गलिस्तान की जय मनाते हैं।

उत्तरी दरवाजे पर दृश्य और ही प्रकार का था। यहाँ थोड़े-थोड़े फासले पर व्याख्यानदाता सज्जन अपना-अपना राग अलाप रहे थे। कोई ईसाई धर्म का खण्डन बड़े जोर-शोर से कर रहा था, कोई रोमन कैथोलिक लोगों के पीछे हाथ धोकर पड़ा था। कोई वैज्ञानिक ढंग से धर्म की व्याख्या सुना रहा था, कोई राजनीतिक उलझनों में उलझ रहा था। अपनी-अपनी धुन में मस्त दीवाने अपनी-अपनी कह रहे थे। श्रोता भी उनके साथ-साथ करतलध्वनि कर उनको उत्साहित करते जाते थे। बीच-बीच में कोई 'टेक' भी लगा देता और लेक्चरार की दिल्लगी उड़ाकर अपना दिल खुश करता था। पर यह बात रोमन कैथोलिक मत के प्रचारकों के विरोध में ही देखने में आई, या लेबर पार्टी के प्रेमी दूसरे दल वालों की हँसी उड़ाकर व्याख्यानदाता को हैरान करना चाहते थे।

कहीं-कहीं शास्त्रार्थ सुनने में आया। कुछ आदमी घेरा डाले हुए प्रश्नोत्तर का आनन्द ले रहे थे। एक रोमन कैथोलिक नवयुवक अपने प्रोटेस्टेंट विरोधी को आड़े हाथों ले रहा था। वह नवयुवक युक्ति लड़ाने में बड़ा चतुर था और अपने विषय का पण्डित जान पड़ता था। उसकी सहायतार्थ तीन-चार महिलायें भी उसके पास खड़ी थीं। वे उसको हौंसला देती जाती थीं। उस प्रोटेस्टेंट नवयुवक का निर्बल पक्ष देखकर मैंने उस रोमन कैथोलिक युवक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर उससे शास्त्रार्थ की ठानी। पर उस बेचारे ने स्पष्ट तौर पर हिन्दू धर्म से अपनी अनभिज्ञता स्वीकार की और वादविवाद से इन्कार कर दिया।

उनका पीछा छोड़कर मैं दूसरी ओर चल पड़ा, जहाँ बहुत-से मनुष्य खड़े थे। वहाँ भी बहस हो रही थी। ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भिड़े हुए थे। ईश्वरवादी एक फ्राँसीसी नवयुवक था और अनीश्वरवादी था एक चलता-पुरजा अंग्रेज। अंग्रेज नवयुवक ने अपने विरोधी का नाक में दम कर दिया। यह देखकर मैंने फ्राँसीसी युवक की सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझा। मैंने अनीश्वरवादी से पूछा—

"आप ईश्वरसिद्धि के लिए प्रमाण (proof) माँगते हैं; कृपया कहिए, प्रमाण से आपका क्या अभिप्राय है ?"

अनीश्वरवादी ने मेरी ओर घूरकर देखा और बोला—"ईश्वर-वादियों के पास ईश्वर के अस्तित्व का कोई सबूत नहीं है। आप खड़े हैं, आपके अस्तित्व का सबूत मुझे आँखों से मिलता है, छूने से मिलता है। यही मतलब मेरा सबूत से है।"

इस पर मैंने जरा मुस्कराकर कहा—

"अच्छा, तो आप उसी चीज़ को मानते हैं जिसका इन्द्रियों से ज्ञान हो सके।"

"हाँ, जनाब।"

"लेकिन आप कई-एक ऐसी बातों को मानते हैं जिनका ज्ञान आप को तो है पर आप दूसरों को उनका ज्ञान नहीं करा सकते, जब तक कि दूसरा स्वयं उन्हें अनुभव न करे।"

"मसलन ?"

"उदाहरण के तौर पर नींद को ही लीजिये। मैं आपसे पूछता हूँ—नींद क्या चीज़ है ? कृपया मुझे समझाइये और इसके होने का प्रमाण दीजिये।"

अब ईश्वरवादी का चेहरा खिलने लगा। ईश्वर के प्रेमी श्रोतागण भी उत्साहित हुए। अनीश्वरवादी युवक बोला—

"नींद शरीर की एक अवस्था का नाम है। जब काम करते-करते शरीर थक जाता है, तो वह अवस्था उत्पन्न होती है।"

"यह तो ठीक है, लेकिन जब आप सोकर उठते हैं और कहते हैं—'आज हम आनन्द से सोए', बतलाइये, यह आनन्द क्या वस्तु है ? कृपया उसका प्रमाण दीजिये।"

तब अनीश्वरवादी चकराया और बोला—

"इसका ईश्वर के साथ क्या सम्बन्ध है ?"

"जिन लोगों ने ईश्वर को जाना है और उस आनन्द को अनुभव

किया है, वे आपको उसका प्रमाण क्या दे सकते हैं! उस आनन्द को आप तभी जान सकते हैं जब आप उस दशा में खुद पहुँचें। ईश्वर की सत्ता का आनन्द वही जान सकते हैं जो उस दशा को प्राप्त हों।"

"तो क्या आप उसका कुछ भी सबूत नहीं दे सकते ?"

"हम केवल आपको उसके अस्तित्व सम्बन्धी बातें बतला सकते हैं और युक्तियों से समझा सकते हैं, परन्तु उसका ठीक प्रमाण उसे खुद जाने बिना नहीं मिल सकता। उदाहरणार्थ—एक आदमी ने कभी नारंगी नहीं खाई। जिसने खाई है, वह उसका प्रमाण दूसरे आदमी को क्या दे सकता है ? आवश्यक है कि दूसरा मनुष्य भी नारंगी को खावे। तभी उसका उसे ठीक स्वाद मिल सकता है।"

मेरे इस वार्तालाप से श्रोतागण बहुत ही प्रसन्न हुए। ईश्वरवादी नवयुवक के आश्चर्य की तो सीमा न रही। हमारे लिए यह साधारण बातें हैं, पर वह फ़्रांसीसी नवयुवक वार्तालाप के इस ढंग पर लट्टू-सा हो गया। जब अनीश्वरवादी ने मुझ से ईश्वर-ज्ञान का मार्ग पूछा, तो मैंने योगसूत्रों के आशय को लेकर उसका अच्छी प्रकार समाधान कर दिया।

गर्मी आज अधिक थी, इसलिए मैं पानी पीने चला गया। लौट कर आया तो उस फ़्रांसीसी नवयुवक ने मुझे घेर लिया। भाँति-भाँति के प्रश्न किये। भारतीय लोगों को वह अब तक काफिर (Heathens) समझता था। आज उसे पता लगा कि भारत की संस्कृत-विद्या अमूल्य रत्नों का आगार है। उसने बहुत-सी पुस्तकों का नाम तथा मिलने का ठिकाना मुझसे पूछा और अपनी नोट-बुक पर सब कुछ लिख लिया।

सन्ध्या-सुन्दरी के आगमन का समय होगया। वह अपनी काली चादर से सब पदार्थों को ढाँकने लगी। लेकिन मनुष्य निशानाथ की तरह बिजली का लैम्प लेकर इस चादर को उतार देता है और अपने आनन्द को कायम रखने का यत्न करता है। हाइड पार्क में भी बिजली के लैम्प जल गए और निशाचर लोग विहार करने के लिए पार्क में घुसने लगे। मैंने अपने कमरे की ओर जाने का निश्चय किया। मैं इधर-उधर देखता

हुआ पार्क-पथ पर जा रहा था। मेरी निगाह एक नवयुवक पर पड़ी जो मुझे ग़ौर से देख रहा था। मैंने अपनी निगाह फेर ली और पार्क से वाहर निकला। सड़क पर आकर मैं मोटरवस की इंतज़ार में एक नुक्कड़ पर खड़ा होगया। जव पीछे घूमकर देखा तो वह नवयुवक भी मेरे पास खड़ा था। मोटरवस आई और मैंने शेपहर्डवुश का टिकट ले लिया; उस नवयुवक ने भी ऐसा ही किया। अव मैंने उसका नाम-धाम पूछना आवश्यक समझा। पता लगा कि उसका नाम एलवर्ट सिन्क्लेयर था। जव हम शेपहर्डवुश पहुँचे, तो हमारा आपस में खूव परिचय होगया। सिन्क्लेयर ने मुझसे कहा कि वह वड़ा भूखा है और तीन दिन से उसे कोई काम नहीं मिला। मुझे भी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता थी, इसलिए मैंने उससे निवेदन किया कि वह दूसरे दिन से मेरे पास पथ-प्रदर्शक का काम करे। लेकिन उसने गिड़गिड़ाकर कहा—"मैं वड़ा भूखा हूँ।" इस पर मैंने एक शिलिंग निकालकर उसे दे दिया और जल्दी से सीढ़ियों पर चढ़कर तिमंजले में अपने कमरे में जा पहुँचा। विजली की रोशनी से कमरा जगमगा उठा और मैं वैठकर उस नवयुवक की अवस्था पर विचार करने लगा—"लंदन में भूखे नौजवान !"

कुछ दिनों के वाद मैंने पेरिस का टिकट ले लिया। फोक्सटोन से वोलोन तक इंगलिश चैनल स्टीमर द्वारा पार करनी पड़ती है। यद्यपि यह समुद्रयात्रा तो कुछ घंटों की ही होती है, लेकिन होती है वड़ी विकट। समुद्र प्रायः नाराज़ ही रहता है और अपनी भयंकर लहरों से इंगलिश जाति की प्रचण्ड शक्ति का परिचय देता है। मैं पेरिस में पहुँच गया। मुझे रु लाफायट नामक गली में जाना था। जिस विजली की गाड़ी में मैं वैठा हुआ था उसके कंडक्टर से मैंने अँग्रेजी में अपने निर्दिष्ट स्थान पर गाड़ी रोकने के लिए कहा। वह अँग्रेजी समझता नहीं था। मुझे वड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने सोचा—"क्या इतने थोड़े-थोड़े फासले पर योरुप में भाषायें वदल जाती हैं ? संयुक्त राज्य अमेरिका में तो तीन हज़ार मील यात्रा करने के वाद भी भाषा न वदली और मैंने लोगों को भाषा के सूत्र

में बँधे हुए पाया। यहाँ योरुप में इंगलैण्ड और फ़्रांस के बीच में इतना थोड़ा फासला, पर दोनों देशों के लोग एक-दूसरे की ज़बान नहीं समझते।" मेरे लिए यह अचम्भे की बात थी। गाड़ी में बैठे हुए एक सज्जन ने उठकर मेरी सहायता की और जब मेरी गली आ गई तो मुझे धीरे से वहाँ उतार दिया।

पेरिस में इन दिनों भारतीय क्रान्तिकारियों का जमघट था। मैडम कामा, श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा, चट्टोपाध्याय तथा अन्य कई हिन्दुस्तानी यहाँ रहते थे। मेरी इन सबसे मुलाकात हुई और इनकी सभाओं में मैंने बड़े जोशीले, गर्मागर्म व्याख्यान सुने। मुझ पर इन लोगों ने कुछ प्रभाव नहीं डाला, क्योंकि मैं जानता था कि जिस देश के छः फ़ी-सदी लोग मुश्किल से पढ़ना-लिखना जानते हैं और जहाँ ज़रा भी धार्मिक सहनशीलता नहीं है, वहाँ ऐसी गर्म बातें किसी काम नहीं आ सकतीं।

एक दिन अचानक मुझे शर्मण मिल गया—वही शर्मण जो बोस्टन में मुझे आइवेरियन बैल-जहाज़ पर चढ़ा गया था। उसे पेरिस में देखकर मैं बड़ा विस्मित हुआ। बाद में पता लगा कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका और योरुप में खुफ़िया पुलिस का काम करता था। उसने बोस्टन से ही मेरा पीछा किया था। उसे मेरा पेरिस जाने का प्रोग्राम मालूम था, इसलिए वह मेरे सब कार्यों का पता लगाने के लिए मुझसे पहले ही पेरिस पहुँच गया था। उसका पिता कलकत्ते में पुलिस विभाग में किसी बड़े ओहदे पर था। पेरिस में मैं कई दिन रहा और इसके मुख्य-मुख्य स्थानों को घूम-घूमकर देखा।

पेरिस से हम दोनों स्विट्ज़रलैण्ड गए और जगत्प्रसिद्ध जेनेवा नगर के एक होटल में जाकर ठहरे। यहाँ भी शर्मण ने मेरी गति-विधि पर पूरी निगाह रक्खी और जो-जो चिट्ठियाँ मैंने भेजीं, उन सबका पता नोट कर लिया। जेनेवा झील का सौन्दर्य सचमुच अनुपम है। इसके किनारे-किनारे रमणीक विहारस्थल हैं, जहाँ दूर-दूर के घुमक्कड़ आकर नैसर्गिक छटा का मज़ा लेते हैं। अपने मनोहर दृश्यों के लिए यह नगर

संसार-भर में प्रसिद्ध है, इसीलिए दुनिया के धनी-निर्धन इस नगर में खिंचे चले आते हैं। यह प्राकृतिक रत्नों का आगार है। स्वाधीनता के पुजारी यहाँ निर्भय घूमते हैं और मनमाने क्रान्तिकारी ग्रन्थ लिखते हैं। मैं भी इस नगर में कुछ दिन रहा। संयुक्त राज्य अमेरिका में पैदल घूमने वाले इस भारतीय 'होवो' के पास भला इतना पैसा कहाँ था जो जेनेवा में चैन की वंसी वजा सकता! इसलिए वहाँ से जल्दी चल पड़ा और लोज़ेन होता हुआ इटली के प्रसिद्ध वन्दरगाह जिनोआ पहुँचा। यहीं से मैंने भारत लौटना था। जर्मन-कम्पनी के दफ्तर में जाकर मैंने टिकट खरीद लिया और निश्चित तिथि पर जर्मन-स्टीमर में वैठकर इटली से भारत की ओर चला।

वस, योरुप में मेरा प्रथम पर्यटन इतना ही हुआ। मैं जर्मनी न जा सका, क्योंकि मेरे पास पैसा नहीं था। यदि मुझे यह मालूम होता कि मैंने इस योरुप में कई वार लौटकर आना है तो मैं किसी-न-किसी प्रकार जर्मनी देख लेता, क्योंकि सन् १९११ का समृद्धिशाली जर्मनी देखने लायक चीज़ थी। सात करोड़ जर्मन किस प्रेम और श्रद्धा से पितृभूमि को आगे वढ़ा रहे थे, उनकी जंगी ताकत कैसी ज़वर्दस्त थी और उनके नगरों में पुलिस का कैसा कड़ा प्रवन्ध था—सचमुच उस काल के महाप्रतापी और महाभिमानी जर्मन नागरिक निरीक्षण करने योग्य थे। पर भविष्य कौन जान सकता है! अपना विद्यार्थी-जीवन समाप्त कर मुझे इस समय केवल एक ही धुन थी—स्वतन्त्र विचारों का भारत में प्रचार। उसी धुन में मस्त मैं स्टीमर में वैठा हुआ भूमध्यसागर पार कर रहा था।

पाठक, यहां मैंने आपको अपने प्रथम योरुप-पर्यटन की कथा सुनाई है। तव से लेकर आज सन् १९५४ तक, इन ४३ वर्षों में कितना पानी पुलों के नीचे से गुज़र गया है और कितना परिवर्तन संसार में होगया है! जो क्षण निकल जाता है, वह फिर वापिस नहीं आता। धन्य हैं वे जो समय का मूल्य समझकर इसे सार्थक करने का प्रयत्न करते हैं और सदा जीवन-यात्रा में आगे पग वढ़ाते रहते हैं। लेकिन कितने हैं ऐसे?

इकतीसवाँ पुष्प

अल्मोड़ा के शिखर पर

भारतवर्ष अपनी प्राकृतिक शोभा के लिए सारे संसार में प्रख्यात है। उत्तर में हिमालय की मनोहर भूश्री दूर-दूर के यात्रियों को अपनी ओर बुलाती है। आर्यावर्त के सिरताज इसी हिमालय में एक टुकड़ा कुमायूं की पहाड़ियों का है, जिसके तीन जिले---अल्मोड़ा, नैनीताल और गढ़वाल---भारतीय भूगोल में प्रसिद्ध हैं। इनमें से नैनीताल और अल्मोड़ा अपने संयमित ऋतु के कारण अत्यन्त नीरोग प्रदेश माने जाते हैं। सरकार की ओर से क्षय-रोगियों के लिए एक सर्वसाधनसम्पन्न अस्पताल यहाँ पर भुवाली में बना है और अल्मोड़ा में भी प्रत्येक प्रान्त के सैलानी वायु-परिवर्तन के लिए आते हैं।

मेरा तो इन पर्वतों के साथ बड़ा गहरा सम्बंध है। वर्षों तक मैं कुमायूं के जंगलों में विचरने के लिए निरन्तर आता रहा। श्री कैलाशजी की यात्रा करते समय भी मैं अल्मोड़ा के दुर्गम पहाड़ों को लाँघकर हिमालय को पार करता हुआ मानसरोवर पहुँचा था; वहाँ से लौटते समय भी मैंने इन्हीं जिलों की रमणीक वनस्थलियों में रातें बिताईं थीं। इस कारण हिमालय का यह टुकड़ा मुझे अत्यन्त प्यारा है।

यह सन् १९१२ की बात है। मैं पहली बार अल्मोड़ा आया था---सो भी नगरवासियों के अत्यन्त आग्रह पर। अल्मोड़ा नगर के बाहर नारायण तिवाड़ी दीवाल के पास एक छोटे से घर में डेरा लग गया और मैं यहाँ की प्राकृतिक शोभा का लुत्फ़ लेने लगा।

एक दिन प्रातःकालीन कर्मों से निवृत्त होकर मैं सैर को चल पड़ा। सूर्य देवता पहाड़ी के पीछे से झाँक रहे थे। अभी घाटी में उनका दिव्य प्रकाश पहुँचा नहीं था। कुछ शीत होने के कारण मैंने अपना गरम कोट

पहन लिया। छाता बग़ल में दबा मैं बाहर निकला।

मेरा स्थान शहर से दो मील उत्तर की ओर सड़क के किनारे पर था। यही सड़क कैलाश की ओर जाती है। बस, इसी सड़क पर मैं हो लिया। सामने दाहिनी तरफ़ घाटी में इक्के-दुक्के घर, सीढ़ियों जैसे खेत। सड़क के किनारे खड़े होकर घाटी में निगाह दौड़ाइये—घर कैसे छोटे जान पड़ते हैं! दाहिनी तरफ़ बराबर ऊँचाई चली जाती है।

बंगले से आगे की पहाड़ी ईसाई पादरियों ने सम्भाल रक्खी है। इसी पर चढ़ कर मैंने अल्मोड़ा के शिखर से नैसर्गिक दृश्य देखने की ठानी। यह पहाड़ी देवदारु के वृक्षों से लदी हुई थी। पवन देवता इन पादपों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। उनकी सर-सर ध्वनि का सुख लेता हुआ मैं पहाड़ी पर चढ़ गया।

सामने नन्दादेवी के दर्शन हुए। बर्फ से ढकी हुई चोटियाँ सूर्य की रश्मियों के साथ क्रीड़ा कर रही थीं। क्या ही अनुपम छटा थी! भारतवर्ष का यही श्वेतांग द्वारपाल है। नन्दादेवी इसी की पुत्री है। अपने पिता की गोद में आकाश से बातें करती हुई किस अभिमान से देवी चारों ओर निहार रही है, परन्तु बोलती नहीं।

बोलो, देवी बोलो। मैंने क्या अपराध किया है जो मेरे साथ बातें नहीं करती हो? देवी, बतलाओ तो सही, इस मौन साधन का कारण क्या है? हे हिमसुते! तेरे दर्शन से मैं पवित्र होगया हूँ, परन्तु मैं तेरे श्रीमुख से अपने पूर्व महापुरुषों की कीर्ति का कुछ ब्योरा सुनना चाहता हूँ। तैंने तो उनकी स्वतंत्र छटा देखी है। पिता हिमाचल ने तो तुमको आर्य्यों के गौरव की पूरी गाथा सुनाई होगी। बुद्ध के समय का स्वतंत्र भारत तो तुमने भी अच्छी प्रकार देखा होगा। देवी, कृपा करके बतलाओ। मुझे प्राचीन स्वतंत्र भारत की कथा जानने की बड़ी प्रबल इच्छा है।

नन्दादेवी ने चुप्पी साध ली और अश्रु बहाने लगी। उसके इस करुण-क्रन्दन का अभिप्राय मैं समझ गया। मुझ से वह दृश्य देखा न गया और

मैंने बड़ी श्रद्धा से पूज्य हिमालय को नमस्कार कर नीचे घाटी की ओर दृष्टि डाली। अल्मोड़ा के इस शिखर पर से स्याही देवी का घना जंगल दिखाई देता है। नगर के बंगले भी सफेद चमकते हुए भले मालूम पड़ते हैं। पास के पेड़ के नीचे पत्थर पर मैं बैठ गया और शीतल वायु का आनन्द लेने लगा।

"स्वामीजी, नमस्कार।" इन शब्दों ने मुझे चौंका दिया और मैंने जिधर से आवाज़ आई थी उधर ही मुँह फेरा। बागेश्वर से आने वाली सड़क पर दो नवयुवक आ रहे थे और वे जहाँ मैं बैठा था वहीं आकर खड़े होगए। मैंने उन्हें सामने बैठने का इशारा किया। तब एक ने मुझ से पूछा—

"स्वामीजी, हम बागेश्वर से आ रहे हैं। आपका आगमन सुनकर हमारी इच्छा आपके दर्शनों की हुई। हमारे मन में एक बात जानने की बड़ी लालसा है, क्या आप हमें बतलायेंगे?"

मैं उनके मुँह की ओर कुछ देर तक देखता रहा। बड़े विनयी ये लड़के थे। मैंने मुस्कराकर कहा—

"जो बात आप लोग जानना चाहते हैं, उसे शौक़ से पूछिये।"

मेरे शब्दों से उत्साहित होकर उस लड़के ने कहा—

"हम यह जानना चाहते हैं कि ये बड़े-बड़े पहाड़ कैसे बन गये। भूमि समतल होनी चाहिये थी, जहाँ सब प्राणी आसानी से आ-जा सकते। कृपया हमें बतलाइये कि ऐसे बड़े-बड़े दुर्गम पर्वत कैसे बन जाते हैं? इनकी उत्पत्ति कैसे होती है?

मैंने घूमकर फिर नन्दादेवी की ओर देखा। वह अपने सौंदर्य में अद्वितीय जान पड़ती थी। 'इस नन्दा की उत्पत्ति कैसे हुई, लड़के यह जानना चाहते हैं', मैंने मन में कहा। फिर लड़कों की ओर मुँह कर मैंने उत्तर दिया—

"मेरे बच्चो, तुमने मुझ से पदार्थ-विज्ञान की बात पूछी है। स्वतंत्र देशों के स्कूलों में लड़कों को ये सब बातें प्रारम्भिक शिक्षा में ही सिखलाई

जाती हैं। पण्डितों ने ऐसे वैज्ञानिक विषयों पर सरल भाषा में छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु इस देश में पदार्थ-विज्ञान में साधारण जनता की रुचि नहीं। मैं तुम्हारा यह प्रश्न सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। हमें चाहिए कि हम ईश्वर-रचित इन पदार्थों के विषय में बराबर सोचा करें और अन्वेषण किया करें।

"देखो, वर्षा ऋतु में जब बड़ी बाढ़ आती है, नदियाँ उबलने लगती हैं, पर्वतों से जल बड़े वेग से नीचे उतरता है, तब उसकी प्रचण्ड शक्ति से बड़े-बड़े वृक्ष उखड़ जाते हैं। तुमने देखा होगा कि वर्षा में नदियों का पानी बड़ा मटियाला हो जाता है। लाखों मन मिट्टी पानी के द्वारा खिच-खिच कर श्री गंगाजी जैसी महान् नदी में आ जाती है और यह भागीरथी उस सब मिट्टी को ले जाकर सिंधु में गिरा देती है। समुद्र में मिलने वाली सभी नदियों के दहानों पर मिट्टी आकर जम जाती है और छोटे-बड़े द्वीप से बन जाते हैं। नदी के उस रूप को डेल्टा कहते हैं। वहाँ पर उस बड़ी नदी की कई धारायें अलग-अलग होकर समुद्र में गिरती हैं। इस प्रकार पृथ्वी पर बहने वाली सभी नदियाँ महासागर में प्रत्येक वर्ष मिट्टी, पत्थर, रेत, पेड़ आदि गिराती जाती हैं। समुद्र के नीचे इन सबकी तहें जमने लगती हैं। समुद्र का खारा पानी अपने भयंकर बोझ से इन्हें दबाता रहता है। हज़ारों वर्षों तक ऐसी क्रियायें जारी रहती हैं। तब बनते-बनते समुद्र के नीचे पहले पहाड़ियाँ, पीछे विशाल पर्वत-मालायें बन जाती हैं। अटलांटिक महासागर, प्रशांत महासागर और अरब के सागर के नीचे छिपी हुई ऐसी कितनी ही पर्वत-मालायें हैं। अटलांटिक महासागर तो साढ़े सात मील की गहराई रखता है। इसी प्रकार प्रशांत महासागर में सिंधु के अन्दर खनिज-पदार्थों से भरे हुए पहाड़ समाधि लगाये बैठे हैं।

"यदि कल को इन महासागरों में बड़ा भूकम्प आ जाय, अन्दर से ही कोई ज्वालामुखी फूट पड़े तो उसके प्रचण्ड धक्कों से ये समाधिस्थ पर्वत-मालायें बाहर निकल आयेंगी और दूसरी नीचे की भूमि समुद्र की तह में चली जायगी। प्रकृति माता ऐसा परिवर्तन करती रहती है और

नित्य नये द्वीप रचती रहती है। हिमालय भी इसी प्रकार पहले समुद्र के नीचे था और इसकी चोटियों पर समुद्र लहरें मार रहा था। भूकम्प ने इसे बाहर निकाल दिया और संसार का सिरताज बनाकर भारतवर्ष की शोभा बढ़ाई।"

दोनों लड़के आश्चर्य-चकित होकर मेरी बातें सुनते रहे। तब एक ने कहा—

"स्वामीजी महाराज, इसका क्या प्रमाण है?"

मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया—

"मेरे प्यारे, अन्वेषकों ने खोजते-खोजते हिमालय के अन्दर उन सब जन्तुओं की हड्डियां पाई हैं जो समुद्र में निवास करते हैं। उन्हीं की खोज का नतीजा मैंने तुमको बतलाया है। हम लोगों में खोज की आदत नहीं रही, गप्पों पर विश्वास करने का स्वभाव-सा होगया है। हम यही मानते हैं कि पृथ्वी शेषनाग के फण पर खड़ी है या किसी बैल के सींग पर। जब वह बैल थककर अपना सींग बदलता है तो भूकम्प आ जाता है। हमारी अबोध जनता को ऐसी गप्पें सुनाकर मूर्ख लोग ठगते हैं।"

धूप चढ़ गई थी। मैं अपने निवास-स्थान की ओर चला। दोनों नवयुवकों ने अल्मोड़ा शहर की ओर जाना था, सो वे भी मेरे साथ हो लिये और वार्तालाप करते हुए मेरी कुटी तक आये। चलते समय मैंने उनसे पूछा—

"क्या तुम लोगों की तसल्ली होगई? क्या तुम लोग पर्वतों की उत्पत्ति का कारण जान गये?"

मैंने देखा कि वे विनयी लड़के अत्यन्त सन्तुष्ट होकर मुझ से विदा हुए और मेरा चित्त भी आज के वार्त्तालाप से प्रसन्न था।

वत्तीसवाँ पुष्प

पार्टी-पालिटिक्स के पाप

संयुक्त राज्य अमेरिका के शासन-क्षेत्र में दो मुख्य पोलिटिकल पार्टियाँ हैं—रिपब्लिकन और डेमोक्रैट पार्टी। यही दो पार्टियाँ प्रत्येक शासन-चुनाव के मौक़े पर अमेरिका के शासन-भार को सँभालने और सरकारी ओहदों की लूट मचाने के लिए राजनीतिक लड़ाई के मैदान में उतरती हैं। उत्तर, पूर्व, कुछ पश्चिम और कुछ मध्यवर्ती रियासतें रिपब्लिकन टिकट पर वोट देती हैं। सारा दक्षिण और कुछ अन्य रियासतें डेमोक्रैट टिकट का पक्ष लेती हैं। पार्टियों के वोट का वहाँ प्रायः ऐसा ही हाल है जैसा भारत में जात-पाँत का। रिपब्लिकन दादा का पोता रिपब्लिकन ही होता है। कभी-कभी कोई खास ज्वलन्त प्रश्न देश के सामने उपस्थित हो जाने पर वोट देने वाले पार्टियाँ वदल भी लेते हैं। अमेरिका के पूंजीप्रधान देश होने के कारण साम्यवादी पार्टी अपना जोर पकड़ने में असमर्थ है।

इन पार्टियों के प्रवन्धकों, संगठनकर्त्ताओं, चौवरियों तथा गुर्गों को राजनैतिक चौवरी (Political Bosses) कहते हैं। इन्हीं के हाथ में पार्टी की सारी शक्ति रहती है। यही कर्त्ता-धर्ता (King-makers) कहलाते हैं। पेटरिक सुलीवन नाम का एक मशहूर पोलिटिकल गुर्गा एक वार रिपब्लिकन पार्टी का सर्व-सर्वा था। जव उसकी उम्र अस्सी वर्ष की होगई तो उसने राजनीतिक क्षेत्र से छुट्टी ले ली और समुद्र-तटस्थ अपने वंगले में जाकर रहने लगा।

एक रोज संध्या के समय वह अपने घर के चवूतरे पर आरामकुर्सी पर वैठा हुआ समुद्र की ओर देख रहा था। गर्मी की ऋतु थी। सागर-समीर सुखद चाल से चल रहा था। इतने में एक नौकर ने आकर एक

कार्ड सुलीवन के हाथ में दिया। बूढ़े ने चश्मा लगाकर कार्ड देखा—'एडमण्ड एडवर्ड ब्राउन' (Edmund Edward Brown) नाम उस कार्ड पर लिखा था। मालिक का हुक्म पाकर नौकर आगन्तुक को बुला लाया। एक सुन्दर चेहरे वाले नौजवान ने आकर मुस्कराते हुए मिस्टर सुलीवन से हाथ मिलाया। बूढ़े ने उसका हाल पूछा। वह उसके परम मित्र का लाड़ला पुत्र था और राजनीतिक क्षेत्र में उतरने की तैयारी कर रहा था। वह रंगरूट था, इसलिए बड़ी श्रद्धा से अपने बाप के पुराने दोस्त से उपदेश लेने आया था। ब्राउन ने न्यूयार्क के कोलम्बिया विश्वविद्यालय से राजनीतिक विज्ञान में एम० ए० की डिग्री हासिल की थी। वह एक सच्चरित्र सुशील नवयुवक था। कालेज से निकल कर, अध्ययन समाप्त कर, वह योरुप घूमने गया। वहाँ अचानक उसके हाथ में जर्मन भाषा की पुस्तक 'सिद्धार्थ' लग गई। उस पुस्तक ने उस पर विचित्र प्रभाव डाला। विश्वविद्यालय में जर्मन भाषा का पर्याप्त ज्ञान उसने प्राप्त किया था। उस पुस्तक के महापुरुष—महात्मा बुद्ध—के उपदेशों ने उसे मुग्ध कर दिया। वह एक नया आदमी बनकर घर को लौट आया।

योरुप से वह नवम्बर मास में लौटा था। तब से वह अमेरिका की राजनीति का दुबारा अनुशीलन करने लगा। छः महीने उसने मनन और अध्ययन में बिताये। पिता की आज्ञा से वह आज पहली बार मि० सुलीवन से पार्टी-पालिटिक्स का पाठ पढ़ने आया। उसका बाप बड़ा धनी था। नवयुवक ब्राउन के पोलिटिकल-चौधरी हो जाने से उसके पौबारा हो जाते थे, इसीलिए उसने अपने पुत्र को बूढ़े सुलीवन के पास शिक्षार्थ भेजा था।

नवयुवक ब्राउन को देखकर बूढ़ा आयरिश खूब हँसा और बोला—"तो अब तुम पालिटिक्स में पैर रखने के लिए कमर कस चुके हो?"

नवयुवक—"जी हाँ।"

बूढ़ा—"बड़ी अच्छी बात है। यह धंधा सब धंधों से कमाऊ है। इसमें धन और शक्ति (Money & Power) दोनों मिलेंगे। वे भी

बड़ी आसानी से।"

नवयुवक ने कुछ विस्मित होकर पूछा—"बड़ी आसानी से कैसे?"

बूढ़ा, ब्राउन की हैरानी देख कर, खिलखिला कर हँसने लगा। उसके सोने के दाँत चमकते हुए दिखाई दिये। वह ब्राउन की तरफ़ कुछ देर तक देखता रहा। फिर कहने लगा—

"मैं दस वर्ष की उम्र में आयर्लैण्ड से अपने बाप के साथ अमेरिका आया था। मने सब क़िस्म के धंधों में हाथ लगाया, लेकिन पालिटिक्स जैसा सहज आमदनी वाला धंधा कोई नहीं देखा। इसमें ज़बान की करामात तथा शतरंज के दाव-पेच हैं। बस, उनसे रुपया और ताक़त दोनों मिलते हैं।"

नवयुवक ने उत्सुकता से फिर पूछा—"कैसे?"

बूढ़ा—कैसे? देखो! पहले तुम यह खूब समझ लो कि जनता तथा वोटर्स (राय देने वाले) को चकमा देने, मौका देख कर पैंतरा बदलने, हवा का रुख समझ कर बात करने और इर्द-गिर्द के छोटे-छोटे कुत्तों को माल चटाने पर पार्टी-पालिटिक्स के सारे खेल का दारोमदार है। पब्लिक के सामने खूब उनके हितों का राग गाना, अपने आपको बड़ा स्वार्थत्यागी बन कर दिखलाना और भौंकने वाले बक्की आदमियों को पैसा चटा कर क़ाबू में रखना, ये पार्टी-पालिटिक्स की ए बी सी डी (वर्णमाला) है। विरोधी गालियाँ दें तो आप चुप रहें, पर विरोधी पर झूठे आरोपों का तूफ़ान लाद दें।"

नवयुवक—(हैरानी से) "बिल्कुल झूठी बातें?"

बूढ़ा—"हाँ, बिल्कुल झूठी।"

नवयुवक—"जनता क्या कहेगी? क्या वह बर्खिलाफ न हो जाएगी?"

बूढ़े ने घृणासूचक लहजे में उत्तर दिया—"जनता! जनता बेवकूफ पाजी होती है। वह उसी को वोट देती है जो ज्यादा बक्की, मक्कार और साजिशी होता है।"

नवयुवक—"आखिर लोग पता तो लगायेंगे?"

बूढ़ा—"पता-वता कुछ नहीं लगाते। वे दल बाँध लेते हैं। वे शहरों, क्लबों और अपनी-अपनी सोसाइटियों की नाक रखना चाहते हैं। उन्हें उम्मीदवार की सेवाओं, उसके स्वार्थ-त्याग तथा योग्यता का कुछ ध्यान नहीं रहता। छोटे-छोटे कुत्ते भौंक-भौंक कर बहका देते हैं।"

बूढ़ा समुद्र की ओर देखने लगा और नवयुवक बूढ़े की तरफ़। कुछ देर तक सन्नाटा रहा। फिर मि० सुलीवन ने कहना शुरू किया—

"देखा लड़के! पार्टी पालिटिक्स सारा धूर्तता का खेल है। जनता की याददाश्त बड़ी छोटी होती है। वह अपने पुराने देश-भक्तों को भूल जाती है और छटे हुए पैंतरेबाज़, ज़बान के तर्रार उम्मीदवार के पीछे लग जाती है। मगर उस उम्मीदवार के मददगार छोटे कुत्ते होने चाहियें।"

नवयुवक—"ये छोटे कुत्ते कौन?"

बूढ़ा हँसकर बोला—"छोटे कुत्ते नहीं जानते? अरे नादान, छोटे कुत्ते ही तो चुनाव की जान होते हैं। ये वे लोग होते हैं जिनका ईमान पैसा होता है, जिनको प्लेटफ़ार्म पर जोर जोर से बकना आता है, जिनकी योग्यता सिर्फ झूठ बोलने, तारीफ़ के पुल बाँधने और देशहित के राग गाने में रहती है। वे जूठे टुकड़ों की तलाश में पोलिटिकल मैदान में इधर से उधर और उधर से इधर घूमा करते हैं। वे 'जहाँ देखें तवा-परात, वहीं गंवावें सारी रात'—इस कहावत पर चलते हैं। जय-जयकार करने में वे बड़े होशियार होते हैं और मुट्ठी गर्म होते ही जय पुकारने लगते हैं। हम लोग इनको पहले क़ाबू कर लेते हैं।"

नवयुवक के हृदय पर गहरी चोट लगी। वह घायल होकर बोला—"तो पार्टी-पालिटिक्स निरी बेईमानी ही है?"

बूढ़े को नौजवान की हालत पर कुछ तरस आगया। उसने ज़रा मीठे लहज़े में फ़रमाया—

"मेरे बेटे, पार्टी-पालिटिक्स में ईमानदारी का कोई काम नहीं; यह सोलह आना बेईमानी का धन्धा है। यह रोज़गार है। गवर्नमेंट की बाग-

डोर हाथ में आने से हम संयुक्त राज्य अमेरिका के मालिक बन जाते हैं। फिर हमारे आदमी ओहदे सँभालते हैं।"

नवयुवक—"पर जनाव, चुनाव तो इसलिए किया जाता है ताकि देश के सच्चे सेवक शासन की वागडोर सँभालें और मुल्क का कल्याण करें।"

बूढ़े ने गम्भीर होकर उत्तर दिया—"तुम्हारा कहना सच है। पर लोग गधे हैं। वे ज़बान के तर्रारों, पैंतरेबाजों और भौंकने वाले कुत्तों के जाल में फँसकर दल बना लेते हैं, ज़िद्द कर लेते हैं। वे देश और जाति का कल्याण भूल जाते हैं। वे अपने अधिकारों के दायित्व का ख्याल नहीं रखते। वे खुशामदी और दग़ावाजों के पीछे चलने लगते हैं।"

नवयुवक—"इससे तो देश की हानि होती है।"

बूढ़े ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह समुद्र की लहरों की ओर देखने लगा। नवयुवक उसकी ओर टकटकी लगाये देख रहा था। थोड़ी देर के बाद बूढ़े ने ब्राउन की ओर मुँह कर कहा—

"लड़के, मैं तेरे दिल का दर्द समझ रहा हूँ। अफ़सोस, मैंने तुम्हें सच्ची बातें बतला दीं। अब तुमसे क्या छिपाना है? मेरा चालीस वर्षों का पोलिटिकल अनुभव है। मैं तुम्हें कह सकता हूँ कि स्वाधीनता और स्वराज्य बड़ी बरकतें हैं, पर चैतन्य और जागरूक जनता के लिए—ऐसी जनता के लिए जो स्वयं सोचना जानती है। नहीं तो सच बात यह है कि स्वाधीनता और स्वराज्य भी बिकाऊ चीजें हैं, जो पार्टी-पालिटिक्स के दलालों के हाथ मक्कारी के भाव बिकती हैं।"

नवयुवक बड़ा बेचैन हुआ। कुछ देर तक वह सन्नाटे में रहा। फिर धीरे से उसने कहा—"आखिर शासन को सर्वोत्तम बनाने का कौन-सा तरीक़ा है? क्या आपने अपने पिछले चालीस-वर्षों के अनुभव में इस महत्वपूर्ण विषय पर कभी विचार नहीं किया?"

बूढ़ा सलीवन कुछ मिनटों तक एकटक ब्राउन के चेहरे की ओर

देखता रहा। उसने अपनी आँखें उसकी आँखों में गड़ा दीं, मानों नवयुवक के हृदय की बात जानने की चेष्टा कर रहा हो। फिर वह मुस्करा कर कहने लगा—"बेटे, यह तुमने बड़ा कठिन प्रश्न किया है। इसे तो तुमने किसी विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर से पूछना था। खैर, मैं अपने अनुभव की बात तुमसे कहता हूँ। जब तक जनता ऐसी शिक्षित न हो जाय कि उम्मीदवार को वोटों की भीख न माँगनी पड़े, तब तक यही अवस्था रहेगी। समाज में कुछ लोग ऐसे सदा रहेंगे जो दूसरों के भोलेपन, उनकी जहालत और उनकी उदासीनता का नाजायज़ फ़ायदा उठावें। वे ईमानदारी से पैसा न कमाकर धूर्तता से ही धन और शक्ति प्राप्त करने का उद्योग करते रहेंगे। शासन को सर्वोत्तम बनाने का तरीक़ा मेरी सम्मति में यह है कि धन में जो ऐश्वर्य और शक्ति ख़रीदने की ताक़त है वह नष्ट कर दी जाये और उसके स्थान पर कोई दूसरी चीज़ समाज में नेता बनने की कसौटी निश्चित हो।"

नवयुवक के हृदय में स्फूर्ति-सी आ गई। उत्साहभरे लहजे में वह बोला—"मैं आपके साथ सहमत हूँ। धन ही विपत्ति का मूल है और इच्छाएँ ही सारे दुःख का कारण हैं। यदि हम इच्छाओं को कम कर सेवा और त्याग को समाज में नेता बनने की कसौटी क़रार देंगे, तो धन का यह विष नष्ट हो जायगा। आप इस पर क्या कहते हैं?"

बूढ़े के चेहरे पर तेज-सा आ गया। उसने उत्तर दिया—"पार्टी-पालिटिक्स के पापों को समूल नष्ट करने का नुस्खा तुमने थोड़े शब्दों में कह दिया है। जब जनता स्वार्थ-त्यागी नेताओं के लिए स्वयं वोट देने को उद्यत हो जाया करेगी, तब पार्टियों का जाल छिन्न-भिन्न हो जायगा और समाज में एक नये युग का प्रारम्भ होगा।"

नवयुवक खड़ा होगया। बूढ़े सुलीवन के साथ उसने बड़ी कृतज्ञता से हाथ मिलाए और धन्यवाद देकर बोला—"आज आपने मुझे बहुमूल्य शिक्षा दी है। अपने वर्षों के अनुभवों का निचोड़ आपने मुझे दे दिया है।"

तेंतीसवाँ पुष्प

गढ़वाल के गिरिशृङ्गों पर

सन् १९३२ के शीतकाल में मैं नई देहली में आ गया था। लाला नारायणदत्तजी ठेकेदार ने मुझे अपने नये बंगले पर एक कमरा रहने के लिए दे दिया और खाने-पीने की सब व्यवस्था कर दी। यहीं पर मैं दो वर्ष तक अपना केन्द्र बनाकर रहा। प्रचार के लिए बाहर जाया तो करता था, किंतु घूमकर फिर यहीं आ जाता था। इसी वर्ष के अप्रैल मास में जब देहली की गर्मी ने मुझे बहुत सताया तो मुझे फिर कुमायूँ की पहाड़ियाँ याद आ गईं और मैंने गढ़वाल जाने का निश्चय किया।

गढ़वाल में यद्यपि मैं पहले भी घूम चुका था, किंतु अब फिर उन पुरानी स्मृतियों को ताज़ा करने की और नये गिरिशृंग देखने की इच्छा हुई। उस पर्यटन में जो कुछ अनुभव मुझे मिले और जैसी ज्ञान-चर्चा हुई, उन सबको चिट्ठियों के रूप में माता कर्मदेवीजी को समर्पित किया गया था। उन्हें अपने प्रेमी पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित करता हूँ। माता कर्मदेवीजी लाला नारायणदत्तजी की धर्मपत्नी हैं। आप बड़ी धर्मात्मा विदुषी स्त्री हैं। मेरे साथ उन्होंने सद्व्यवहार किया, जिसे मैं कभी नहीं भूलूँगा। यह पत्र-व्यवहार उसी कृतज्ञता का चिह्न-स्वरूप है।

पहला पत्र

माता कर्मदेवीजी—सादर नमस्ते।

मेरी आँखों को सूर्य के प्रकाश की चौंध मारती थी, इसीलिए इच्छा न रहने पर भी मुझे नई देहली से भागना पड़ा। १८ अप्रैल की सुबह को जब आपने मुझे घर से विदा किया, तो उस समय तक मुझे अपने प्रोग्राम का कोई निश्चय नहीं था कि मेरा भावी प्रोग्राम

क्या होगा और कहाँ जाकर मैं बैठूंगा। हाँ, कोटद्वार की ओर जाने का इरादा था। सेठजी को आपने मेरे साथ टिकट खरीदने के लिए भेजा था, पर वे ऐसे 'बुद्धिमान्' निकले कि मेरे बार-बार ताकीद करने पर भी उन्होंने मेरा टिकट वाया मुरादाबाद जंकशन जाने के बजाय एक दूसरे नये रास्ते जाने वाली गाड़ी का खरीद दिया। इन्टर के डिब्बे में आज कुछ भी भीड़ न थी। लेकिन स्टेशन पर एक घटना घट गई। देहली कांग्रेस के अधिवेशन में शामिल होने के लिए अकालियों का एक जत्था पंजाब से आया था। पुलिस को उसके आने की सूचना पहले से होने के कारण अधिकारी लोग प्लेटफार्म पर मौजूद थे। जब अकाली उतरे तो उन्हें सुपरिन्टेण्डेंट ने जत्था बना कर शहर जाने से रोका। जत्थेदार ने उपयुक्त उत्तर दिये और हुक्म मानने से इन्कार करने पर पुलिस उन्हें थाने में ले गई।

इस प्रकार का श्रीगणेश मेरी यात्रा के समय हुआ। गाड़ी जमुना के पुल पर से जा रही थी और मेरे मन में तरह-तरह के विचार उठ रहे थे। मैंने मन में कहा—"मैं कैसा अभागा हूँ? देहली में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला है और मैं देहली छोड़ कर पहाड़ की ओर जा रहा हूँ?" इस प्रकार विचारों में निमग्न मैं जा रहा था। तब भी हवा में गर्मी नहीं थी, इसलिए गाड़ी में कुछ तकलीफ नहीं हुई। ३ बजे के बाद गाड़ी मुरादाबाद पहुँची और बाबू गोकुलचन्दजी मुझे स्टेशन पर मिल गये। मेरे आने की सूचना उन्हें पहले से थी, अतएव शाम को व्याख्यान का प्रबन्ध भी आर्य्यसमाज की ओर से किया गया था। बाबू गोकुलचन्दजी आर्य्यसमाज के पुराने भक्त हैं और बड़े सदाचारी सज्जन हैं। मैं उन्हीं के पास ठहरा। सन्ध्या को व्याख्यान हुआ। विषय था—"राष्ट्रों का उत्थान।" व्याख्यान के बाद जनता ने एक रोज और ठहरने का आग्रह किया, जिसे मुझे स्वीकार करना पड़ा। दूसरे रोज व्याख्यान में बड़ी भीड़ हुई।

माताजी, आज के व्याख्यान में मैंने जहाँ और बातें बतलाईं, वहाँ यह भी कहा कि मैं मूर्ति-पूजा का कुछ विरोधी नहीं हूँ, लेकिन चाहता यह हूँ

कि हिन्दू अपने आराध्य देवता का स्वरूप आदर्शमय बनावें। जैसे देवता की कोई पूजा करता है, वैसा ही वह हो जाता है। श्रीराम का आदर्श सब अवतारों में से श्रेष्ठतम है। यदि कोई भक्त अपने सामने मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी का आदर्श रखता है, तो उसका जीवन श्रेष्ठतम हो सकता है। किन्तु मैं यह चाहता हूँ कि हिन्दू अपने मन्दिरों में से उन सब मूर्तियों को निकाल बाहर फेंक दें जो बुरी भावनाओं को देने वाली हैं। मैं लिंग की पूजा का कट्टर विरोधी हूँ। पण्डित लोग भले ही उसका वैज्ञानिक अर्थ लगाएँ, लेकिन निस्सन्देह वह ईश्वर की पूजा का वीभत्स रूप है। इसी प्रकार शृङ्गार रस में डूबे हुए श्रीकृष्णचन्द्र की पूजा का आदर्श भी हिन्दुओं के लिए श्रेयस्कर नहीं है। आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हिन्दू अपने घर का कूड़ा-करकट साफ करें, ताकि वे राष्ट्र का उत्थान भली प्रकार कर सकें।

२० अप्रैल को सवेरे भोजनोपरान्त मैं और बाबू गोकुलचन्दजी नजीबाबाद की ओर रवाना हुए। यद्यपि यह पैसेन्जर गाड़ी थी, पर इसमें इन्टर क्लास का डिब्बा योरुप की गाड़ियों जैसा था। इसमें छोटी-छोटी कोठरियाँ रहती हैं और ६ आदमी मजे से प्रत्येक कोठरी में सो सकते हैं। इस प्रकार के एक कम्पार्टमेंट में एक दूसरे से अलग ५-६ कोठरियाँ रहती हैं, जिनका रास्ता साझा होता है, जिसे अंग्रेजी में कोरीडोर कहते हैं। ऐसी गाड़ी देखकर मैं बड़ा खुश हुआ, क्योंकि अब मुझे दूसरे दर्जे में यात्रा करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इन गाड़ियों में पाखाने भी बड़े ही अच्छे ढंग के बने हुए रहते हैं। यदि रेलवाले ऐसी सब गाड़ियाँ बनवा दें, तो मुसाफिरों को बड़ा सुख हो जाये।

१ बजे के करीब हम नजीबाबाद पहुँचे। गोकुलचन्दजी तो मुझ से छुट्टी लेकर चले गये और मैं स्वयंसेवक के साथ आर्यसमाज मन्दिर में आ गया। भाई बनारसीलाल और सेठ मुत्सद्दीराम ने मेरा सब प्रबन्ध कर दिया। वहाँ मैं तीन रोज रहा। इस बीच में कई चिट्ठियाँ अपने पहाड़-निवासी मित्रों को भिजवाईं। यहाँ "धर्म का स्वरूप" इस विषय पर मैंने

एक व्याख्यान दिया और उसमें इस बात को स्पष्ट किया कि धर्म और सम्प्रदाय में कितना बड़ा अन्तर है। जो लोग धर्म के जिज्ञासु हैं, वे सम्प्रदाय नहीं बनाया करते, क्योंकि सम्प्रदायवाद धर्म और ईश्वर के पथ से हटा कर झगड़ा पैदा करने वाली फैक्टरियाँ बन जाता है। जैसे लोग टेनिस क्लब और महाजन सभायें बनाते हैं, ऐसे ही हज़रत ईसा, हज़रत मुहम्मद और दूसरे महापुरुषों के नाम पर धार्मिक क्लबें बनी हुई हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य अपने मेम्बरों की संख्या बढ़ाना है, न कि उन्हें सच्चरित्र बनाना। मुसलमान लोग कहते हैं कि वे बड़े साम्यवादी हैं, पर उनका साम्यवाद उनके अपने क्लब के मेम्बरों तक ही परिमित है। धर्म के जिज्ञासु ईंटों और पत्थरों की दीवारों को नहीं खड़ा किया करते; उन्हें मन्दिर, मस्जिद और गिर्जे बनाने की ज़रूरत नहीं। उनका मन्दिर उनका अपना शरीर ही है, जिसे वे धार्मिक आभूषणों से सजाते हैं। मस्जिद और गिर्जे धर्म का प्रचार नहीं करते, बल्कि उसे रोकते हैं। अपने बनाये हुए खुदा के घर के लिए ये अज्ञानी लोग खुदा के बन्दों का गला काट लेते हैं और समझते हैं कि वे पुण्य कार्य कर रहे हैं। आज संसार को धर्म का स्वरूप समझाने की बड़ी ज़रूरत है।

२३ अप्रैल को सवेरे की गाड़ी से मैंने पहाड़ की ओर मुँह किया। लाला मुत्सद्दीराम ने अपने भतीजे को मेरे साथ कर दिया, ताकि वह मुझे दुगड्डा तक छोड़ आवे। १० बजे के बाद हम लोग कोटद्वार पहुँचे। धूप बड़ी तेज़ थी। कोटद्वार से लैंसडौन तक मोटरबस जाते हैं। दुगड्डा पहाड़ की मण्डी है। कोटद्वार से यहाँ तक मोटरबस के ८ आने देने पड़े।

दुगड्डा में मैं दो रात रहा—एक रात धर्मशाला में और दूसरी रात डी० ए० वी० स्कूल में। यहाँ पर दो धारायें आती हैं—एक लैंसडौन की ओर से और दूसरी द्वारीखाल की तरफ़ से। दोनों के संगम पर दुगड्डा बसा हुआ है। डी० ए० वी० कालेज लाहौर वालों की ओर से गढ़वाल में शिक्षा का प्रचार करने के लिए स्थान-स्थान पर डी० ए० वी० स्कूल खोले

जा रहे हैं, ताकि हिन्दू बच्चों को अपने देश की संस्कृति का ज्ञान हो। यहाँ दुगड्डे में भी इसी प्रकार का स्कूल है। यहाँ अधिकतर अछूत बच्चे पढ़ते हैं। इन पहाड़ों में जात-पात और छूत-छात का बड़ा जोर है, जिसके कारण बहुत-से हिन्दू ईसाई होगये हैं। सनातनधर्मियों का इन समस्याओं की ओर कुछ ध्यान ही नहीं, क्योंकि उनमें संगठन का अभाव है। केवल आर्यसमाज ही एक ऐसी संस्था है जो अस्पृश्यता के प्रश्न को हल करने का यत्न करती है, परन्तु उसका ढंग बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है, इसलिए द्विजों और अछूतों में लड़ाई-झगड़े खड़े होगये हैं। अगली चिट्ठी में मैं इन बातों पर प्रकाश डालूँगा और लैंसडौन की मनोरंजक बातें भी बताऊँगा।

मंगलाभिलाषी—सत्यदेव।

दूसरा पत्र

माता कर्मदेवीजी—सादर नमस्ते!

आर्यसमाज ने जो सुधार का कार्य पहाड़ों में आरम्भ किया है, वह मेरी सम्मति में ठीक ढंग से नहीं हुआ। चाहिए तो यह था कि आर्यसमाज की ओर से सबसे पहले अछूतों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता और उनका आचार-व्यवहार सुधार कर उन्हें अच्छा नागरिक बनाने की कोशिश की जाती। इन्होंने ऐसा न कर अपनी शुद्धि के ढंग से उन्हें जनेऊ पहिना कर झट द्विज बना डाला। परिणामस्वरूप जगह-जगह लड़ाई-झगड़े शुरू होगए। अब जगह-जगह मुकद्दमे चल रहे हैं और कटुता बढ़ रही है।

मैं दुगड्डा में दो रात रहा। यहाँ का जल-वायु कुछ अच्छा नहीं; हाँ, नजीबाबाद जैसी गर्मी नहीं पड़ती। अछूतों की बस्ती इधर ज्यादा है और उन्हीं की ज़मीन पर डी० ए० वी० स्कूल भी बनाया गया है। मेरी सम्मति में यह स्कूलों का सिलसिला प्रचार का बहुत अच्छा ढंग है। यदि अच्छे अध्यापक अपनी सेवाएँ इन स्कूलों में दे देंगे तो आर्य-संस्कृति का प्रचार इन पहाड़ों में हो जायेगा और हिन्दू बच्चे हिन्दू धर्म से च्युत

न होंगे। पर दुःख की बात यह है कि हम लोग प्रारम्भिक शिक्षा के लिए थर्ड क्लास अध्यापक तलाश करते हैं। यह बड़ी भारी भूल है। किसी मिडलची मास्टर को पकड़ कर बच्चों के स्कूल में पढ़ाने के लिए भेज देना, बच्चों के संस्कार बिगाड़ना है। मुझे विश्वास है कि डी० ए० वी० कालेज लाहौर वाले इस भूल का सुधार करेंगे और योग्य अध्यापक भेज कर इन स्कूलों को चलायेंगे।

हाँ, मैंने आपको दुगड्डा मंडी के विषय में कुछ अधिक नहीं लिखा। दुगड्डा गढ़वाल के विकट स्थानों में माल पहुँचाने का केन्द्र है। यद्यपि यहाँ कोई बड़ा मैदान नहीं, बल्कि स्थान बहुत संकीर्ण है, तो भी नदी के किनारे किनारे दुकानें बढ़ रही हैं और धीरे-धीरे सब प्रकार का माल बिक्री के लिए आने लगा है। गढ़वाल कम उपजाऊ भूमि है। इसमें बड़े ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं। कृषि के लिए ज़मीन की बड़ी कमी है। लोग अत्यन्त अशिक्षित हैं। जब ठीक समय पर वर्षा न हो तो यहाँ फौरन अकाल पड़ने लगता है। अंग्रेज़ी सरकार को यहाँ के गढ़वाली युवक सेना में भर्ती करने के लिए खूब मिल जाते हैं, परन्तु दयालु सरकार गढ़वालियों का अकाल दूर करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं करती। जनता के बारम्बार अपील करने पर भी गाड़ी की सड़क का कुछ भी प्रबंध नहीं। सामान ढोते-ढोते इतना खर्च पड़ जाता है कि मैदान से यहाँ पर चीज़ों का भाव दुगुना हो जाता है।

२५ अप्रेल को सवेरे लैंसडौन जाने का निश्चय होगया और मैं अपना आधा सामान यहाँ छोड़ कर बाकी सामान साथ लेकर मोटरबस में बैठ गया। बस की आगे की सीट पर शुद्ध खद्दर पहने हुए और लकड़ी हाथ में लिये हुए एक अधेड़ उम्र का आदमी बैठा हुआ था। मुझे देखते ही उसने अपनी जगह छोड़ दी और स्वयं पीछे जाकर बैठ गया।

धन्यवाद देकर मैं सवार हुआ और बस लैंसडौन की ओर चली। हम लोग बहुत जल्द लैंसडौन पहुँच गये। बस वाले ने एक-एक रुपया किराये का ले लिया और सवारियों को छावनी से मील भर इधर ही उतार दिया

और जहाँ जिसने कहा वहीं उसका सामान पहुँचाने का वायदा किया। हम सब सदर बाजार में ही जाने वाले थे, अतएव वहां पहुँच कर हमारा सामान हम को मिल गया। भाई मुकुन्दीलाल वैरिस्टर यहीं रहते हैं। उनसे मेरा बड़ा पुराना परिचय है। मैं पहले वहाँ पहुँचा। वैरिस्टर साहब का बंगला अच्छी जगह पर है। यहाँ नहा धोकर जलपान किया।

यहाँ पर कुछ अछूत बन्धु मुकुन्दीलाल जी से परामर्श करने के लिए आये हुए थे और वह खद्दरधारी सज्जन भी इसी अभिप्राय से यहाँ पहुँचे थे। बात यह थी कि अछूतों की बरात को द्विजों ने अपने गाँव में से किसी कारणवश गुजरने से रोक लिया था और बरात सत्याग्रह करने के लिए कई दिन से बीच रास्ते में ही रुकी पड़ी थी। बरात वाले बेचारे निस्सहाय इधर उधर भटक रहे थे।

सरकार ने जिस अधिकारी को मदद के लिए भेजा उसने अपना कर्त्तव्य पालन नहीं किया। अधिकारीवर्ग अधिकतर द्विज हैं, जो ऐसे अवसरों पर समाज-विरोध से डरते हुए अपना कर्त्तव्य पालन करने में सकुचाते हैं। हिन्दू समाज में बड़ी मूर्खता फैली हुई है। अपना सर्वस्व खोकर भी अभी इन सनातनधर्मियों को समझ नहीं आई। वही अछूत जब मुसलमान या ईसाई हो जाता है, तो उसके रास्ते में ये लोग किसी प्रकार का रोड़ा नहीं अटकाते। वैरिस्टर जी ने इन्हें उचित सलाह देकर विदा किया और मेरे ठहरने का प्रबन्ध डाक बंगले में कर दिया। मैं यहाँ चार रोज रहा। डाक बंगला अच्छी जगह पर है और सामने का दृश्य भी मनोहर है। मेरी इच्छा लैंसडौन में २-३ मास रहने की थी, अतएव मैंने मकान की तलाश की। आर्य सज्जन टेकचन्दजी यहाँ सदर बाज़ार में रहते हैं और बड़े ही सहृदय व्यक्ति हैं। आपने मुझे बाज़ार में रहने का आग्रह किया। वे यह कहते थे कि बाजार में स्थान मुफ्त मिल जायेगा और लोग सब तरह से सेवा भी कर सकेंगे। पर मैं जंगल का पक्षी शहर में घोंसला कैसे बनाता! मुझे तो खुली हवा में स्थान चाहिये था। तलाश करते-करते एक छोटी-सी बंगलिया मेरे मन लायक मिली; लेकिन मकानमालिक बड़ा

डरपोक निकला। स्वामी सत्यदेव भयङ्कर राजनीतिक जन्तु है—बस, इसी बात से वह डर गया। मैंने अब राजनीति से किनारा कर लिया है और साहित्यिक जीवन व्यतीत कर रहा हूँ, पर तिस पर भी पुलिसवाले पीछे लगे ही रहते हैं। इसीलिए हमें स्वराज्य की बड़ी आवश्यकता है। मैंने और मेरे मित्रों ने कई जगह मकान तलाश किये, परन्तु सब जगह वही बाधा सामने आई।

अब आगे सुनिये। भाई टेकचंद जी दोनों समय अपने घर से भोजन बनाकर लाते और मेरी जरूरतों का हर तरह ख्याल रखते थे। मुकुंदीलाल जी की बड़ी इच्छा थी कि मैं यहीं रहूँ और मुझे भी लैंसडौन अच्छा लगा। यहाँ मंसूरी जैसा भव्वड़ नहीं और न नैनीताल जैसी नमी ही है। खुश्क जलवायु, हवा अत्यंत नीरोग, रास्ते शांत, घूमने के लिए साफ सड़कें और दोनों ओर दृश्य मनोहर—उत्तर की ओर हिमालय अपनी शान दिखलाता है और दक्षिण की ओर मैदान के दृश्य भी कम रोचक नहीं। ठंडी सड़क पर घूमने से हिमालय की शोभा अत्यंत सोहावनी दीख पड़ती है। दिल चाहता है कि घण्टों देखा करें। पर्वत थोड़े-थोड़े काल में रंग बदलते हैं। कभी धुन्ध छा जाती है, तो कभी बादल अपना प्रभाव जमा लेते हैं। कभी-कभी भगवान् भास्कर अपने तीक्ष्ण शरों से सब उत्पातियों को छिन्न-भिन्न कर अपनी सुनहरी किरणों को शुभ्र हिम पर फेंकते हैं। उस समय का दृश्य लेखनी से चित्रित नहीं किया जा सकता।

लैंसडौन में एक ही मुसीबत है और वह है छावनी की। "तुमने हमें सलाम क्यों नहीं किया?" यह प्रश्न बहुधा यहां के छावनीनिवासी अंग्रेज सड़क पर चलते हुए शिक्षित हिंदुस्तानियों से पूछा करते थे और इसी बहाने भारतीयों को पीटा करते थे। पहले ये घटनायें बहुत होती थीं; परंतु जब से कांग्रेस की कृपा हुई है तब से ऐसी घटनायें बहुत कम हो गई हैं। तो भी कभी-कभी कोई अक्खड़ गोरा ऐसी भूल कर बैठता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शिक्षित प्रजा के हृदय में इस प्रकार की बातों से गहरा असंतोष फैला हुआ है।

एक सन्ध्या को मैं भाई मुकुन्दीलाल जी तथा अन्य प्रेमियों के साथ घूमने के लिए निकला। मुकुन्दीलाल जी तो रास्ते में एक परिचित से वात करने खड़े होगये और हम लोग ज़रा आगे वढ़ कर ठहर गये। इतने में दो अंग्रेज़ पीछे से वातें करते हुए आते दिखाई दिये। वे हम लोगों के पास से निकल गये, पर घूरते हुए घूम-घूम कर वे मुझे देखते थे। जव मुकुन्दीलाल जी आये और मैंने उनसे इस वात का जिक्र किया तो वे हँस कर वोले—"इतना ही अच्छा हुआ कि उन्होंने आपका यहाँ आने का कारण नहीं पूछा और सलाम करने की वात नहीं कही।" मैंने मुस्करा कर उत्तर दिया—"तो अव तक ये लोग वेवकूफों के वहिश्त में रहते हैं। सलामों के दिन दूर चले गये।" इतनी वात से पता चलता है कि छावनियों में भारतीयों का जीवन कैसा दयनीय होता है।

चार दिन के वाद मैंने यहाँ से चलने की तैयारी की। मुकुन्दीलाल जी ने गढ़वाली चित्रकारी के पुराने चित्र मुझे दिखाए। वे इस विपय पर एक लेख हिन्दी में लिख रहे हैं। यहाँ एक और वात मेरे देखने में आई। चलते-चलाते उसका भी जिक्र कर दूं।

यहाँ एक इण्डियन क्लव है। एक संध्या को ऐसे ही मैं भी मुकुन्दीलाल जी के साथ वहाँ चला गया। उनकी कार्रवाई होती रही अंग्रेज़ी भाषा में। मैं चुपचाप मन मसोस कर वैठा रहा। अभी तक हमारे लोगों में अपनी भाषा का अभिमान तक नहीं आया। उनकी वात-वात में दासता का गहरा प्रभाव मालूम होता था। अपनत्व को खो देने से ही जाति का नामोनिशान मिट जाता है। चलते समय मुझसे नहीं रहा गया, सो मैंने कह ही डाला। रास्ते में मैं यही सोचता जाता था कि राजनीतिक गुलामी कैसी भयङ्कर व्याधि है। यह मनुष्य के सभी अच्छे गुणों का शोषण कर लेती है।

मंगलाभिलाषी—सत्यदेव

तीसरा पत्र

माता कर्मदेवीजी—सादर नमस्ते।

मैं द्वारीखाल में हूँ। दुगड्डा यहाँ से बारह मील पर है। यह ५५०० फ़ीट से अधिक ऊँचा है। यहाँ का डाक बंगला एकान्त स्थान पर है। यहाँ चारों ओर से बड़े जोर की हवा पड़ती है। सामने बद्रीनारायण और चौखम्भा की बर्फ से ढकी हुई चोटियाँ कभी-कभी अपनी नैसर्गिक छटा दिखाती हैं। जब उत्तर की हवा चलती है, तो इस मई के महीने में भी यहाँ ठण्डक लगने लगती है। यों तो आजकल ये पहाड़ धुन्ध और बादलों से प्रायः ढके रहते हैं, पर एक दिन सवेरे अत्यन्त प्रभात में, जब सूर्य्य के निकलने की तैयारी हो थी तब, मैंने अपने कमरे की खिड़की से इन पहाड़ों की ओर देखा। अहा! क्या ही सुन्दर दृश्य था! पर्वत बिलकुल स्पष्ट दिखाई देते थे। मैंने सोचा कि शायद मेरी आँख धोखा देती है, इसलिए दूरबीन निकाल कर बाहर बरामदे में आया। सचमुच संगमरमर की चौड़ी शिला की तरह बद्रीनाथ जी की चोटी दीख पड़ती थी और चौखम्भा अपने चार शिखरों के साथ मेरी ओर ताक रहा था। उसके साथ के पर्वत भी हिमाच्छादित थे। ऐसा स्पष्ट दर्शन इन पर्वतों का मुझे मई के महीने में मिल सकेगा, इसकी आशा नहीं थी। परन्तु ऐसे सुहावने दृश्य का आनंद मैं बहुत देर तक न ले सका। बादलों ने अपनी चढ़ाई शुरू कर दी और आकाश में घमासान युद्ध छिड़ गया। बड़े जोरों की वर्षा पड़ने लगी और मैं अपना कम्बल ओढ़कर खटिया पर बैठ गया और लगा खिड़की से वर्षा की बहार देखने।

माता जी, द्वारीखाल अच्छी ठण्डी जगह है और है भी दुगड्डा के नज़दीक ही। यहाँ पर डाकखाना भी है और एक स्कूल भी। इर्द-गिर्द की पहाड़ियों पर चीड़ और बाँस के पेड़ भी हैं। दो चार दुकानें भी हैं, जहां खाद्य पदार्थ मिल जाते हैं, परन्तु मिलते हैं बहुत महंगे। यदि आटा दुगड्डे में दस सेर हो, तो यहाँ साढ़े सात सेर ही मिलता है, क्योंकि

खच्चरों पर लाने का किराया पड़ जाता है। यहाँ का डाक वंगला अच्छे खुले स्थान में होने की वजह से मुझे अच्छा लगा। मेरी टाँग में चोट लग जाने के कारण उसे आराम की भी जरूरत थी, अतएव मैंने यहीं ठहरने का निश्चय कर लिया। अपने नौकर को भेज कर मैंने खाने-पीने का सब सामान मंगवा लिया। भैंस का दूध यहाँ रुपये का पाँच सेर मिलता है और वंगले का १) रोज तो देना ही पड़ता है। यहाँ एक तमाशे की बात होगई। ज़रा उसे भी सुन लीजिये।

यहाँ के पटवारी के पास इस बात का समाचार आया कि गढ़वाल के डिप्टी कमिश्नर मिस्टर ब्राउन अपनी धर्मपत्नी और बच्चों के साथ लैंसडौन से आ रहे हैं। उनकी सास भी उनके साथ थी। उन्हें डाक-वंगले के दोनों कमरों की आवश्यकता थी। पटवारी ने मेरे नौकर से कह दिया कि स्वामीजी यदि दूसरी जगह पर चले जायें तो वड़ा अच्छा हो। भला मैं दूसरी जगह पर कहाँ जाता! मैं मौन वैठा रहा। जिस दिन मि० ब्राउन ने आना था, उस दिन सुबह तीन आदमी मेरे पास आये। उनमें से एक ने कहा कि डिप्टी कमिश्नर साहब ने यह भी हुक्म दिया है कि अगर स्वामीजी दूसरी जगह जाना न पसन्द करें तो उन्हें मत छेड़ना। इसके वाद डेढ़ वजे के क़रीव मि० ब्राउन के मुंशी लोग आये और उन्होंने वंगले के चौकीदार की सहायता से मेरा कमरा खाली करवाना चाहा। भला मैं वहाँ से कैसे टल सकता था! जब चौकीदार ने वंगले के कायदे दिखाकर अपनी वात का वलपूर्वक समर्थन कर कहा कि वंगले में २४ घण्टे से अधिक ठहरने की इजाज़त नहीं है, तो मैंने मुस्करा कर उत्तर दिया—"यह वातें तुम्हें पहले ही कहनी थीं। मुझे यहाँ आये पाँच दिन होने लगे हैं, अब मैं कहीं नहीं जा सकता।" ४ वजे के क़रीव अपने दलवल के साथ मि० ब्राउन आ गये और उन्होंने वंगले के पास की भूमि में अपनी छोलदारी लगा दी। वस, उनका काम भी होगया और मेरा भी। हम दोनों आपस में एक दूसरे से न वोले। वोलते भी कैसे, हम दोनों के वीच वड़ी भारी खाई थी। यदि हम लोग योरुप में होते तो निस्संकोच वातें करते। परन्तु इस अभागे भारत

में इंगलैंड के बच्चों और देशभक्त भारतीयों के मध्य गहरी खाई खुद गई है, जिसके कारण साधारण मनुष्यों जैसा व्यवहार भी आपस में नहीं किया जा सकता। यह बड़े दुःख की बात है।

सवेरे डिप्टी कमिश्नर साहब पौड़ी की ओर चल दिये और लोगों ने तरह-तरह की बातें फैला दीं। किसी ने गप्प उड़ाई कि डिप्टी कमिश्नर साहब स्वामीजी के पास उनके कमरे में गये और धमका कर कमरा छोड़ने के लिए कहा, परन्तु स्वामीजी टस से मस नहीं हुए। इस प्रकार की गप्पें न केवल यहां ही फैलीं, बल्कि पौड़ी तक इनकी धूम मची। हमारे देश में बेकार आदमी सिवाय गप्पें हांकने के दूसरा कार्य नहीं करते। झूठी अफवाहें उड़ाना उनका धन्धा है। नगरों में झूठी अफवाहों के फैलाने से ही हिन्दू-मुसलमानों में दंगे हो जाते हैं। लेकिन झूठे लोग अपनी बुरी आदतों से बाज़ नहीं आते। इस सम्बन्ध में हमारे लोगों को अच्छी शिक्षा की बड़ी ज़रूरत है।

द्वारीखाल से छः मील के फासले पर नीचे डाडामंडी में चोरियों के समाचार सुनाई दे रहे हैं। पहाड़ और चोरी? मैं तो यह सुनकर चकित होगया। पूछने पर पता लगा कि कुछ जुआरिए पठान इधर आये हुए हैं। उन्होंने अपने साथ कुछ पहाड़ियों को गांठा है। इसी प्रकार दल बना कर ये लोग इर्द-गिर्द के गांवों में डाका डालते हैं। जिस देश में प्रजा शस्त्रहीन होती है, वहां कोई भी बदमाश उनकी दुर्गति कर सकता है। अंग्रेजों का सबसे बड़ा पाप यही है कि उन्होंने हमारे हथियार छीन कर हम लोगों को नपुंसक बना दिया है।

गढ़वाल ज़िले के इन्सपैक्टर एक रात यहां बंगले में आकर ठहरे। उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि मैं पौड़ी जाने से पहले एक बार चैलूसेन ज़रूर जाऊं। सो मैं चैलूसेन देखने के लिए डाकबंगले से निकल पड़ा। एक योरुपियन लेडी भी उधर जा रही थी, इसलिए हम दो जने होगये। उस वक्त धूप का समय था, लेकिन हम लोगों को कुछ कष्ट नहीं हुआ। पैदल ही बढ़े चले गये। जब चैलूसेन पहुँचे, तो ईसाई मिशनरियों

के कुछ घर दिखाई दिये, जहाँ किसी समय उनका स्कूल था और आज स्वदेशी स्कूल बन जाने के कारण उनका कार्य बन्द होगया है।

जब हम वहाँ पहुँचे तो एक ईसाई भाई ने हमें प्रेम से पुकारा। हम लोग उसका निमंत्रण पाकर नीचे उतर गये। एक छोटे से बंगले के बरामदे में हम लोग कुर्सियों पर बैठ गये और लगी बातचीत होने।

माताजी, उस ईसाई भाई का नाम मिस्टर पीटर है। पहले आरम्भ में तो उसने मेरी बातों की बड़ी मसखरी उड़ानी चाही, परन्तु बाद में धीरे-धीरे उसके हृदय पर मेरे विचार असर करने लगे। मैंने उससे कहा—"जैसे भारतवर्ष में हिन्दू, मुसलमान दो जातियाँ अलग-अलग रहकर आपस में लड़ती हैं, ऐसे ही विदेशी ईसाई मिशनरियों की यह इच्छा है कि इस देश में एक तीसरा दल और खड़ा कर दें, जिससे भारतवर्ष सदा फूट की व्याधि से ग्रस्त रहे। अगर उनकी ऐसी इच्छा न होती तो वे इस देश के बच्चों को ईसाई बनाकर विदेशी वेष-भूषा, विदेशी भाषा, विदेशी संगीत और विदेशी आदर्शों में न पालते। हम हिन्दू लोग सब धर्मों को मान की दृष्टि से देखते हैं, हमारा उनसे कोई द्वेष नहीं, परन्तु हमें दुःख इस बात का है कि एक विदेशी मज़हब हमारे बच्चों को अराष्ट्रीय अर्थात् राष्ट्र-विरोधी बना देता है। भला आप ही सोचिये कि अमेरिका के मेथोडिस्ट चर्च वालों को भारतवर्ष में खरीदी हुई भूमि और मकानों को अमेरिकनों के नाम करवाने की क्या जरूरत थी। यदि वे निष्काम भाव से ईसा के धर्म का प्रचार करते हैं, तो भारतवर्ष में चर्च की सम्पत्ति भारतीय ईसाइयों के नाम रहनी चाहिये, ताकि भारतवर्ष ऐसी सम्पत्ति के कारण भविष्य में किसी अन्तर्राष्ट्रीय झमेले में न पड़े। इन स्वार्थी राष्ट्रों की ज़बान पर तो हज़रत ईसा का नाम रहता है, परन्तु भीतर गहरी राजनीतिक चालें भरी हुई हैं। भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या को जटिल बनाने के लिए ये सब शतरंज की चालें हैं।" मि० पीटर मेरी बातें सुन कर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने मुझसे आग्रह किया कि मैं ईसाइयों की कान्फ्रेन्स में अवश्य जाकर व्याख्यान दिया करूँ, ताकि भारतीय समस्याओं

पर राष्ट्रीय प्रकाश पड़े। मैंने भाई पीटर से यह भी कहा कि यह केवल आर्थिक प्रश्न है। जब भारतवर्ष में स्वराज्य हो जायेगा तो लाखों ईसाई और मुसलमान अपने बाप-दादाओं और पूर्वजों के प्यारे हिन्दू धर्म को ग्रहण कर लेंगे। मि० पीटर ने मुझे द्वारीखाल लौटने के लिए अपना घोड़ा दिया और यह भी कहा कि आप बानघाट तक इसे ले जा सकते हैं।

इस प्रकार सन्तुष्ट होकर मैं चैलूसेन से लौटा। कल मेरा यहाँ से जाने का विचार है। अगले पत्र में पौड़ी तक की यात्रा का वृत्तांत लिखूंगा।

मंगलाभिलाषी—सत्यदेव

चौथा पत्र

माता कर्मदेवीजी—सादर नमस्ते!

जब मैं आपको द्वारीखाल की बातें लिख चुका, तो पता लगा कि लैंसडौन से द्वारीखाल तक आने की बातें तो छूट ही गई हैं। सो आज आपको अपनी बयालीस मील की पहाड़ी यात्रा का हाल सुनाता हूँ।

२९ अप्रैल को सवेरे मैं लैंसडौन से अपने नौकर और पहाड़ी कुली के साथ द्वारीखाल की ओर चला था। रास्ते में दो मील पर जेहरीखाल नामक ग्राम पड़ता है। बातें करते हुए हम तीनों जने चले। आज दिन तो मेघरहित था, पर हिमालय गर्मी के मारे खस की टट्टी में छिपे बैठे हुए थे। भला दर्शन कैसे होते!

दो मील तक मैदान-सा है, अर्थात् कुछ चढ़ाई-उतराई नहीं मालूम होती। जब जेहरीखाल निकट आता है तो थोड़ा उतरना पड़ता है। जेहरीखाल में गवर्नमेंट हाईस्कूल है। उस बस्ती की चर्चा आगे चलकर विस्तार से करूंगा, क्योंकि यहाँ फिर लौटकर आना है।

जेहरीखाल से आगे रास्ता अच्छा है। मुझे आज १३ वर्षों के बाद इतना चलना पड़ा। अपनी परीक्षा लेने के लिए मैंने यह संकल्प किया था। चढ़ाई को तो मैं कुछ समझता नहीं, किन्तु उतार मेरे लिए दुःखद

है। आँखों की कमजोरी के कारण उतार में भूमि के ऊँचे-नीचेपन का पता नहीं लगता। इसीलिए कष्ट हुआ।

दस मील तक तो मुझे कुछ तकलीफ़ नहीं हुई। यदि अपने पथ पर चले जाते तो कुछ बात न होती पर—

मेरे मन कुछ और है,
विधना मन कुछ और।

किसी राह चलते ने सुना दिया कि इस लंगर पट्टी में भैरो गढ़ी बड़ा रमणीक स्थान है, उसे ज़रूर देखते जाइये। कैलाश-यात्री सत्यदेव वाली स्फूर्ति जाग उठी—"चलो देखते चलें।" चल पड़े। कुली बेचारा नाक-भौं सिकोड़ता ही रहा, पर यहाँ तो वह दृष्टि ही न थी। सामने की गढ़ी पर चढ़ने लगे, जहाँ काले भैरव—भयंकर भैरव—का मन्दिर था। दुर्गम पहाड़ियों में जैसे गिद्ध के घोंसले होते हैं, ऐसे ही यह भैरों जी का स्थान भी था। मेरे सिर पर भूत सवार था। सुबह से न खाया था, न पिया; केवल कुछ मुनक्का के दाने हम सब ने खाये थे। सूर्य देवता सिर पर उपस्थित होगये। इन दुर्गम रास्तों में भी पहाड़ी लोग छोटे-छोटे सीढ़ियों जैसे खेत बना लेते हैं। ऐसे ही खेतों में गेहूँ की सुनहरी बालें मस्त झूल रही थीं। प्रकृति माता के रंग ही तो हैं! ऐसा मोटा दाना और गेहूँ का खेत यहाँ पर, मानो नहर के किनारे की शस्यदा भूमि हो। इन बर्फीले पहाड़ों पर ऐसी खेती देखकर मैं प्रसन्न होगया। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका की उत्तरी रियासतों में मैंने जाड़ों में हिमाच्छादित होने वाले मैदानों में सुन्दर सुनहरी गेहूँ की खेती देखी है, पर वहाँ तो जल ठहरता है। यह तो पहाड़ है, जहाँ पानी दौड़ता चला जाता है। खैर।

किसी प्रकार राम-राम करते हुए शिखर पर पहुँचे। वहाँ बिलकुल सन्नाटा था। श्री भैरवनाथ भी कहीं भयभीत होकर भाग गये थे। प्यास के मारे हमारे होंठ सूखे पत्तों की भांति सूख गये थे, पर यहाँ पानी कहाँ! इतनी ऊँचाई पर कहीं पानी का चश्मा हुआ करता है? हमसे

कहा गया था कि ग्रामीणों की ओर से वहाँ एक पुजारी नियत है, जो यात्रियों को आवश्यकतानुसार भोजन-जल देता है। प्यास के मारे मैं बेचैन था। उस बेचैनी में मुझे अपने बचपन की एक कविता और घटना याद आ गई।

मैं आर्यसमाज बच्छोवाली में सबसे ऊपर की मंज़िल पर सोया करता था। शायद जून का महीना था। राना नामक एक उर्दू कवि भी कभी-कभी वहाँ आकर सोते थे। मैं अत्यन्त प्यास से एक रात को अधीर होकर कह उठा—

प्यास के मारे है जाँ निकलती,
हाय कोई न हाल सुनता।

मैंने दो-चार बार यह मिसरा कहा, तो मसखरा राना कहने लगा—

है सब्ज़ गेहूँ में इक बटेरा,
हाय कोई न जाल बुनता।

अपनी प्यास भूलकर मैं राना की सूझ पर हँसने लगा। यहाँ इस दुर्गम शिखर पर तो कोई कवि था नहीं, जो मधुर कविता कर मेरी प्यास भुला देता। दो घण्टा बेचैन रहने के बाद नीचे उतरने का निश्चय किया।

माताजी, मैं सोचता था कि ऐसी प्यास में नीचे कैसे उतरूँगा। यदि रपट गया तो हड्डी-पसली नहीं बचेगी। ईश्वर का स्मरण कर मैंने साथियों को खड़ा किया और हम सब नीचे उतरने लगे। ज्यों ही मैं सीढ़ियों के पास आया, तो एक दीर्घकाय साधु सामने आता हुआ दिखाई दिया। उसने 'ओ३म् नमो नारायण' कह कर दण्डवत किया और मैंने भी योग्य उत्तर दिया। वह हमें फिर मन्दिर में ले गया और अपने कमरे का ताला खोल कर हमारी प्यास बुझाई। हमारी जान में जान आई। मैंने प्रभु को धन्यवाद दिया। वह फकीर मुझे आधे रास्ते तक नीचे उतार भी गया। लेकिन फिर भी थकान के कारण मेरे दाहिने घुटने में चोट आ ही गई। अगले तीन मील द्वारीखाल तक मुझे एक-एक गज़ ज़मीन के

लिए लड़ना पड़ा और बिलकुल चूर होकर शाम को पांच बजे के बाद हम द्वारीखाल पहुँचे।

अब सुनिये पौड़ी की यात्रा का ब्योरा। ८ मई को सवेरे हम द्वारीखाल से निकले। मिस्टर पीटर का आदमी घोड़ा लेकर उस समय मिला जब हम ३॥ मील उतर चुके थे। बानघाट को द्वारीखाल से सात मील का उतार है। यह स्थान उष्णप्रधान है। घोड़ों, खच्चरों के कारण यह गंदा भी रहता है। यहां डाक बंगला भी है और एक अस्पताल भी। ग्यारह बजे हम बानघाट पहुँच गये। नदी में स्नान किया। यहां के डाक्टर मुझे पहचानते थे। वे ठहरने का आग्रह करने लगे, लेकिन मैंने तो सात रुपये पर खच्चर वालों से पौड़ी तक सामान पहुँचाना तय किया हुआ था। जाना जरूरी था। साथ में शिमले से लौटे हुए एक सरकारी नौकर मिल गये। जब वे तपती हुई धूप में चढ़ाई चढ़ने लगे, तो मैंने भी अपने सेवक के साथ उनका अनुसरण किया।

माता जी, २॥ मील की सीधी चढ़ाई, सिर पर भास्कर देवता और मई का महीना, सो नानी याद आ गई। कुछ मील चढ़कर आम्र-वृक्षों के नीचे आकर विश्राम लिया। उस सरकारी नौकर से बहुत सी पते की बातें मालूम हुईं। उन रोचक वार्तालाप से रास्ता खूब कटा। बानघाट से पौड़ी तक चढ़ाई ही है, उतार नहीं। अढ़ाई-तीन मील की चढ़ाई के बाद फिर समतल रास्ता चला जाता है। कहीं थोड़ा चढ़ाव-उतार है। पानी की इधर कमी है। दूर नीचे खड्डों में धारायें हैं। अल्मोड़े में जैसे जल की अधिकता है, झरनों की कल-कल ध्वनि है और अद्‌भुत नैसर्गिक दृश्य हैं, वैसे इधर नहीं हैं। हां, श्रीगङ्गाजी की घाटी में बद्रीनाथ के मार्ग पर आकर्षक दृश्य अवश्य हैं। इधर तो ऐसे रमणीक दृश्य नहीं। जल-वायु अलबत्ता खुश्क और नीरोग है; खाद्य पदार्थ महंगे मिलते हैं। सड़क बहुत अच्छी है। सरकार चाहती तो इधर मोटर-बसें कभी की चल निकलतीं, परन्तु यह ठहरा रंगरूटों का देश, जहाँ अपढ़ फौजी जवानों की भर्ती की जाती है। उन्हें मैदान वालों की हवा न लग जाये, शायद इसीलिए यात्रा

की सुविधायें नहीं हैं। देखें कब तक यह इलाका अशिक्षित रक्खा जा सकता है।

शाम को १६ मील माप कर हम लोग कांसखेत पहुंचे। जैसे द्वारीखाल के डिस्ट्रिक्ट वोर्ड स्कूल के अध्यापक मेरे साथ वड़े शिष्टाचार से पेश आए थे, ऐसे ही कांसखेत के पण्डित जी भी वड़े मिष्टभाषी और प्रेमी सज्जन निकले। सब प्रबन्ध होगया। रात कट गई। पैदल चलने के कारण मेरे सारे शरीर में दर्द था।

कांसखेत से पौड़ी तक १३ मील है। सड़क ऐसी अच्छी है मानो माल रोड पर घूम रहे हैं। यहां पर पानी पिलाने वालों की कमी नहीं, गुनगुनाते चले गये। बाँझ के पेड़ गढ़वाल में अधिक हैं, चीड़ के जंगल अधिक नहीं। देवदारु और रणगौन के पेड़ भी हैं। वर्फानी पहाड़ निकट हैं। निर्धनता का सर्वत्र राज्य है। मूर्खता की प्रभुता भी अखण्ड है।

माताजी, ९ मई को बारह वजे मध्याह्न हम पौड़ी पहुँच गये। अगले पत्र में मैं पौड़ी के मनोरम दृश्यों का वर्णन करूँगा।

मंगलाभिलाषी—सत्यदेव

पाँचवाँ पत्र

माता कर्मदेवीजी—सादर नमस्ते !

९ मई की मध्याह्न को मैंने पौड़ी नगर में प्रवेश किया। नौकर को आगे ठीक-ठाक करने के लिए भेज दिया था। उसने सब प्रबन्ध कर लिया। डिस्ट्रिक्ट वोर्ड के मन्त्री ठाकुर सुरेन्द्रसिंह जी की कृपा से आवश्यक वस्तुओं के आने में देर न लगी। मैंने अपने आने की तिथि पहले से नहीं लिखी थी, इस कारण ज़रा अधिक भागाभागी करनी पड़ी। यों तो हिमालय विकट दुर्गों का समूह है, परन्तु गढ़वाल सचमुच दुर्गम गढ़ है। मुग़लों के समय में ये पर्वतमालायें अत्यन्त सुरक्षित थीं। यहाँ किसी प्रकार के आक्रमण का भय नहीं था। अत्यन्त आपत्काल के समय जो वीर मुग़ल-अफ़गान-शासन के भयंकर अत्याचारों के प्रति विद्रोह

झण्डा उठाते थे, वे समय-समय पर इन दुर्गम गिरि-कन्दराओं में आकर अपनी शक्ति संचय किया करते थे। ऐसे ही पर्वत सब प्रकार के आपत्ति-कालों में देशभक्तों की रक्षा करते रहे हैं। प्रत्येक देश में पर्वतों के निवासी सबसे ज्यादा स्वतन्त्रताप्रेमी हुआ करते हैं, पर भारत के पर्वतों के रहने वाले अधिक भीरु, स्वार्थी और दासता-प्रेमी होते हैं। यह सारा पतन जन्म से वर्णव्यवस्था मानने के कारण है।

पौड़ी गढ़वाल की राजधानी है। जलवायु इसका बलवर्धक है। शिखर पर चीड़ और बाँझ के वृक्षों का जंगल है। यहाँ श्री किलकिलेश्वर महादेव का पुराना मन्दिर शहर से दूर बना हुआ है। सन् १९१७ में मैं पौड़ी आया था और इसी मन्दिर की गुफा में आकर ठहरा था। महात्मा गांधीजी ने जब निलहे गोरों के अत्याचारों के विरुद्ध कार्य करने के लिए चम्पारन में प्रवेश किया तो मुझे भी मोतीहारी जाना पड़ा। तब मैं अधिक दिन पौड़ी नहीं रह सका था। मैं ऋषिकेश से देवप्रयाग, श्रीनगर होता हुआ पैदल यहाँ पहुँचा था। इस बार इस मन्दिर में रहना ठीक न समझकर स्वतन्त्र स्थान ठीक किया।

ईसाई पादरी बड़े चतुर होते हैं। जब देश के जागृत और शिक्षित भागों में उनकी दाल न गली तो उन्होंने रेल से दूर क्षेत्र तलाश किए, जहाँ वे बेरोक-टोक फ़सल काट सकें। वे इन पर्वतों में पहुँचे और पौड़ी को केन्द्र बनाकर लगे अपनी भेड़ें बढ़ाने। सनातनधर्मी हिन्दू सभी जगह प्रायः इन बातों में उदासीन रहते हैं। सरकार इन्हीं का पैसा लेकर इन्हीं के बच्चों को ईसाई बनाने में मदद देती है, लेकिन इनके कान पर जूं नहीं रेंगती। ये उच्च वर्णाभिमानी बैठे ब्रह्म की माला जपते रहते हैं। इनमें व्यक्तिवाद का प्रभाव इतना अधिक है कि वे अपने नाक के आगे की वस्तु देख ही नहीं सकते। मिशनरी इनके घरों में घुसकर इन्हें अराष्ट्रीय बना रहे हैं, किन्तु ये बैठे 'सनातनधर्म की जय!' मनाते हैं। ईसाइयों ने पहला धावा ग़रीब अछूतों पर किया और लगे उन्हें अपने प्रभाव में लाने। अपने इन दीन भाई-बहिनों को हिन्दू धर्म से अलग होते देख

कर भी जब गढ़वाल के हिन्दू न चेते, तब इस इलाके के हज़ारों अछूतों ने ईसाई मत स्वीकार कर लिया और वे इस प्रकार हिन्दू समाज के अत्याचारों से भी छूट गए।

अब इस क्षेत्र में आया है आर्यसमाज, किन्तु बहुत देर के बाद। उस की ओर से कई मिडिल स्कूल हैं, अब एक हाईस्कूल भी बनने लगा है। ईसाई लोग इतने से ही घबरा उठे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि आर्यसमाज के घोड़े के सामने उनके टट्टू की पेश नहीं जायेगी। उनके स्कूल के आधे से ज़्यादा लड़के अभी से आर्य स्कूल में चले गये हैं। संघर्ष आरम्भ हुआ है, पर निश्चय ही कुछ वर्षों के भीतर मिशनरी लोग यह क्षेत्र छोड़कर भागेंगे।

माताजी, आप को तो पता ही है कि मैं अब थक गया हूँ। सारी पृथ्वी घूम कर अब मैं एक स्थान में बैठ कर हिन्दी साहित्य की सेवा करना चाहता हूँ। जिन ऋषि-मुनियों के अध्यात्मवाद और योग की हम प्रशंसा करते हैं, उनकी सिद्धि का हमें प्रयत्न करना चाहिए। उसी उद्देश्य से मैं इधर कुटिया के लिए एकान्त स्थान तलाश करने आया था। पं० तारादत्त गेरोला और ठाकुर सुरेन्द्रसिंह जी से इस विषय की चर्चा हुई। भूमि देखी तो, किन्तु मन के अनुकूल नहीं मिली। इन पहाड़ों में वे सुविधायें नहीं हैं जो योरुप के गिरि-शृंगों पर मिलती हैं। एक तरफ़ गंगा जी के किनारे श्रीनगर में बिच्छुओं की भरमार है और दूसरी ओर गन्दा! गन्दा!! हिन्दू जनता सफाई के साधारण नियमों से भी अनभिज्ञ है। पहाड़ हो चाहे मैदान, नगर हो या ग्राम, चाहे बद्रीनाथ जाइये या हरिद्वार घूमिये हमारे लोग सफाई के प्रति बड़े उदासीन हैं। पर्वतों की सोहावनी स्थलियों में घूमते-घूमते जहां दस पांच दुकानें आईं, बस, गन्दगी, मक्खियां और बदबू मौजूद है। पाश्चात्य देशों में जो व्यक्तिगत अधिकारों की पूजा मैंने पाई है, जो सफाई मैंने देखी है, जीवन में जो कला सम्बन्धी रस लेने की योग्यता वहां की जनता में है, वहां जो सौंदर्य-सुख का विकास हुआ है, उसमें अपनी संस्कृति का समावेश कर एक

नवीन विश्व-संस्कृति का रूप इस देश के लोगों को दिखलाने का मेरा इरादा है। इसी कारण मैं अब आश्रम की तलाश में हूँ, ताकि अपने विस्तृत अनुभवों को तरतीब दे सकूं। इन पर्वतों में स्थान हैं, जल-वायु है, मनोहर दृश्य हैं, किन्तु बाकी सब साधनों का अभाव है। जहां अंग्रेजों का जाना आना है—जैसे मंसूरी, नैनीताल आदि—वहाँ वैज्ञानिक सुख तो हैं, लेकिन हमारी संस्कृति के सद्गुणों का अभाव है। कहाँ जाऊँ ?

सभी मित्र-प्रेमी कह रहे हैं कि दुर्गम पर्वतों में कुटिया मत बनाइये। हरिद्वार में, गुरुकुल के पास, कहीं बैठ जाइये; तब यह आदर्श पूरा हो सकेगा। श्रीगंगा जी की उस घाटी में उठी हुई ध्वनि रासकुमारी तक गूंजेगी। यही सब कह रहे हैं।

माताजी, आपको क्या सुनाऊँ ! यहां भी एक विचित्र घटना घट गई। लीजिये सुनिये।

मैंने सोचा—"पौड़ी आ गया हूँ, लोगों को मेरे अनुभवों का कुछ लाभ मिलना चाहिये।" यद्यपि मैं आर्यसमाजी नहीं हूँ, परन्तु आर्यसमाज का कार्य मुझे प्यारा है। मुझे जब समाज के लोग बुलाते हैं, तो मैं वहां उपदेश देने चला जाता हूँ। मेरा कोई सम्प्रदाय नहीं। थामस पेन के शब्दों में :

"The world is my country, and to do good is my religion."

अर्थात् दुनिया मेरा देश है और नेकी करना मेरा धर्म है। पौड़ी समाज वालों ने मुझे बुलाया था। मैंने उन्हें प्रेम से अपनी शिक्षाप्रद बातें सुनाईं, पर दस-पन्द्रह मिनटों तक ही। उन्होंने अगले सप्ताह अधिक सुनना चाहा, लेकिन पुलिस का भूत वहां भी पहुँचा। सब आर्यसमाजी डर गये। सत्यदेव को बुलायेंगे तो सरकारी थप्पड़ खायेंगे। इस भय से मुझे किसी ने बुलाया नहीं, सो मैं गया भी नहीं। जब लोग मिलने आये, तो मैंने इस अशिष्टता का कारण पूछा। मन्त्री महाशय बोले—

"स्वामी जी, हम सरकारी नौकर हैं। आपको बुलाते तो पुलिस

नोट कर लेती और हमारी नौकरी खतरे में पड़ जाती।"

मुझे पता है कि इन सरकारी नौकरों, रायसाहबों और पेंशनरों ने आर्यसमाज को कितनी हानि पहुँचाई है। स्वतन्त्रता सिखलाने वाले स्वामी दयानन्द जी के उपदेशों को भला ये गुलाम कैसे समझ सकते हैं?

दूसरे दिन एक आर्यसमाजी पण्डित उपदेशक आगये। सरकारी आज्ञा लेकर उनके व्याख्यानों का प्रबन्ध किया गया। वहाँ सभापति ने जोश में आकर मेरे व्याख्यान का नोटिस दे दिया। हलचल मच गई। नोटिस दिया गया बिना सरकारी आज्ञा पाये और पौड़ी में लगी हुई थी १४४ धारा। "आज्ञा लेने अधिकारियों के पास कौन जायेगा?" ये लोग मिलकर सलाह करने लगे। जिन्होंने व्याख्यान का नोटिस दिया था, वे भी नट गये। आखिर बेचारे कोतवालसिंह को अपने नाम की लाज रखनी पड़ी। वे गये और आज्ञा ले आये।

माताजी, अगले पत्र में मैं आपको अत्यन्त मनोरंजक और गम्भीर बातें सुनाऊँगा।

मंगलाभिलाषी—सत्यदेव

छठा पत्र

माता कर्मदेवीजी—सादर नमस्ते!

यहां पौड़ी में पण्डित तारादत्त गैरोला बड़े प्रसिद्ध वकील हैं। इनके विषय में कुछ अधिक बतलाना अच्छा होगा। आप भक्त दादूदयाल की वाणी के बड़े प्रशंसक हैं और उनकी दो सौ सूक्तियों का आपने अँग्रेज़ी भाषा में अनुवाद किया है। आजकल आप भक्तों की वाणियाँ पढ़ने में मस्त रहते हैं। मेरा चूंकि आप से पहले का परिचय था, इस कारण इस बार उन्होंने मुझे अपने यहाँ निमंत्रित किया। पौड़ी से जो सड़क देवप्रयाग की ओर जाती है, उसी पर आपका बड़ा अच्छा मकान बना हुआ है। सरकार की भी आप पर बड़ी कृपा है। इसी सड़क पर आपका एक सुरम्य विहार-स्थल है, जहाँ से हिमालय का अत्यन्त सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। यहाँ

से नन्दादेवी अपनी सहेलियों के साथ स्पष्ट दीख पड़ती है। प्रातःकाल जब आकाश निर्मल हो तो भास्कर की सुनहरी किरणें इसकी हिमाच्छादित चोटियों पर अद्भुत प्रभा दिखाती हैं। रवि-किरणें रंग-विरंगे रूप धारण करती हैं। उस समय प्रकृति की ऐसी मोहक छटा दिखाई देती है जिसका वर्णन लेखनी नहीं कर सकती।

इसी विहारस्थल में तारादत्त जी ने मुझे बुलाया। आहा! कैसा स्वच्छ और नीरोग पवन यहाँ वहता था। चीड़ के पेड़ किस नशे में झूम रहे थे। मैंने पण्डितजी से कहा कि यह स्थान तो कवियों के लायक है। यदि मैं ऐसे स्थान में रह जाऊँ, तो निस्सन्देह किसी काव्य की रचना कर डालूं। पण्डितजी हँसने लगे। पहले तो उन्होंने कुछ जलपान से हम लोगों का स्वागत किया, वाद में भक्तिमार्ग पर वातें होने लगीं। मैंने पण्डित जी से कहा—"आप दादूजी में क्या विशेषता पाते हैं, जिसके कारण आप उनपर मोहित होगये हैं?"

गेरोलाजी ने दादूजी के कुछ पद पढ़ कर सुनाये, जो मेरे लिये कुछ नया भाव पैदा करने वाले नहीं थे। वही ईश्वर की प्रशंसा, उसकी रचना का गुणानुवाद, वीच-वीच में रहस्यवाद के टोटके और अन्त में ईश्वरीय माया न समझ सकने की असमर्थता—इस प्रकार के भाव भक्तों की वाणियों में प्रायः पाये जाते हैं। मैंने अपने भ्रमण में भक्तों की वाणियाँ पसन्द करने वाले जो धनी शिक्षित लोग देखे हैं, वे प्रायः कर्मयोग से उदासीन रहते हैं। भक्तों की वाणियाँ पढ़कर उन्हें कुछ समय के लिए नशा सा हो जाता है, इसके वाद फिर वे अपने व्यवसाय के मकर-फरेव में लग जाते हैं। उनके पास खाने को काफी होता है। वे इस प्रकार का नशा पी सकते हैं और उसके लिए समय खर्च कर सकते हैं। ऐसे लोग कठोर जीवन-संग्राम के योग्य नहीं रहते। निस्सन्देह अपवाद के तौर पर वावू पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे आदमी भी हैं, जो भक्तिमार्ग के वड़े प्रशंसक हैं और साथ ही योद्धा भी हैं। परन्तु उनका भक्तिमार्ग गुरु गोविन्दसिंह जी के ढंग का है। यह वात विलकुल सच है कि अनपढ़ साधारण जनता, जो तर्क नहीं कर सकती, जो

स्वयं सोच नहीं सकती, उसके लिए भक्तिमार्ग के सिवाय दूसरा कोई रास्ता अपना चरित्र सुधारने का नहीं है। उन्हें किसी न किसी ईश्वरभक्त महापुरुष का आश्रय लेना पड़ता है कि जिसके पीछे वे आँखें वन्द कर चल सकें। ऐसे लोग प्रायः वड़े साधुभक्त, सेवा की भावना रखने वाले, श्रद्धालु और त्यागी होते हैं। वे अपने प्रिय आदर्श के लिए सर्वस्व वलिदान कर देते हैं, जैसा कि सिक्ख जनता ने अपने काल में किया था। सिक्खों में जो सेवा की भावना, ईश्वरपरायणता और त्याग के प्रति प्रेम है, वह उसी भक्तिमार्ग का प्रताप है। आर्य्य-संस्कृति के श्रेष्ठ वातावरण को हम उस समाज में पाते हैं जो सच्चरित्र, ईश्वरपरायण और भक्तों का गुण गाने वाला है। परन्तु इस मार्ग में धूर्त लोगों के लिए अपना स्वार्थ सिद्ध करने का वहुत अच्छा अवसर रहता है। हज़ारों साधु जनता को उसी अन्धविश्वास के कारण लूट खाते हैं। गुजरात, काठियावाड़, सिन्ध, पंजाव और वंगाल में वैष्णव साधु उसी भक्तिमार्ग का अनुचित लाभ लेकर कितनी वुराई फैलाते हैं! अतएव यह आवश्यक है कि भक्ति चैतन्य हो, उसमें जागृत वुद्धि का समावेश हो और वह भक्त को सत्यासत्य पहचानने के योग्य वना दे। पुराने जितने मार्ग हैं उनमें अच्छापन भी है। हमें उस अच्छेपन को साथ लेकर उसका जो वुरा पहलू है, उसे हटा, उसके स्थान पर चैतन्य वुद्धि को स्थान देना चाहिये। कैसा ही ईश्वर-भक्त क्यों न हो, परन्तु उसमें जिज्ञासा की भावना सदा वनी रहनी चाहिये और वह सदा इस वात की कोशिश करे कि वह स्वावलम्बी हो। व्यक्ति की शक्तियों का विकास परमावश्यक है। वह तभी हो सकता है जव मनुष्य स्वतन्त्र सोचने की आदत डालता है। हमारे सामने लाखों करोड़ों तारे आकाश में चमकते हुए दिखाई देते हैं। हम उनके विषय में कुछ नहीं जानते। यदि हमारा रुख ज्ञान के संचय का रहेगा तो हम ईश्वर-भक्तों से ज्ञान की उपलब्धि कर आगे वढ़ेंगे और नई खोज कर ज्ञान की वृद्धि करेंगे। भारत-वर्ष में यह नहीं हुआ। यहाँ चवाये हुए को चवाया जाता है। जितने भक्त हैं उन सवकी वाणियों को उठा कर देखिये; उन्हें एक हाँडी में उवाल कर

उसका निचोड़ निकाल लीजिये, तो आपको एक ही बात, एक ही रंग दिखाई देगा। आगे बढ़ने का कोई नाम नहीं लेता। अन्धविश्वास द्वारा भक्ति-मार्ग अच्छा वातावरण पैदा कर सकता है, मनुष्य का चरित्र भी सुधार सकता है, परन्तु उसे ज्ञान की वृद्धि के मार्ग पर नहीं ले जा सकता। खैर!

पंडित तारादत्तजी से भक्तिमार्ग के विषय पर बहुत सी बातचीत हुई। आखिर मैंने उनसे कहा—"अब आप इस बुढ़ापे में सब कुछ छोड़-छाड़ कर केवल इसी रस में तल्लीन क्यों नहीं हो जाते? आपके पास बहुत काफ़ी पैसा है। भक्त दादू की वाणी में डूबकर भी आप अभी तक वकालत के गोरखधन्धे में लगे हुए हैं, यही बात मेरी समझ में नहीं आती।"

इसका वे बेचारे क्या उत्तर देते! अपनी निर्बलता को उन्होंने स्वीकार किया।

सचमुच मैं उन आदमियों की मानसिक अवस्था को बड़ा विचित्र समझता हूँ जो अपने आपको भक्तों की वाणी का बड़ा प्रेमी भी मानते हैं, साथ ही सरकार की भी बड़ी खुशामद करते हैं और कोई-कोई देश के प्रति द्रोह भी कर बैठते हैं। राधास्वामी मत के लोग खास तौर से सन्तों के भक्त हैं। उनका सम्प्रदाय ही सन्तों की वाणी पर खड़ा है, परन्तु उनके साहिबजी देश की स्वाधीनता सम्बन्धी बातों से घबराते हैं। ये दोनों चीज़ें आपस में एक कैसे हो सकती हैं? जो मनुष्य ईश्वर का प्रेमी है, ईश्वर के भक्तों का प्रेमी है, ईश्वर के गुणानुवाद गाता है, भक्तिरस में डूबा रहता है, वह फिर खुशामदी, स्वार्थी और डरपोक कैसे हो सकता है? या तो ऐसे लोग ईश्वर को नहीं समझते, या उनका मस्तिष्क इतना विकृत होगया है है कि वे अपनी भूल देख नहीं सकते। हिन्दुओं में ऐसी मानसिक अवस्था कैसे उत्पन्न होगई? एक बार दक्षिण भारत के किसी साधुसंघ के सभापति ने मेरे पास अंग्रेजी की एक पुस्तिका भेजी, जिसमें व्याख्यानों की लिस्ट दी हुई थी और मुझसे आग्रह किया गया था कि मैं हरिद्वार के कुम्भ पर होने वाले साधु-सम्मेलन में किसी विषय पर व्याख्यान् दूं। उसी पुस्तिका में राजभक्ति की तस्वीरें थीं, साथ ही कुछ खुशामद के शब्द भी थे।

यह देखकर मैं अचम्भे में आ गया और मैंने संघ वालों को उत्तर में लिख भेजा कि वे मेरा सहयोग नहीं पा सकते। कोई पुरुष किसी सम्राट् का हृदय से प्रशंसक हो, इसमें कोई बुराई की बात नहीं; लेकिन जो केवल डर से, अधिकारियों से मतलब निकालने के लिए इस प्रकार की बातें करते हैं और फिर कहते हैं कि वे ईश्वरभक्त भी हैं, उनके विरुद्ध मेरा हृदय सदा बग़ावत करता है। प्रत्येक मनुष्य को विचारों की स्वतंत्रता है, लेकिन मक्कारी की स्वतंत्रता किसी को नहीं। मुझे यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि मेरे देश में अधिकांश लोगों की मानसिक अवस्था इस प्रकार की हो गई है कि ऐसी बातें करते हुए भी अपनी भूल नहीं देख सकते। पाप और पुण्य में तमीज करने की शक्ति उनमें से जाती रही है। खास कामों को वे पाप-पुण्य समझते हैं। यदि कोई आदमी मांस खाता है तो वह उनकी दृष्टि में बड़ा पापी है, परन्तु यदि वह झूठ बोलता है, धोखा करता है, तो उनकी दृष्टि में वह इतना बुरा नहीं माना जाता। शताब्दियों की गुलामी ने हमारे मस्तिष्क को विकृत कर दिया है और हमारे धर्माचार्यों ने हमें अत्यन्त ग़लत रास्ता बतलाया है। हम दार्शनिक सिद्धान्तों की तो सूक्ष्म से सूक्ष्म घुण्डियाँ खोल सकते हैं, सामने बैठे हुए विद्यार्थियों को बड़ी बारीक बातें बतला सकते हैं, परन्तु जीवन की बड़ी स्थूल बातों को परख नहीं सकते। हिन्दू-मस्तिष्क इस प्रकार का विकृत क्यों होगया है? हम बड़ा कष्ट उठाकर, बड़े भक्ति-भाव से श्री बद्रीनाथ की यात्रा करते हैं, परन्तु रास्ते में धर्म के साधारण नियमों को बराबर तोड़ते चले जाते हैं। स्वयं वह पण्डा-पुजारी जो मन्दिर में बैठकर यात्रियों को दर्शन कराता है, प्रायः महादम्भी और धूर्त होता है। हम उसकी धूर्तता देखते हुए भी ऐसे बन जाते हैं मानों हम उसे देखते ही नहीं। हमारा इस प्रकार का मस्तिष्क क्यों हो गया है?

माताजी, मैं यह सब बातें बराबर सोचता रहता हूँ। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू जनता परस्पर विरोधात्मक विचारों के जंगल में भटक रही है, वह भटक-भटक कर अपने सोचने की बुद्धि को खो

बैठी है । आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम हिन्दुओं को सम्प्रदायों के इस भयंकर जाल से निकालें और उनके सामने व्यावहारिक धर्म की स्पष्ट और सफल बातें रक्खें, ताकि वे आसानी से उन्हें समझ कर उन पर चल सकें। मैं भक्ति-मार्ग का विरोधी नहीं हूँ, लेकिन इतिहास यह बतलाता है कि जिन लोगों में भक्ति-मार्ग का गहरा प्रचार हुआ, वे अकर्मण्य होगये। ईसाइयों में भक्ति-मार्ग पर जनता को चलाने वाले संतों के मठ आज योरुप में विद्यमान हैं। उनसे वहाँ के लोगों की किसी प्रकार की उन्नति नहीं हुई। भारतवर्ष में भी ऐसे भक्तों की कमी नहीं रही। क्या उन्होंने जनता में चरित्र-बल-संगठन या किसी प्रकार की सामाजिक शक्ति पैदा की ? यदि सिक्ख सम्प्रदाय में वीरशिरोमणि गुरु गोविन्दसिंह जी न होते और वे सिक्खों में क्षात्रधर्म न भरते तो कदापि सिक्ख समाज ऐसा बलवान् न हो सकता। भक्ति-मार्ग ने तो उनमें केवल गुरुडम ही भर दिया। गुरु गोविन्दसिंह जी का बलिदान ऐसा अद्भुत था कि यदि उसमें गुरुडम न होता तो सिक्ख सारे भारतवर्ष पर क़ब्ज़ा कर लेते। भक्ति-मार्ग के गुरुडम ने उनकी उन्नति रोक दी और थोड़े ही वर्षों में उनका संघ टूट गया।

आज हमें पक्षपात छोड़कर, इतिहास की सब बातों पर गम्भीर दृष्टि डालकर, अपने देश में फैली हुई विचार-धाराओं पर विवेचना करनी चाहिये। अन्धविश्वास में बल है, किन्तु वह भयानक बल है। यदि वह फायदा कर सकता है, तो हानि भी बड़ी कर सकता है। भक्ति-मार्ग अन्धविश्वास का मार्ग है। यदि उससे किसी समय फायदा पहुंच जाए तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह मार्ग सदा के लिए लाभकारी है। भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य को पढ़ने से इस बात का पता चलता है कि बौद्धकाल से पहले इस देश में भक्ति-मार्ग का कोई चिन्ह नहीं था। हमारे प्राचीनकाल के आर्य्यों का विचार-प्रवाह अत्यन्त नीरोग, क्षात्रधर्म-युक्त और व्यावहारिक था। बौद्धकाल में जो भगवान् बुद्ध की पूजा की भावना जनता में जागृत होगई, उसी ने भक्ति-मार्ग का बीज बो दिया, जिसे लेकर ईशु क्राइस्ट बना और

ईसाइयों की देखादेखी उसका प्रचार सारे एशिया में हुआ। हमारा भक्ति साहित्य बौद्धकाल के बाद की रचना है। खैर!

पौड़ी से मैं पंडित रेवानन्द जी के साथ लैंसडौन की ओर रवाना हुआ। इस बार घोड़े का प्रबन्ध होगया था, अतएव कुछ कष्ट नहीं हुआ। बातें करते हुए चले गये। संध्या को बानघाट पहुँचे। वहाँ पर रात रहना पड़ा। सवेरे विकट चढ़ाई चढ़ कर जहरीखाल पहुँच गये। यह ग्राम लैंसडौन से दो मील इधर है। यहाँ पर प० रेवानन्द जी के उद्योग से आर्यसमाज की एक छोटी सी कुटिया बनी हुई है। मैं उसीमें जाकर ठहरा। आठ दिन तक यहाँ के हाईस्कूल के विद्यार्थियों को कुछ अपने विचार बतलाये। शहर के लोग भी उपदेश सुनने आ जाते थे। जहरीखाल लैंसडौन छावनी से अलग है। छावनी में तो समाज के वार्षिक अधिवेशन नहीं हो सकते, इस कारण जहरीखाल में ही ऐसा स्थान ठीक करने का विचार किया, जहाँ आर्यसमाज के जल्से हो सकें और स्वतन्त्र विचार के मनुष्य आकर ठहर सकें। छावनी में तो खद्दर पहनने वालों पर खास निगाह रक्खी जाती है। इसी उद्देश्य से मैं पण्डित रेवानन्द जी को लेकर लैंसडौन गया। थोड़ा सा चन्दा कुटिया के लिए वहाँ किया और कुछ रुपया दुगड्डा में जमा हुआ। पंजाबियों जैसी बलिदान की भावना इधर नहीं है। केवल पाँच सौ रुपये से यह स्थान ऐसा बन सकता है जहाँ गर्मियों में कोई भला आदमी आकर रह सके और समाज के जल्से भी हो सकें। जहरीखाल से सारे गढ़वाल में प्रचार की सुविधा है। इतना होने पर भी यहाँ के लोग पाँच सौ रुपया जमा नहीं कर सकते। मैंने उनसे साफ कह दिया कि यह काम आप लोगों के किए ही हो सकेगा। जब गरीब मुसलमान एक-एक पैसा जमा कर दुगड्डे में बड़ी अच्छी मस्जिद बना सकते हैं, तब आप साधु-संन्यासियों और प्रचारकों के ठहरने के लिए एक कुटिया क्यों नहीं बनवा सकते? देखें, यह काम कब होता है!

मैंने आपको अपने गढ़वाल के अनुभव सुनाए। गढ़वाल की जनता में बड़े विचित्र रिवाज फैले हुए हैं। जैसे जंगली जातियाँ निर्दयता से पशुओं

का वध किया करती थीं, वैसे अब भी हिंदू-मुसलमानों में पशुओं की कुरबानी की अत्यन्त वर्बरतापूर्ण रस्म चली जाती है। ऐसी बहुत-सी विचित्र बातें गढ़वाल में प्रचलित हैं। जब हम लोग पौड़ी से लौट रहे थे तो बहुत से ग्रामीण लोग ऐसे ही जंगली उत्सव को समाप्त कर घर वापिस आ रहे थे। वे भैंसे को छुरा मारते हुए भगाते हैं। वह बेचारा दर्द के मारे बेचैन होकर बेतहाशा भागता है, तब उसके पीछे-पीछे गढ़वाली ग्रामीण छुरे भोंकते हुए दौड़ते हैं और अपने देवी-देवता को खुश करने के लिए उसका प्राण लेते हैं। ऐसी कुरबानियों का इधर रिवाज है। ब्राह्मण लोग देवी-देवता के नाम पर इस प्रकार के दुष्कर्म करवाते हैं और भेंटें लेते हैं। गढ़वाल में ही क्या, सारे भारतवर्ष में ऐसी कुरबानी की प्रथा प्रचलित है। अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे बंगाली काली माई के सामने बकरे चढ़ाते हैं। ईश्वर जाने कब तक मजहब का यह बीभत्स रूप हमारे देश में जारी रहेगा! हिंदू-मुसलमान दोनों अभी तक सच्चे धर्म से कोसों दूर हैं।

अच्छा माताजी, अब मैं अपने पत्र को बन्द करता हूं और आशा करता हूँ कि आपको गढ़वाल के मेरे अनुभवों से कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुँचा होगा।

मंगलाभिलाषी
सत्यदेव



चौंतीसवाँ पुष्प

अपनी डायरी में से कुछ

उस दिन समाचार-पत्र में जब मैंने यह पढ़ा कि श्रीयुत देवीदास गांधी का विवाह पूने में पण्डित राजगोपालाचार्य्य की कन्या श्रीमती लक्ष्मीदेवी से होने लगा है, तब मेरी नाड़ियों की रुधिर की धारा बड़े वेग से बहने लगी। मैंने अपने दाहिने हाथ की कलाई पकड़कर नब्ज़ देखी —सचमुच खून तेजी से चल रहा था। ऐसा क्यों? विवाह की उस खबर ने पिछले पन्द्रह वर्षों की मधुर स्मृतियों को ताज़ा कर दिया। मैं सोचने लगा— "सन् १९१८-१९१९ के वे सुखद दिवस कहाँ चले गये? काल प्रवाह में विलीन होगये। वे कभी लौटेंगे? कभी नहीं। गया सो गया। दूर! दूर!!"

मैं फिर सोचने लगा—"कैसी थी वह शुभ घड़ी, जब महात्मा गान्धी जी से बेतिया (चम्पारन) में मेरी भेंट हुई। वह मारवाड़ी सेठ की धर्म-शाला, वह सीढ़ियों का खुर्चन स्थान, जहाँ बापूजी दरी बिछाकर बैठा करते थे, मानो धर्मशाला में उनके लिए बैठने को कोई जगह थी ही नहीं, पर उनका स्वभाव ही ऐसा था। वहीं, हाँ वहीं, पहली बार बालक देवीदास को देखा था। तेजस्वी बालक, गुलाब-सा चेहरा, ज्योतिपूर्ण आँखें और इकहरा बदन—श्वेत खादी में वह बालक कैसा सुन्दर लगता था!

"वे चम्पारन के ऐतिहासिक दिन दूर चले गये। वह निलहे गोरों के पतन का नाटक इतिहास के गहरे गर्त में छिप गया और वे नाटककार! बिहारी जनता की वे भीड़ें! अहो! चला गया वह सब कुछ दूर—बड़ी दूर—पानी की धारा की भाँति न जाने कहाँ चला गया!"

चम्पारन की वे घटनायें एक-एक करके मेरे सामने नाचने लगीं। पुलिस का वह अत्याचार, मेरे सामान की चोरी, गान्धी-आश्रम की रातें,

प्रोफ़ेसर कृपलानी के मज़ेदार चुटकुले और वह १४४ धारा की अवज्ञा—उन सबकी स्मृति आज कैसी ताज़ा बनी हुई है! १४४ धारा भंग करने का वह कार्य्य ही महात्मा गांधीजी से मेरी घनिष्ठता का मुख्य कारण बना। गान्धीजी ने किस उदारता से मेरी बाँह पकड़ी! सर गएट को मेरे सम्बन्ध में उनका पत्र, जिसकी प्रतिलिपि अभी तक मेरे पास है, तथा बाबू राजेन्द्र-प्रसाद जी के पुरुषार्थ से मेरी जेल-मुक्ति आदि घटनायें फिर स्मरण हो आईं।

सचमुच मनुष्य एक विचित्र प्राणी है। छोटे-से मस्तिष्क में क्या कुछ धर लेता है! कैसे-कैसे फ़िल्म उसके दिमाग़ के घरों में छिपे रहते हैं, जिन्हें वह समय-समय पर निकाल कर दिल बहलाता है। आज ज़रा से समाचार ने मेरे मस्तिष्क को गरम कर दिया, फ़िल्मों का चक्र चला दिया, देवीदास गान्धी नामक फ़िल्म बड़ी तेज़ी से घूमने लगी। इस फ़िल्म के सजीव संस्कार चित्रपट पर अंकित हैं—ऐसे संस्कार जो कभी भूल नहीं सकते।

हाँ देखिए, वह फ़िल्म ख़ुलता है। गान्धीजी का तार पाकर मैं नडि-याद (गुजरात) जा रहा हूँ। वहाँ मद्रास में हिन्दी-प्रचार का प्रोग्राम बनता है। महात्माजी ने अपने लाड़ले बेटे देवीदास गान्धी को पहले से ही मद्रास भेज दिया है। मैं भी उनके आदेशानुसार मद्रास रवाना होता हूँ। यह फ़िल्म सन् १९१८ के जुलाई मास से आरम्भ होती है।

मद्रास दक्षिण-भारत का सबसे बड़ा नगर है। प्रान्त की राजधानी होने के कारण भी इसको विशेप गौरव प्राप्त है। समुद्र के तट पर बसा होने के कारण यहाँ अधिक गर्मी नहीं पड़ती। समुद्र का शीतल समीर नगर-निवासियों को नवजीवन देता रहता है। इसी सिन्धु के अनुग्रह से यह व्यापार की भी बड़ी मण्डी है। सामुद्रिक व्यापार इसका ख़ूब बढ़ सकता है, यदि भारतीयों को तिजारती सुविधायें प्राप्त हों।

इसी नगर में पहले-पहल गान्धी-पुत्र मातृभाषा हिन्दी की पताका लेकर पहुँचे थे। जैसे महाराजा अशोक ने अपनी सन्तान को बौद्ध-

धर्म-प्रचारार्थ द्वीप-द्वीपान्तरों में भेजा था, इसी प्रकार महात्मा गान्धी जी का यह चिरंजीवी हिन्दीप्रचारार्थ मद्रास आया था। श्रीयुत देवीदास गान्धी की सहायतार्थ मैं यहाँ भेजा गया था।

इस होनहार लड़के ने वहुत जल्द लोकप्रियता प्राप्त कर ली और हिन्दी के वर्ग खोल दिये। जव मैं पहुँचा तव काम आरम्भ हो चुका था। यहीं मेरा परिचय राजगोपालाचार्य्यजी से हुआ। मद्रासी ब्राह्मण जैसे तीक्ष्णवुद्धि होते हैं, ऐसा ही मैंने इस श्यामवर्ण ब्राह्मण को पाया। आप हमारे हिन्दी-प्रचार कार्य्य में वड़ी दिलचस्पी लेते थे। खास तौर से वे देवीदास गान्धी से स्नेह रखते थे और सलेम से वरावर मिलने आया करते थे। उस समय कौन जानता था कि यह जात-पाँत के वन्धनों से जकड़ा हुआ ब्राह्मण एक दिन मोढ़ वैश्य युवक को अपना दामाद वना लेगा। श्री राजगोपालाचार्य्य एक कुशल राजनीतिज्ञ व्यक्ति हैं। उनमें एक वड़े राज्य का प्रवन्ध चलाने की योग्यता है। महात्मा गान्धी और राज-गोपालाचार्य्य दोनों में ऊँचे दर्जे के आदर्शवाद के साथ-साथ व्यावहारिक वुद्धि की मात्रा भी काफी है।

ऐसे ही लोगों की सहायता श्री देवीदास को अनायास ही प्राप्त होगई। जव मैं देवीदासजी के घनिष्ठ सम्पर्क में आया तव इस कुशाग्र-वुद्धि 'ब्राह्मण' का पूर्ण परिचय मुझे मिला और मैंने समझ लिया कि यह लम्वी चुटियावाला ब्राह्मण देवता कांग्रेस का वड़ा भारी नेता होगा। महात्मा गाँधीजी के 'सत्याग्रह-आन्दोलन' में इन्हें वड़ी दिलचस्पी थी और हम लोगों में वरावर सत्याग्रह सिद्धान्तों के सम्वन्ध में विचार-विनिमय होता रहता था। कच्छी सेठ के उस मद्रासी गली के मकान में कैसे-कैसे वादविवाद हुए, वे ग्रीष्म-ऋतु की रातें क्या कभी भूल सकती हैं?

महात्मा गाँधीजी के चार पुत्र हैं, किन्तु कोई कन्या नहीं। गाँधी जी की यह हार्दिक अभिलाषा थी कि कम से कम उनका एक लड़का तो अवश्य ही वाल-ब्रह्मचारी रहकर जीवन-पर्य्यन्त देश-सेवा करे। उन्होंने अपनी इस इच्छा को अपने सभी लड़कों पर प्रकट किया था, किन्तु भावी

के खेल विचित्र हैं—चारों पुत्रों में से किसी ने भी उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

ऐसा क्यों हुआ ? यह भी एक मनोविज्ञान का गम्भीर रहस्य है। संयम और स्वतंत्रता दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। महात्मा गांधी जी ने दोनों को साथ-साथ चलाने का प्रयोग किया, इसलिए उनके संयम की अभिलाषा स्वच्छन्दता का रूप धारण कर गई। पूर्व और पश्चिम की दो धाराओं का संगम करने की मनोकामना महात्मा जी के हृदय में बड़ी तीव्र थी, परन्तु अनुभव ने यह बात सिद्ध कर दी है कि संयम के जिस आदर्श को भारत के ऋषिपुत्रों ने अपने सामने रक्खा था, उसमें दण्डपाणि भैरव के अनुशासन की अत्यन्त आवश्यकता है। जब आप अपनी सन्तान को बिलकुल स्वतन्त्र छोड़ देते हैं, उनका प्राकृतिक विकास देखने के इच्छुक हैं और साथ ही आप उनकी शुतुर-बे-मुहार आदतों को कटा हुआ भी देखना चाहते हैं, ये दोनों बातें अभी तक सम्भव नहीं हो सकीं। जो माता-पिता पूर्व के आदर्श को पश्चिम की भित्ति पर रखकर उसे सफल बनाना चाहते हैं उन्हें महात्मा गांधीजी के इस असफल प्रयोग से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

हाँ, मैं क्या कह रहा था—वही देवीदास गांधी की बात। हम लोग इकट्ठे एक ही साथ मकान में रहते थे। जब देवीदास गांधी हिन्दी के वर्ग पढ़ाने के लिए अथवा किसी और कार्यवश बाहर जाते थे, तब मैं उनकी वापसी का रास्ता कैसी अधीरता से देखा करता था ! निःसन्देह महात्मा गांधीजी के इस सुपुत्र ने अपने पिता से कुछ विभूति पाई है, जिसके कारण वह दूसरों को वश में करने की विद्या जानता है। हमारे वर्गों के सभी विद्यार्थी—बूढ़े और जवान—उनसे बड़ा स्नेह करते थे और उसी आकर्षण के कारण वर्गों का प्रचार करने में बड़ी भारी सफलता मिल गई। उसी ज़माने में महात्मा गांधीजी के पुराने भक्त, दक्षिण-अफ्रीका के उनके पुराने प्रशंसक और सहायक श्री प्रयागजी भाई देसाई भी यहाँ पर व्यवसायार्थ आये हुए थे। वे अपने हिस्सेदार के साथ हम लोगों से बराबर

मिलने आते थे और हम चारों जने समुद्र के सुखद समीर का आनन्द लेने के लिए सिन्धु-तट पर जाते थे। समुद्र में स्नान के वे मजे, वह कूद-फाँद और वह स्नेहपूर्ण हँसी-मज़ाक—आहा, क्या कभी भूल सकता हूँ ?

सचमुच मद्रास में हिन्दी-प्रचार का वह फ़िल्म मेरे जीवन की एक खास घटना है। आज हिन्दी-प्रचार का वह पौधा वृक्ष का रूप धारण कर गया है और उसके नीचे हज़ारों परीक्षार्थी विश्राम लेते हैं और राष्ट्रभाषा हिन्दी के गीत गाते हैं। लेकिन उस समय हम लोगों को स्वप्न में भी ऐसे सुन्दर परिणाम का ध्यान नहीं था। हम लोग तो काल की उस प्रबल धारा में बहे जा रहे थे जो क्रियाशील मनुष्यों को आप ही आप बहाये लिये जाती है।

हाँ, गाँधी-पुत्र के विवाह की बात। उस समय देवीदास गाँधी के हृदय में विवाह-सम्बन्धी कोई तरंग न थी। यह सच है कि स्नेह से पूर्ण इस बालक के हृदय में उस वस्तु का बीज-वपन हो चुका था जो भविष्य में विवाह का रूप धारण करता है। मैंने उसे उसी समय देख लिया था, परन्तु मुझे यह कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं था कि श्री राजगोपालाचार्य की विदुषी दुहिता के साथ इस सुन्दर गुजराती नवयुवक का पाणिग्रहण हो जायगा। लेकिन समय क्या नहीं करा सकता ? आज उन घटनाओं को घटे १५ वर्ष हो गये और देवीदास गाँधी भी अपने पूर्ण यौवन में आ गया है। उसके पिता की उस पर कैसी आशायें थीं और वे किस दिव्य स्वप्न का दर्शन इस बालक के जीवन में देखना चाहते थे, उसे महात्माजी के हृदय के बिना कौन जान सकता है ? माता कस्तूरीबाई गाँधी का यह दुलारा पुत्र अपने यशस्वी पिता और प्रातःस्मरणीया माता के आदर्शों को भविष्य में किस रूप में पूरा करेगा, इसे मैं जानने का अत्यन्त उत्सुक हूँ, क्योंकि मुझे उसके जीवन में, उसके उत्थान में और उसके कल्याण में ऐसा ही रस, ऐसी ही रुचि और ऐसा ही ध्यान है जैसा कि किसी परमहितैषी मित्र को होना चाहिये।

यह सच है कि देवीदास गाँधी के राजनीतिक विचार अपने तपस्वी पिता से बहुत भिन्न हैं और दोनों के जीवनादर्शों में भी बड़ा अन्तर है, तो भी अपने पिता का सर्वश्रेष्ठ पुत्र होने के नाते यह नवयुवक अवश्य ही अपने पिता के नाम को उज्ज्वल करेगा और भारत-माता की सेवा में जीवन लगायेगा। मेरा उसे यही आशीर्वाद है।

पैंतीसवाँ पुष्प

महापुरुष के दर्शन

बर्लिन के कुछ क्वेकर (Quakers) मित्रों ने मेरे पास निमन्त्रण भेजा और आग्रह किया कि मैं जर्मनी आकर युद्ध के विरुद्ध कुछ व्याख्यान दूं। संसार में शान्ति की स्थापना और युद्ध को सदा के लिए बन्द करने के उद्देश्य से आजकल कई-एक भद्र पुरुष और महिलाएँ अपनी सारी शक्ति योरुप की जनता को यह पवित्र शिक्षा देने में लगा रहे हैं । जर्मनी में भी इस विचार के बहुत से पोषक थे, जो रोमा रोलाँ और महात्मा गाँधी के आदर्शों का प्रचार जनता में करते थे। क्वेकर लोग तो कई सदियों से युद्ध के विरोध में अपना प्रचार व्यावहारिक रूप में कर रहे हैं और पिछले योरुपीय महासमर के समय उनमें से एक बड़ी संख्या इसी कारण अपने देश के शासकों की कोपभाजन भी बनी थी।

इन्हीं लोगों ने मेरे पास निमन्त्रण भेजकर आग्रह किया कि मैं जर्मनी की अंग्रेजी जानने वाली जनता के सामने अपने विचार प्रकट करूँ, जो बाद में अनुवादित होकर समाचार-पत्रों में छपवा दिये जायेंगे । मैंने चूंकि उस समय न्यूयार्क में एक व्याख्यानमाला प्रारम्भ की हुई थी, इसलिए अपने मित्रों को उत्तर लिख भेजा कि व्याख्यानमाला पूरी होते ही मैं अटलान्टिक महासागर को पार करूँगा। जब व्याख्यानमाला समाप्त हुई तो मैंने योरुप जाने की तैयारियाँ कीं। आजकल की तैयारियाँ भी क्या हैं—मामूली सामान लेकर यात्री अमरीका से योरुप और योरुप से अमरीका जाते-आते रहते हैं। विज्ञान ने आजकल सब कुछ आसान कर दिया है। हम एक दूसरे के अत्यन्त निकट होते जा रहे हैं। जो यात्रा महीनों में हो सकती थी, वह आज दिनों में समाप्त कर ली जाती है । मैंने अपनी ज़रूरी पुस्तकें और व्याख्यानों की सामग्री साथ ले ली; यही मेरा आवश्यक सामान था।

वर्लिन में ग्रूनावाल्ड नाम का स्थल अत्यन्त रमणीक है। वड़े-वड़े शहरों के इर्द-गिर्द आवादी वढ़ जाने के कारण छोटे-छोटे क़स्वे आवाद हो जाते हैं, जहाँ वे लोग जिन्हें शहर में सुभीते का मकान नहीं मिलता, या वे जो शहर की गन्दी हवा में रहना पसन्द नहीं करते, वस्तियाँ वसाते हैं। पाश्चात्य देशों के प्रत्येक वड़े नगर के इर्द-गिर्द इस प्रकार की वस्तियाँ हैं, जो पहले शहर से अलग मानी जाती थीं परन्तु वाद में वड़े शहर का अंग वन गई। ग्रूनावाल्ड भी ऐसी ही एक वस्ती वर्लिन शहर से वाहर वसी हुई है, जहाँ महासमर के पहले प्रायः धनी लोग वसते थे और अव जर्मनी की आर्थिक अवस्था विगड़ जाने के कारण सव स्थितियों के लोग रहते हैं। यहाँ की हवा वड़ी नीरोग और गलियाँ वड़ी साफ़-सुथरी वनी हुई हैं, जहाँ मीलों घूमने का आनन्द मिलता है। वड़े मनोहर पार्क भी आस-पास हैं और लड़कों के खेलने के लिए एक विशाल क्रीड़ा-स्थल भी है। इसी वस्ती में रहने वाले अपने मित्र मिस्टर व्लॉक के घर में आकर मैं ठहरा।

ये अगस्त के मध्य के दिन थे। मेरे व्याख्यान शहर की क्लवों में हुए। लोगों में युद्ध के विरुद्ध अच्छी जागृति देखकर मैं वड़ा प्रसन्न हुआ। जर्मन भाषा में एक पुस्तक युद्ध के विरुद्ध निकली है। इसका नाम है—"पश्चिमी सीमा पर कोई ख़वर नहीं।" इस किताव की लाखों प्रतियाँ छपी हैं और यह पुस्तक अत्यन्त ही लोकप्रिय है। इसका अनुवाद योरुप की प्रत्येक भाषा में होगया है। इस पुस्तक ने युद्ध के विरुद्ध वड़ा जवर्दस्त प्रोपेगेंडा किया है। मुझे सभी क्लवों में सुनने वालों की अच्छी भीड़ मिली और समाचार-पत्रों ने वड़ी उदारता से टिप्पणियाँ कीं। मैं अपने व्याख्यानों के प्रोग्राम में ही लगा हुआ था कि समाचार-पत्रों में यह खवर छपी—"मिस्टर गांधी लन्दन के लिए रवाना होगये।"

मैं तो खुशी के मारे उछल पड़ा। मेरे पास महात्मा गांधी का एक पत्र पहले आ चुका था, जिसमें उन्होंने योरुप-यात्रा का विचार छोड़ देने की वात लिखी थी। मुझे कोई आशा नहीं थी कि महात्मा जी योरुप आवेंगे।

अब जब अकस्मात् इस प्रकार की खबर अखबारों में छपी और मुझे पूरी तरह से तसल्ली होगई कि महात्मा गांधी पी० एण्ड ओ० कम्पनी के 'राजपूताना' जहाज पर सवार होकर योरुप आ रहे हैं, तो मैंने अपना प्रोग्राम बदल दिया और उस महापुरुष का दर्शन करने के विचार से र्बलिन छोड़ने की तैयारी करने लगा। मिस्टर ब्लॉक ने मेरी बड़ी खातिर की और वे चाहते थे कि मैं इतनी जल्दी जर्मनी से न जाऊँ, परन्तु जब मैंने उन्हें महात्मा गांधी के प्रति जो श्रद्धा और भक्ति मेरे हृदय में है उसका वर्णन किया तो वे सहमत होगये और उन्होंने अपने एक विश्वासपात्र मित्र मिस्टर रोज़न हाइन को मेरे साथ लन्दन तक जाने के लिए तैयार कर दिया। पी० एण्ड ओ० कम्पनी का जहाज १२ सितम्बर को मार्सलेज़ पहुँचने वाला था, इसलिए मैंने यह सोचा कि महात्मा गांधी से मिलने का अच्छा मौक़ा फ़ोक्सटोन में मिलेगा, क्योंकि वहाँ वे सब अंग्रेज़—स्त्री और पुरुष—एकत्रित होंगे जो महात्माजी के मिशन में उनकी मदद करने वाले हैं, वहीं पर मुझे भी रहना चाहिए और मैं यह भी देख सकूंगा कि महात्माजी का अंग्रेज लोग कैसा स्वागत करते हैं।

सचमुच यह मेरे बड़े सौभाग्य की बात थी कि मैं महात्मा गांधी से भेंट करने के लिए वहाँ पहुँचा जहाँ उन्होंने सब से पहले इंगलैंड की भूमि पर पैर रखना था। वह शनिवार, १२ सितम्बर की सुबह, मेरे जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रक्खेगी। इंगलिश चैनल को पार करने वाले स्टीमर की इन्तजार में मैं उस प्रातःकाल फ़ोक्सटोन के बन्दरगाह पर खड़ा था। यह आदर्श अंग्रेजी मौसम था—खूब ठण्डा, गहरी धुन्ध और बीच-बीच में मेंह की बौछार! प्रचण्ड वायु समुद्र की लहरों में सफेद झाग पैदा करता था और शरीर को हड्डियों तक कम्पा देता था। लहरें झूले की तरह ऊपर नीचे जाती हुई बह रही थीं, जिन्हें देखकर भय प्रतीत होता था। मैं ब्रिटिश सरकार के एक अधिकारी के साथ बातें कर रहा था। ब्रिटिश सरकार ने पुलिस का एक दस्ता महात्मा गांधी की रक्षार्थ भेजा था। मैं उन्हीं के अफसर के साथ बातें करने में मशगूल था।

हम लोग पहले तो इधर-उधर के विषयों पर बातचीत करते रहे। अचानक ही उसने अपना हाथ उठाया और इशारा करके मुझसे कहने लगा — "क्या आप उस ज़मीन के टुकड़े को देखते हैं? वह जो सफेद पहाड़ियों के पास उत्तर की ओर डोवर की तरफ है ? यह वह स्थान है जहाँ पर विख्यात रोमन विजेता जूलियस सीज़र अपनी फौजें लेकर ब्रिटेन को फतह करने के लिए आया था।"

'इंगलिस्तान को विजय करने के लिए!' यह शब्द मेरे कानों में गूंजने लगे। मेरे सामने रोमन इतिहास का वह चित्र खिंच गया जब सीज़र अपनी दुर्दमनीय सेना के साथ इंगलैण्ड की भूमि पर उतरा था। उसकी बीसवीं रेजिमैन्ट इस भूमि पर तीन सौ वर्ष तक पड़ी रही और इंगलैंड के लोगों पर शासन किया। उस रोमन विजेता का वह चित्र मेरी आँखों के सामने कुछ मिनटों तक रहा। इसके बाद एक दूसरा पर्दा उठा। सीज़र के एक हज़ार वर्ष बाद दूसरा विजयी वीर इंगलैण्ड की भूमि पर अपनी सेना लेकर आया—नार्मण्डी का वह विश्वविख्यात सेनापति विलियम प्रथम जिसने इंगलिस्तान के निवासियों को पराजित कर वहाँ पर अपना उपनिवेश क़ायम किया। यह विजेता फौक्सटोन से कुछ मील दक्षिण की ओर पैन्सकाई में उतरा था और यहाँ के सैक्सन लोगों को उसने बड़ी विकट पराजय दी थी। एक हजार वर्ष और बीत गये। इंगलिस्तान के लोगों के लिए विजयी विलियम से पराजय कथामात्र रह गई। अब एक तीसरा आक्रमणकारी एक हजार वर्ष के बाद फिर इंगलिस्तान की भूमि पर उतरता है। उसका स्टीमर कुछ ही मिनटों में इस बन्दरगाह पर आ लगेगा। उसके पास कोई फ़ौज नहीं। वह अपने साथ कोई भयंकर हथियार मनुष्यों का संहार करने के लिए नहीं लाया। वह किसानों के लहलहाते खेतों, सुरम्य उद्यानों, घने जंगलों और बसे हुए नगरों को उजाड़ने के लिए नहीं आता। उसका मिशन घृणा का नहीं और न वह किसी से द्वेष रखता है। वह प्रेम का सन्देशा देने के लिए आया है। उसका हथियार अहिंसा है, जो सब प्राणियों को अभयदान देता है। पिछले दो विजेता इंगलैंड को

पाँवों तले रौंदने के लिए आये थे, उसका मान मिटाने के लिए आये थे और उस पर शासन करने के लिए उन्होंने शस्त्रों का प्रयोग किया था, परन्तु यह विजेता अपने ढंग का निराला है, जो संसार के इतिहास में एक नया युग लाने वाला है । यह मनुष्यों के हृदयों पर विजय पाता है । इस तूफ़ानी इंगलिश चैनल को पार करने वाला यह विजेता इंगलैंड को एक बड़े खतरे से बचाने के लिए आ रहा है—वह खतरा जो प्रत्येक साम्राज्यवादी राष्ट्र को होता है । वह चाहता है कि इंगलैण्ड रोमनों की तरह मिट न जाये, बल्कि अपना अस्तित्व क़ायम रखकर संसार के ज्ञान के भण्डार की वृद्धि करे ।

मैंने अपने चश्मे पर पड़ी हुई वर्षा की बूंदों को रुमाल से दूर किया और शीशे को साफ़ किया, ताकि मैं धुन्ध में से समुद्र को देख सकूं और आने वाले स्टीमर का कुछ पता पा सकूं । दूर सामने क्षितिज पर सफ़ेद छोटा सा दाग़ दिखाई देने लगा । वह वही स्टीमर था जो महात्मा गान्धी को हमारी ओर ला रहा था । देखते-देखते स्टीमर निकट आ गया और बन्दरगाह के किनारे पर आ लगा । वह खास प्रतिनिधि जो ब्रिटिश सरकार की ओर से महात्मा गान्धी का स्वागत करने के लिये मौजूद था, सबसे पहले स्टीमर पर चढ़ा । केवल इसी को पहले जाने की आज्ञा थी, बाक़ी हम सब जने प्रतिबन्धक के पीछे खड़े थे । महात्मा गान्धी के मित्र, भारतवर्ष के प्रतिनिधि, कैन्टरबरी का डीन, अखबारों के सम्वाददाता, फ़ोटोग्राफ़र और दर्शकों की बड़ी भीड़—ये सब यहाँ पर बड़े धैर्य्य से महात्मा गान्धीजी का दर्शन करने के लिए खड़े थे, लेकिन हम लोगों को बहुत समय तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी । उस अधिकारी ने अधिक समय नहीं लिया । थोड़े ही मिनटों के बाद हम लोग स्टीमर पर चढ़े और मैंने अपने आपको महात्मा गान्धी के केबिन के दरवाज़े पर खड़ा पाया । मैं अन्दर जाने की प्रतीक्षा में था, क्योंकि महात्मा गान्धीजी एक दूसरे नवयुवक के साथ बातों में मशगूल थे । यहाँ मुझे महात्मा गान्धीजी की पहली झाँकी मिली । वे अपनी बर्थ पर पालथी मारे बैठे थे और वह नवयुवक किसी विषय पर उनके

साथ विचार में मग्न था। यह वही क्वेकर नवयुवक था—रेगनॉल्ड रेनल्ड्स—जो महात्मा गान्धी के साथ उनके आश्रम में कुछ समय तक रहा था और जिसको गान्धीजी ने अपनी डाँडी यात्रा से पहले वायसराय के पास चिट्ठी देकर भेजा था। उसी चिट्ठी ने रैनल्ड्स का नाम प्रसिद्ध कर दिया। गान्धीजी की टांगें नंगी थीं, उनका शरीर खद्दर की शाल से ढ़का हुआ था। उनका सिर और कन्धे आगे की ओर झुके हुए थे, ताकि वे रैनल्ड्स की बातें अच्छी तरह सुन सकें। एक नंगी लंबी और पतली भुजा ने रैनल्ड्स के हाथ से एक काग़ज़ ले लिया। दोनों के बीच बड़ी शीघ्रता से कुछ वार्तालाप हुआ, तब मैंने गान्धीजी के चेहरे पर मधुर मुस्कराहट देखी और रैनल्ड्स की मुलाक़ात समाप्त हुई।

अब मेरी बारी आई। मैंने उस छोटे केबिन में प्रवेश किया। तत्क्षण गान्धीजी खड़े होगए। वे स्कूल के छात्र की तरह उछलकर अपनी जगह से नीचे उतरे और आगे बढ़कर स्वागत के रूप में मेरे साथ हाथ मिलाया। मैंने अनुभव किया कि मेरा हाथ एक मज़बूत पंजे ने पकड़ लिया है; जिसे मैं दुबला-पतला समझता था, उसका हाथ कसरती की तरह मज़बूत निकला। मैंने महात्माजी की चमकती हुई आँखें देखीं—वह दिव्य प्रकाश जो उनके मोटे और भद्दे चश्मे की बाधा होने पर भी जगमगा रहा था। मेरे कानों ने उनकी आवाज़ को सुना—वह मीठा, गम्भीर और मृदु स्वर जिसने मेरा नाम लिया और मैंने अपने आपको धन्य-धन्य माना। वे अमूल्य लहमे थे, जिनमें मेरी महात्माजी से पहली भेंट हुई। मैं इतना प्रभावित हुआ कि मुझे गान्धीजी के कहे हुए शब्द भी स्मरण नहीं रहे। इस पहली मुलाक़ात में हार्दिक भावों का अधिक वेग था। वर्षों की दबी हुई भूख थोड़े ही से लहमों में शान्त नहीं हो सकती थी, केवल कुछ रसास्वादन ही कर सका। मेरे मुंह से कुछ शब्द नहीं निकल सके। मैं उस महापुरुष के सामने खड़ा था जिसकी आत्मा ने कई वर्ष पहले समुद्र, महाद्वीप और हज़ारों मील लाँघकर मुझे अपना दैवी सन्देश सुनाया था, जिसके विषय में मैंने हज़ारों नर-नारियों के सम्मुख उसकी कीर्ति गान की थी और जिसके

लेख में 'यङ्ग-इण्डिया' में बड़े चाव से पढ़ा करता था। उस महापुरुष के सामने आज मैं उपस्थित होकर उसकी महान् आत्मा के प्रभाव से प्रभावित हो रहा था—वह प्रभाव जो अमिट होता है।

यह पहला प्रभाव किस प्रकार का था? उसमें दूसरे प्रभावों की अपेक्षा क्या भेद था—वे संस्कार जो मुझ पर बाद की मुलाक़ातों में पड़े? मेरे लिए इस प्रश्न का उत्तर देने में कोई कठिनाई नहीं। यह प्रभाव उस महापुरुष के सौन्दर्य्य का था, जिसने मेरे हृदय पर अपना अधिकार जमा लिया। लोग कहते हैं कि गांधी बड़ा बदसूरत है और छोटे बन्दर की तरह उसका शरीर है, उसके दाँत सब गिरे हुए हैं और वह महा भद्दा बौना आदमी है। मुझे अत्यन्त आश्चर्य है कि उन्हें ऐसा संस्कार कैसे पड़ा? यह सच है कि गांधीजी का शरीर और अंग कृश हैं, तपस्या के कारण उनके शरीर पर फालतू मांस नहीं, लेकिन गांधीजी की काया विशाल, आकृति सीधी तथा क़द खासा लम्बा है। मैंने बहुत ऐसे भारतीयों को देखा है जो महात्मा गांधीजी की अपेक्षा बहुत छोटे क़द के थे। यह भी सच है कि महात्मा गांधीजी की मुखरेखा आकर्षक नहीं। उनका सिर मुंडा हुआ, बड़े-बड़े कान, मोटे होंठ और दन्तरहित मुंह, लेकिन उनका स्याह रंग, सफेद खद्दर की शाल के पृष्ठ देश पर अत्यन्त भला लगता था। उनकी आँखें मोमबत्तियों की तरह रात को प्रकाश देती हैं और सबसे बढ़कर मुस्कराहट की वह ज्योति है जो प्रातःकाल के सूर्य की किरणों की तरह लावण्यमयी है। इस महापुरुष के बाह्य शारीरिक स्वरूप का इतना प्रभाव नहीं जितना कि उसकी आत्मा का प्रभाव दर्शक पर पड़ता है। फौरन आप पर उनकी सादगी, सच्चाई और सरलता का प्रभाव पड़ता है। वह बालक की तरह बिना किसी बनावट, लागलपेट और अस्वाभाविकता के आप से मिलता है। उसकी जगद्विख्यात महापुरुषता के बावजूद उसमें अहम्मन्यता का एक अणु भी नहीं। अपनी उच्चशिक्षा और वर्षों के कठिन अनुभव होने पर भी उसमें कुण्ठता, छल और लेशमात्र भी अभिमान नहीं है। आप फौरन इस बात को महसूस करेंगे कि उसकी बाहर की आकृति का भद्दापन और उसके

विचित्र रहने के ढंगों में किसी प्रकार का भी दम्भ अथवा कपट नहीं, वल्कि एक महापुरुष की सत्यता और निर्भयता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। अतएव गांधीजी की शक्ल-सूरत का प्रभाव विल्कुल गौण हो जाता है, मुख्य वात यह है कि वे कैसे आदमी हैं, उनका स्वभाव कैसा है। आप एक विकृत शरीर द्वारा साक्षात् सत्य की मूर्ति का दर्शन करते हैं। असल में यही वस्तु है जो गान्धीजी को सुन्दर वनाती है। क्योंकि यदि आप सचमुच किसी सुन्दर पदार्थ का दर्शन करना चाहते हैं तो सबसे पहले आपको यह जान लेना चाहिये कि वह सत्य है या असत्य। सुन्दर वही है जो सत्य और शिव है। कविवर कीट्स ने अपनी एक कविता में इसी का समर्थन किया है। वह कहता है—'सत्य ही सुन्दर है और जो सुन्दर है वही सत्य है।' यही सिद्धान्त जानने योग्य है।

कुछ मिनटों के वाद हम लोग फ़ोक्सटोन से चले। गांधीजी के लिए सरकारी मोटरकार तैयार थी, जिस पर सशस्त्र पुलिस का पहरा था। मैं रेलगाड़ी में महात्मा गांधी के लड़के देवीदास के साथ सवार हुआ। हमारे साथ मिस स्लेड भी थी, जिसका नाम अव मीरावाई प्रसिद्ध है। हम वहुत शीघ्र लन्दन पहुँच गये और कीचड़ और वर्षा के वीच क्वेकर लोगों की उस सभा में पहुँचे जहाँ महात्मा गांधी के स्वागत का प्रवन्ध किया गया था। वहीं पर सभा होने वाली थी। ज्यों ही गान्धीजी ने व्याख्यान-भवन में प्रवेश किया, उस समय मेरे मन पर उनकी सुन्दरता का वड़ा भारी प्रभाव पड़ा और उनके जवर्दस्त व्यक्तित्व ने मेरे हृदय पर गहरी छाप डाली। किस तेजस्विता से वह प्लेटफ़ार्म पर गये, किस गम्भीरता से उन्होंने अपने सामने वैठी हुई अंग्रेजी जनता का निरीक्षण किया और किस प्रभुता से उन्होंने उन स्त्री-पुरुषों को वश में कर लिया! समय और हालात से अनभिज्ञ, महात्मा गान्धी की महत्ता से नितान्त अपरिचित किसी दर्शक के लिए वह दृश्य हास्यास्पद हो सकता था। व्रिटिश-साम्राज्य की राजधानी लन्दन में, ईसा की/इस वीसवीं शताव्दी में, वैज्ञानिक सभ्यता के प्रचण्ड युग में, यहाँ एक अजनवी हिन्दुस्तानी अपने नंगे पैरों, नंगी टाँगों के साथ घुटनों तक धोती पहने

हुए, जिसका शरीर खद्दर की चद्दर से ढका हुआ है, फैशनेबिल अंग्रेजी स्त्री-पुरुषों के सामने भाषण देने के लिए आता है और अपनी जगह पर भगवान् बुद्ध की तरह शान्त और निश्चिन्त होकर बैठ जाता है। यह दृश्य अज्ञानी के लिए भले ही हास्यास्पद लगे, लेकिन मनुष्य-स्वभाव के निरीक्षक और मनोविज्ञान से परिचित व्यक्ति के लिए तो निस्सन्देह यह दैवी चित्र था। सम्मानसूचक वह चुप जो उस कमरे में महात्मा गान्धी के प्रवेश करते ही व्याप्त होगई, उसे मैं कभी नहीं भूलूंगा। क्योंकि अब प्रथम बार मुझे उस रहस्य का पता चला कि जिसके कारण गान्धीजी का अपने देश के करोड़ों जन-साधारण पर जादू का सा असर था। यदि गान्धीजी के स्थान पर कोई सम्राट् वहाँ उपस्थित होता तो उसके सामने हम में महात्मा गान्धी से अधिक सम्मान की भावना उत्पन्न न होती। अकस्मात् ही मुझे अंग्रेजी पत्रकार मिस्टर कार्नेज़ का कथन स्मरण हो आया, जिसने मुझसे कहा था कि ज्योंही आप महात्मा गान्धी के समीप जायेंगे त्योंही आपको शाही वातावरण का भान होने लगेगा। इससे कुछ दिन पहले मेरी मुलाक़ात एक अत्यन्त सुन्दर, शाही ठाठ वाले व्यक्ति से हुई थी जो ३० वर्ष तक बादशाह रह चुका था। बावजूद उसके सारे राजसी ठाठ-बाठ के उसका प्रभाव मेरे हृदय पर गाँधीजी के मुक़ाबले में कुछ भी न पड़ा था।

लेकिन महात्मा बादशाहों की तरह नहीं था। उसकी बोलचाल, उसके कपड़े, उसका बदन और उसकी चाल-ढाल राजाओं जैसी हुकूमत चलाने वाली नहीं थी। उस दोपहर को उनके शब्द बड़े कोमल लेकिन एक स्वर में कहे गये थे। तो भी जैसे ही वे शब्द हमारे कानों में पहुँचे, उनका प्रभाव शाही घोषणा की तरह हम पर पड़ा। गाँधीजी ने स्पष्ट तौर से तीन बातें बतलाईं। सब से पहले, अपना कहने का अधिकार। क्यों वे इंगलिस्तान आए? वह एक व्यक्ति नहीं, बल्कि एक संस्था और राष्ट्र का प्रतिनिधि है। बिना किसी विरोध के वह कह सकता है कि वह भारतवर्ष के मूक, नंगे और भूखे करोड़ों नर-नारियों का प्रतिनिधि है। दूसरी बात गाँधीजी ने आज्ञापत्र के विषय में कही—"वह ब्रिटिश पार्लिया-

मेंट के साथ किसी प्रकार का अपनी ओर से स्वतन्त्र समझौता करने के लिए नहीं आया, बल्कि कांग्रेस ने जो शर्तें पेश की हैं उन्हें बतलाने के लिए आया है। वह कांग्रेस के आज्ञापत्र के बाहर नहीं जा सकता। जो अमानत उसके हाथ में उसके देश की राष्ट्रीय सभा ने दी है, वह उसके विरुद्ध नहीं कर सकता।" तीसरी बात उन्होंने अपने आदर्श के विषय में यह कही—"आज्ञापत्र क्या कहता है ? स्वाधीनता ! स्वाधीनता !! कांग्रेस भूखे, नंगे और मूक भारतीयों के लिए शुद्ध स्वाधीनता चाहती है, इस आदर्श में से रत्ती भर घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता।" महात्मा गाँधी एक भविष्यवक्ता की तरह बोले और उन्होंने एक शासक की नाईं अपना सन्देश सुनाया।

मैं वापिस न्यूयार्क आ गया। अपने पुस्तकालय में कुर्सी पर बैठा हुआ खिड़की में से देख रहा था। मेरे सामने यात्रा के दृश्य घूमने लगे। मैंने संसार के सब से बड़े महापुरुष के दर्शन किये। हज़रत ईसा के विषय में हम पुस्तकों में पढ़ते हैं, भगवान् बुद्ध के महान् कार्य्यों की बाबत हमें विस्मय-जनक बातें बतलाई जाती हैं, परन्तु वे ऐतिहासिक घटनाएं हैं, जिनके विषय में हमें दूसरों के कथनों पर निर्भर रहना पड़ता है, लेकिन यह महापुरुष, जिसके मैंने दर्शन किये हैं, इस युग का पैग़म्बर है। आने वाली सन्तान तो उसकी कथाएं ही कहेंगी, पर मैंने तो उससे साक्षात्कार कर लिया है। सचमुच महापुरुष होने के लिए महान् गुणों की आवश्यकता है, बड़ी तपस्या की आवश्यकता है और बड़े धैर्य्य की ज़रूरत है। महात्मा गाँधी अपने विरोधियों, गाली देने वालों और निन्दकों से द्वेष नहीं करते। डाक्टर अम्बेदकर ने किस प्रकार उनका अपमान किया, परन्तु तिस पर भी गाँधीजी के चेहरे पर ज़रा भी मैल नहीं आई। उनका हृदय कैसा निर्मल और कैसा विशाल है ! यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे युग परिवर्तन करने वाले इस महापुरुष से भेंट होगई। मैंने अत्यन्त निकट बैठकर उसका अध्ययन कर लिया। इस प्रकार सोचते-सोचते मेरा हृदय गद्गद् होगया और मैंने सिर झुकाकर प्रभु को धन्यवाद दिया कि जिसने

मुझे ऐसे अवसर पर उत्पन्न किया कि जब एक जगत्-श्रेष्ठ महापुरुष के दर्शन हो सके । भारतवर्ष धन्य है, उसकी संस्कृति धन्य है, उसका साहित्य धन्य है और उसकी उपनिषदें धन्य हैं, जिनके उपदेशों ने ऐसा महापुरुष संसार को दिया है ।

महापुरुष का लक्षण

वे नर पुंगव हैं महा, वही शाह सिरताज,
जो निज विमल चरित्र से, उन्नत करें समाज ।
उन्नत करें समाज, यथा चन्दन करता है,
चहुँ दिशि चारु सुगन्ध, तरुगण में भरता है ।
कहे 'देव' उत्थान हो जिनके सतसंग से,
जो भर दें सम भाव, महापुरुष हैं सत्य वे ।



छत्तीसवाँ पुष्प

परिव्राजक के अनुभव

दिन के बारह बज चुके थे। मैं पठानकोट के स्टेशन पर सेकण्ड क्लास के वेटिंग रूम के पास कुर्सी पर बैठा हुआ शीतल पवन का आनन्द ले रहा था। पहाड़ पर वर्षा आरम्भ हो चुकी थी, इस कारण हवा में ठंडक पड़ गई थी। अमृतसर जाने वाली गाड़ी प्लेटफार्म पर आकर लगी और उसका एक सेकण्ड क्लास का डिब्बा आया ठीक मेरे सामने। मैं खुश होगया, क्योंकि मुझे उसी में बैठना था। लेकिन मेरे देखते-देखते डलहौजी वाली बस से तीन फौजी गोरे उतरे और झट से आकर उसी डिब्बे की तीनों सीटों पर अपने बिस्तरे रखकर खुद पेट भरने के लिए 'भोजन-घर' में चले गए। मेरा कुली घबराया हुआ मेरे पास आया और बोला--"स्वामीजी, यह डिब्बा तो गोरों ने घेर लिया और अगला जो दूसरे दर्जे का डिब्बा है वह रिज़र्व है। अब आप कहाँ बैठेंगे?"

मैंने हँसकर जवाब दिया--"अरे, वे तीन ही गोरे हैं न? वे सारा डिब्बा तो सँभालेंगे नहीं।"

खैर, मैंने सामान उठवाया। मेरे पास छः अदद थे--चार मेरे और दो मेरे विद्यार्थी के। अपना सामान उसी डिब्बे में रखवाकर मैं बीच की सीट पर बैठ गया। मेरे सिर पर बिजली का पंखा था। एक भलामानस आकर उसे ठीक मेरे अनुकूल कर गया और मैं उसकी हवा के झोंके लेने लगा। एक प्रेमी महाशय मेरे लिए भोजन ले आए। भोजनोपरान्त मैंने टिकट खरीदा। देहली तक २४) पड़ गए। अब मैं लगा गाड़ी के चलने की इन्तजारी करने।

स्टेशन पर के लोग कुछ विस्मित से थे, क्योंकि उन्होंने मुझे गोरों की गाड़ी में बैठे हुए देखा। कुली भी बार-बार आकर झाँक जाते थे। गाड़ी

के चलने के कुछ ही मिनट पहले वे तीनों गोरे सिपाही आगए। एक तो एक सीट पर बैठ गया और दो दूसरी सीट पर। बीच की सीट उन्होंने मेरे लिए ही रहने दी, यद्यपि आधी जगह पर एक बिस्तर रक्खा हुआ था। बातें होने लगीं। अनुभव ने मुझे बतलाया है कि फ़ौज के सिपाही अल्हड़ बच्चों की तरह होते हैं, केवल उन्हें वश में करने की विधि जाननी चाहिए। अंग्रेजी भाषा में जिन शब्दों को slang अर्थात् अश्लील कहते हैं, फ़ौजी सिपाही परस्पर के वार्तालाप में उनका बहुधा व्यवहार करते हैं। कारण इसका यह होता है कि अधिकांश रंगरूट समाज के उस समुदाय में से भर्ती किए जाते हैं जिसे हम नीच समझते हैं, और जो अच्छे खानदान के लड़के जाते भी हैं वे भी उसी समाज में रहने के कारण अपशब्दों का व्यवहार करने लगते हैं। फौजियों में खूब दिल्लगी चल रही थी और उनका अट्टहास मुझे प्रसन्न करता था। एक ने जरा गम्भीर लहजे में अपने साथियों से कहा—"हिन्दुस्तान में बहुत जल्द बड़ी मारकाट होने वाली है।"

शायद यह वाक्य उनके मुंह से बिना सोचे-समझे ही निकल गया, क्योंकि उसके दो साथियों ने इस विषय को बदल कर और ही बातें शुरू कर दीं। यह पैसेंजर ट्रेन थी, इस कारण सभी स्टेशनों का परिचय देती जा रही थी। जब वे बातें करते-करते थक गए, तो उनमें से एक ने ऊपर की सीट पर अपना बिस्तरा जमाया और उसके दोनों साथी नीचे की सीटों पर लम्बे होगये। रह गया मैं, सो मेरे लिए सोने को काफी जगह नहीं थी। थोड़ी देर के बाद मेरे दाहिने हाथ की सीट पर लेटा हुआ नवयुवक उठा और बड़े मीठे शब्दों में मुझ से कहने लगा—

"इस मेरे बिस्तरे से आपको कष्ट होता है; लीजिये; मैं इसे उठा लेता हूं। आप भी लेट रहें।"

मैंने उसे बहुत धन्यवाद दिया और अपने पैर पसार लिये। देखते देखते वह सो गया। अब मुझे बहुत अच्छा मौका उसे निरीक्षण करने का मिला। वह सुन्दर नवयुवक था—कोई बाईस वर्ष का होगा, पर था इकहरे बदन का। साफ, दाढ़ी मूंछ सफाचट। उसका चेहरा मुझे बहुत प्यारा लगा और

में कुछ विचारों में निमग्न होगया। मैं सोचने लगा—"कैसे अच्छे स्वभाव का यह लड़का है! इसने फौरन मेरे कष्ट को अनुभव कर लिया। ब्रिटिश जाति का यह शिष्टाचार इंगलैंड में तो बहुत देखने को आता है, लेकिन भारतवर्ष में प्रायः ये लोग अपने उन सौजन्य के गुणों को भूल जाते हैं, तो भी इस लड़के की तरह मिष्ट स्वभाव रखने वाले अंग्रेज मुझे इस देश में भी बहुत मिले हैं। कल को यही नवयुवक जब कहीं ड्यूटी पर चला जाएगा, तो अपने अफसर के हुक्म से हमारी अबोध जनता पर फौरन गोली चला देगा। उस समय इसमें कितना परिवर्तन हो जाता है! यही अल्हड़ नौजवान हिंसक जन्तुओं की तरह आदमियों का खून कर देता है। समाज की यह क्या व्यवस्था है जो इस प्रकार मनुष्यों को हिंसक बना देती है?"

मैं इस प्रकार के विचारों में डूबा हुआ ही था कि वह जाग उठा और हम दोनों में बातें होने लगीं। उसका जन्म लंदन में हुआ था और जब मैंने उसे अपनी लन्दन-यात्रा की बातें बताईं तो उसका हृदय पुलकित हो उठा। उसे अपनी प्यारी जन्मभूमि याद आगई और अब हम दोनों में कुछ घनिष्ठता बढ़ी। वह बन्नू की तरफ़ जा रहा था और एक महीने की छुट्टी पर डलहौज़ी की सैर करने आया था। हम लोग बातें कर ही रहे थे कि स्टेशन आ गया। स्टेशन पर एक आदमी आड़ू बेच रहा था; छोटे बच्चों की तरह ये तीनों सिपाही आड़ूवाले को बुलाने लगे और उससे आध-आध सेर आड़ू खरीद लिये। उन कच्चे आड़ुओं को पाकर वे अत्यन्त खुश होगये और अपना-अपना चाकू निकाल कर लगे खाने। वह सुन्दर नवयुवक कहने लगा—"इतने आड़ू लन्दन में आधे शिलिंग में भी न मिलेंगे। यहाँ इण्डिया में तो बड़ी मौज है।"

मैं ग़ौर से उन्हें देख रहा था और सोचता था कि ये लोग हिन्दुस्तान में किस लिए आए हैं। सात हज़ार मील के फासले से ये लोग यहाँ आकर इस देश पर फौजी शासन करते हैं। क्यों? इतने में दो और मुसाफिर उसी डिब्बे में चढ़े। वे बैठ गए। गाड़ी चलने लगी। मैं अपने संकल्प-

विकल्पों में ही डूबा हुआ था। जो मुसाफिर मेरे पास बैठा था उसने मुझ से पूछा—

"आपका शरीर बड़ा सुन्दर और सुडौल है। यह आपने कैसे बनाया ?"

मेरा ध्यान भंग हुआ और मैंने प्रश्नकर्त्ता की ओर देखा। मैंने साधारण-सा उत्तर देकर इस विषय को ख़त्म करना चाहा, पर वे दोनों मुसाफिर मानो किसी उद्देश्यवश मुझसे बातें करने के अत्यन्त इच्छुक थे। उसके दूसरे साथी ने मुझे सम्बोधित कर कहा—

"क्या आपने कभी मज़हब के विषय में भी कुछ सोचा है ?"

मैंने उत्तर दिया—"हाँ, खूब सोचा है।"

वह बड़े गम्भीर भाव से बोला—"तो आप हमारे इस्लाम को कैसा समझते हैं ?"

इस प्रश्न ने मेरी चकौटी काट ली और मैं चौंक पड़ा। मैंने जान लिया कि मेरे सामने दो दीवाने कादियानी बैठे हुए हैं, जिनके सिर पर यह ख़ब्त सवार है कि मिर्ज़ा गुलाम अहमद कादियानी इस ज़माने का आख़िरी पैग़म्बर है और यह दीवाने मुझे मुसलमान बनाने की फ़िक्र में हैं। मैंने एक ठण्डी साँस भरी और चित्त में कहा—"इन दोनों से तो यह तीन गोरे फौजी लाख दर्जे अच्छे हैं। इन गोरों के सिर पर मज़हब का भूत सवार नहीं, इस कारण ये इन्सानी नाते से मेरे साथी हो सकते हैं; पर यह मज़हबी दीवाने, दूसरे मज़हबों की बुराइयाँ ढूंढ़ने, दूसरे महापुरुषों के दोष तलाश करने और अपने मज़हब को सबसे बड़ा, अपने पैग़म्बर को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने में अपनी सारी ताक़त लगा रहे हैं। यदि मैंने इनके साथ थोड़ी देर भी बात की तो झगड़ा हो जायगा और यात्रा का मज़ा भी किर-किरा होगा। यही तो सबब है कि सात हज़ार मील के फासले से आकर ये अंगरेज़ इस देश पर शासन करते हैं। हमारे आदमी अभी तक साम्प्रदायिक गोरखधन्धों में बुरी तरह उलझे हुए हैं। वे बैल की तरह खूंटे से बँधे हुए हैं और उसी के गिर्द घूम-घूम कर सार। ख़ुदाई ज्ञान पाने की इच्छा रखते हैं। ये इन्सान भी नहीं रहे, बल्कि मज़हब के नाम पर हिंसक

जन्तुओं की तरह एक दूसरे का गला काट देते हैं। इनसे तो ये फौजी गोरे लाख दर्जे अच्छे हैं।"

जब उन कादियानियों ने मुझ से बार-बार वही सवाल किया तो मैंने थोड़े में उनकी तसल्ली कर दी। वे अवाक् से रह गए। मैंने उनसे कहा—"मैं कोई इल्हामी किताब नहीं मानता और न किसी महापुरुष को पैग़म्बर समझता हूँ। बड़े आदमी अपने काल के निर्माता होते हैं, तीनों युगों के नहीं। मैं अनन्त ज्ञान की खोज में इस विशाल सड़क पर जा रहा हूँ और जहाँ भी जो अच्छी बात मिलती है, ले लेता हूँ। मेरा काम छिद्रान्वेषण नहीं, बल्कि ज्ञान-संचय करना है। सभी सम्प्रदायों में केवल मज़हबी दुकानदारी है। जब तक मानव-समाज मज़हब के मायाजाल से नहीं निकलेगा, तब तक उसे ख़ुदा का रास्ता नहीं मिल सकता।"

अमृतसर का स्टेशन आगया। उन दो मुसाफिरों ने मुझसे बड़े प्रेम से विदा ली और बोले—"आपके ख्याल सुनकर हम लोग बड़े मशकूर हुए। ऐसे ख्यालात के लोग मुल्क में बहुत कम हैं।"

मैं कुछ नहीं बोला। मेरी गाड़ी चार घण्टे बाद जाती थी, इस कारण मैं प्लेटफार्म पर पड़ी हुई बेंच पर आकर बैठ गया। जब सब सामान ठीक-ठीक रख लिया गया और मैंने कुछ खा भी लिया तो मुझे व्यायाम करने की सूझी। प्लेटफार्म पर ही मैं लगा व्यायाम करने। वहाँ एक तमाशा-सा लग गया। लोग बड़े हैरान थे। पन्द्रह-बीस मिनट तक मैंने व्यायाम किया, तत्पश्चात् मस्त होकर बेंच पर बैठ गया।

घड़ी ने आठ बजा दिए। अभी मेरी गाड़ी के चलने में सवा दो घण्टे की देर थी। जब हरिद्वार-पेसंजर निकल गया और कलकत्ता-मेल ने भी पूर्व की राह ली, तो मेरी बेंच पर दो और मुसाफिर आकर बैठ गये। उस समय मेरा विद्यार्थी मुझे अंग्रेजी 'ट्रिब्यून' सुना रहा था। मैं सुन तो रहा था ट्रिब्यून, लेकिन मेरे कान लगे थे उन मुसाफिरों की बातों में। वे बातें पंजाब का भविष्य बतला रही थीं, इसलिए मैं उनमें अनुरक्त होगया। लीजिये, सुनिये उनकी बातें। उनमें से एक था जवान मजदूर और दूसरा

या अच्छा पढ़ा-लिखा अधेड़ उम्र का आदमी। बातचीत अधेड़ ने शुरू की और इस प्रकार रहस्य खुले—

"अच्छा, तो आप कादियाँ से आते हैं?"

"जी हाँ, मैं वहाँ पर ज़्यारत के लिए गया था।"

"आप कब से इस मत में आये हैं?"

"मुझे डेढ़ वर्ष मिर्ज़ा जी का भक्त बने हुआ, लेकिन मैंने इसके लिए बड़ी तक़लीफ़ें भोगी हैं।"

"तकलीफ़ें? वे क्यों?"

"जनाब, अव्वल तो सारी सुन्नी जमायत मिर्ज़इयों की दुश्मन बनी हुई है। वे इन्हें नेस्तनाबूद कर देना चाहते हैं, लेकिन सच्चाई आख़िर सच्चाई है। मैं एक वहाबी के यहाँ काम सीखता था। जब मेरे उस्ताद को यह मालूम हुआ कि मैं क़ादियानी होगया हूँ, तो वह मुझ से ख़फ़ा हो गया और आख़िर झूठी चोरी लगाकर मुझे निकाल बाहर किया।"

"यह तो मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि पंजाब में मिर्ज़इयों के दुश्मन दिनबदिन बढ़ रहे हैं और यहाँ तक नौबत आगई है कि एक तरफ़ मिर्ज़ई फ़िरका है और दूसरी तरफ़ बाकी सारा इस्लाम है।"

"लेकिन खुदा मिर्ज़इयों के साथ है और जिधर खुदा है उधर ही हक़ है।"

प्रश्नकर्त्ता कुछ देर के लिए चुप हो गया; फिर कुछ सोचकर कहने लगा—"क्या आपने मिर्ज़इयों की सब किताबें देखी हैं?"

"जी नहीं, मैं ऐसा पढ़ा-लिखा नहीं।"

"मैंने उनकी सभी किताबें छान डाली हैं। मैं अभी डेढ़ वर्ष वहाँ रह कर आया हूँ। उनकी लायब्रेरी की पुरानी और नई सभी किताबों का मैंने मुतालह (अध्ययन) किया है।"

इतने में उस जवान मजदूर की घंटी की टन्‌टन् हुई और वह प्रश्न-कर्त्ता से बिदा माँगकर जल्दी-जल्दी गाड़ी की तरफ़ चला। अब रह गया मैं और वह अधेड़ उम्र का मुसलमान सज्जन। मेरी उत्सुकता बहुत

थी और मैं उस विद्वान् व्यक्ति से कई बातें पूछना चाहता था। मैंने उस सज्जन से प्रश्न किया—

"अच्छा जनाब, तो आपने कादियाँ में जाकर क्या सीखा और देखा ?"

वह मनुष्य ग़ौर से मुझे देखने लगा और फिर गम्भीर होकर बोला—

"आप तो फ़क़ीर हैं। आपसे सच्ची-सच्ची बातें कह डालनी चाहिएँ। यह जो मज़दूर बैठा था, बेचारा बड़ा सीधा और सच्चा आदमी है। ऐसे ही जाहिलों को अपने जाल में फँसाकर मिर्ज़ई लोग उन्हें ठग रहे हैं। मैंने अपनी आँखों से कादियाँ में नए पैग़म्बर साहब के घर की औरतों को ऊँची एड़ी के बूट और क्लिप लगाए हुए देखा है। वे मोटर में बैठ कर घूमने जाती हैं। इस तरह ग़रीब मुसलमानों का पैसा हथिया कर मोटर पर सैर की जाती है। क्या हमारे पैग़म्बर साहब मोटरों पर चढ़ा करते थे ? क्या उनकी बेगमें फ़ैशनेबल बूट पहना करती थीं ? यह तो केवल दूकानदारी है। ग़रीब आदमी ही खुदा का प्यारा हो सकता है और वही पैग़म्बर बन सकता है। अगर खुदा का पैग़म्बर ही ऐसा अमीर हुआ तो बेचारे ग़रीबों की क्या हालत होगी, क्योंकि उसके पास तो पैसे वाले ही पहुँच सकेंगे; वही मोटी रक़में दे सकते हैं। सरकार की तरह यह मिर्ज़ई लोग अपने चेलों से टैक्स वसूल करते हैं और जो नहीं देते उन्हें निकाल बाहर करते हैं। कादियाँ में इनकी बड़ी भारी जमींदारी है और नए मकान बनते जा रहे हैं। कादियाँ के पैग़म्बर साहब हमेशा बीमार रहते हैं और जहाँ जाते हैं, डाक्टर उनके साथ रहता है। लेकिन दुनिया ऐसी अन्धी है कि वह आँखें बन्द कर अपनी हजामत कराती जाती है।

मैं अत्यन्त चिन्ता में डूब गया। इसी प्रकार आग़ाख़ाँ भी लोगों से टैक्स वसूल करते हैं और पेरिस में जाकर मौज उड़ाते हैं। यह दुनिया सचमुच बेवकूफ़ों से भरी हुई है। मैंने फिर सवाल किया—"क्या सचमुच मुसलमानों के इन फ़िरकों में ऐसी सख़्त दुश्मनी है ?"

उसने जवाब दिया—"कुछ न पूछिये। इस्लाम की अन्दर की कमज़ो-रियाँ दुनिया नहीं जानती। हमारे फ़िरकों में गहरी फूट है। जब यह फ़िरकेदारान न्यावत (पृथक् प्रतिनिधित्व) का गुल खिलेगा और जुदा-गाना चुनाव (पृथक् निर्वाचन) होंगे, तो उस समय आप देखेंगे कि मुसल-मानों के अन्दर कैसी पोल भरी है। रोज़ इनमें लड़ाई दंगे हुआ करेंगे और ऐसी दुश्मनी पड़ जाएगी जो हमारी औलाद (सन्तान) तक चली जायगी।"

मैं खड़ा होगया। उसकी बातों ने मेरे सामने भविष्य का ख़ौफ़नाक दृश्य खड़ा कर दिया। पृथक् निर्वाचन मुसलमानों की कैसी दुर्गति करेगा, इसका पूरा फोटो मेरे सामने आगया। मैंने एक ठण्डी साँस ली और मन में कहा—"भावी के खेल न्यारे हैं।"



संतीसवाँ पुष्प

कला सम्बन्धी कुछ स्वतन्त्र विचार

यह सन् १९२५ की बात है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र के सम्पादक के घर में मैं ठहरा हुआ था। क्रान्तिकारियों की बातें होने लगीं। बातें करते हुए वे मुस्करा कर कहने लगे—

"मैं क्रान्तिकारियों में था। बम फेंकने और गोली-बारूद इकट्ठा करने में मेरा भी हाथ था, परन्तु मैंने पुलिस को ऐसा चकमा दिया कि वह मुझे बिलकुल निरपराध समझती रही। फलस्वरूप मैं बच गया।"

मेरा कौतूहल जाग उठा और मैंने बड़े उत्सुकतापूर्ण शब्दों में पूछा— "क्यों सी० आई० डी० के इन्स्पेक्टर ने आपको तंग नहीं किया ?"

सम्पादक महोदय हँसकर बोले—"मैंने ऐसा मुंह बनाया और भोलेपन का ऐसा स्वाँग रचा कि टिकटिकी महाशय ने मेरा सोलहों आने विश्वास कर लिया। पहले तो कई घंटे तक वे मुझे धमकाते-डराते रहे, बाद में खुशामद और चापलूसी भी की, लेकिन मैं झूठ बोलने की कला में पुराना सिद्धहस्त था; भला उनके हथकण्डों में कैसे आ सकता था!"

'कला' का शब्द सुनकर मैं चौंक पड़ा। कला! क्या झूठ बोलने में भी कोई कला है ? यह प्रश्न मेरे दिमाग में रह-रह कर उठने लगा। मैंने अपने मित्र सम्पादक जी से हैरानी से पूछा— "तो क्या झूठ बोलने की भी कोई कला होती है ?"

सम्पादक जी खिलखिला उठे और कहने लगे—"सच तो बड़े बुड्ढे भी बोल सकते हैं, उसमें कौन सी अक्लमन्दी है। झूठ बोलने में ही बड़ी कला है—ऐसा झूठ जो दूसरे को बेवकूफ बना दे और उस पर सत्य का रंग चढ़ा दे। बड़ा बुद्धिमान्, बड़ा चालाक तथा अतिकुशल व्यक्ति ही

अपनी प्रतिभा से झूठ को सच करके दिखला सकता है। वकील लोग यही करते हैं। यह उनकी कला है।"

कला का यह स्वरूप अभी तक मेरे मस्तिष्क में नहीं आया था। मैं तो यह समझता था कि शिल्प-कला, चित्र-कला, नृत्य-कला, स्थापत्य-कला आदि कलाओं का ही 'कला' के अर्थ में व्यवहार किया जाता है, पर अब मुझे पता लगा कि झूठ बोलना भी एक बड़ी भारी कला है। ऐसे ही जब कोई लड़का किसी जेब कतरने वाले की कहानी पढ़ता है और उसकी सफ़ाई के करिश्मे देखता है, तब वह उसे भी एक कला समझकर स्वयं उसका अनुभव जान लेने के लिए घर से निकल जाता है। ऐसे कई मुक़दमे अदालतों में आये हैं जहाँ छोटी उम्र के लड़कों ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए इस बात को न्यायालय के सामने माना है कि जेब कतरने वालों की फुर्ती और उनके हाथों की सफ़ाई को ऊँचे दर्जे की कला समझकर ही उन्होंने ऐसा काम करने का संकल्प किया था।

तो कला क्या वस्तु है? मैंने जब बम्बई के एक प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेता से कलासम्बन्धी पुस्तकों की लिस्ट माँगी, तब उसने मुझे एक पुस्तिका दे दी। उसपर मोटे अक्षरों में लिखा था—'Art' अर्थात् कला। जब मैंने उसमें पुस्तकों के नाम देखे, तब वे सब शिल्प, फोटोग्राफी, चित्रकारी तथा भ्रमण सम्बन्धी वृत्तान्तों से सम्बन्ध रखते थे। एक भी पुस्तक मुझे ऐसी न मिली जिसका साहित्य अथवा संगीत के साथ कोई सम्बन्ध होता। मुझे इससे पता लगा कि पुराने संस्कृत-साहित्याचार्यों के मतानुसार साहित्य, संगीत और कला, ये तीन अलग चीजें हैं और आधुनिक ग्रन्थकारों ने भी इन्हें वैसा ही माना है।

तो फिर साहित्य और कला का यह नया झगड़ा हिन्दी वालों ने कैसा उठाया है? इनके जो लेख कला पर निकलते है वे प्रायः ऐसे कि जिनके सिर न पैर, भ्रम से भरे हुए; कोई बात स्पष्ट व्यक्त नहीं करते, क्योंकि वे अन्धेरे में टटोल रहे हैं। उन्होंने अनन्त ज्ञान, विश्व का व्यक्तित्व, सत्य, सुन्दर और शिव आदि ऐसे शब्द रटे हुए हैं जिन्हें कहकर वे अपने

पाठकों को भूलभुलैयाँ में डाल अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हैं। यूनानी कलाविदों ने जिस वस्तु को कला माना है वह वही है जिसे आज योरुप की विद्वन्मण्डली मानती है। पर मैं यहाँ केवल इस बात पर विचार कर रहा हूँ कि साहित्य में जो वस्तु कला मानी जाती है और जिसकी आज दुहाई दी जाती है वह है क्या बला। आज कहानी-कला पर ही लेख लिखे जा रहे हैं। संक्षेप में, जो भी कोई उठता है वह कला की आड़ में अपना रोब जमाना चाहता है।

देखिए। हमें शब्दों के जंगल में मत ले जाइए और न ऐसे क्षेत्र में पांव रखिए जिसके विषय में आपको कुछ मालूम नहीं। साहित्य-सम्बन्धी बातों पर विचार करते समय भी हमारे मस्तिष्क में वैज्ञानिक ढंग ही रहना चाहिए—वह ढंग जो वस्तु की खाल खींच लेता है और उसके अंगों को काटकर स्पष्ट दिखला देता है। गोल-मोल बातें करने से हम कभी अपनी प्रतिभा की छाप नहीं डाल सकते। कुछ समय के लिए लोग भले ही बहक जायँ, परन्तु अन्त में एक समय ऐसा आता है जब मायाजाल की पोल खुल जाती है।

असल में कला का प्रारम्भिक स्वरूप है—किसी काम को सफ़ाई से कर लेना। उर्दू में इसे हुनर कहते हैं। यह कला शब्द का व्यापक व्यवहार है। आप किसी कहानी को ऐसी सफाई से कहते हैं कि सुनने वाला उसे बिलकुल सत्य समझकर मन्त्रमुग्ध होकर आपकी बात मान लेता है और उसके दिल में यह जम जाता है कि वह कहानी सच्ची है। डेनियल डीफ़ो के राबिन्सन क्रूसो के पढ़नेवाले लाखों पाठक उसे अक्षरशः सत्य समझते हैं। वह लिखी ही ऐसे ढंग से गई है कि पढ़ने वाला सत्य माने बिना नहीं रह सकता। यह एक कला है। इस कला का सम्बन्ध केवल कहानी कहने के ढंग के साथ है, अर्थात् उसकी उस खूबी को प्रकट करती है जिसके बल पर एक कल्पनात्मक घटना बिलकुल सच्ची जान पड़ती है। कहानी में कोई शिक्षा है या नहीं, उसमें कोई उद्देश्य छिपा हुआ है या वह बिना उद्देश्य के ही है—ये बातें उस कला के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। कला का

क्षेत्र इस अंग में इतना ही है कि कहानी इस ढंग से कही जाय कि वह वस्तुस्थिति का जीवित चित्र खींच दे और शिक्षित या अशिक्षित दोनों प्रकार के पाठकों के हृदय पर अपना प्रभाव डाले। कई कहानियाँ ऐसी होती हैं कि बालक उन्हें मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते हैं, लेकिन कलाविद् पुरुष को वे बड़ी भौंडी और कलाशून्य जान पड़ती हैं। तो कला का शब्द भी सापेक्ष है और इसका व्यवहार उसी के अनुसार किया जाना चाहिए। शेक्सपियर के जिन नाटकों ने अंग्रेजी-साहित्य का मस्तक ऊँचा कर दिया, कलाविद् टालसटाय की दृष्टि में वे जँचे ही नहीं। क्योंकि ऋषि टालसटाय जिस चीज को कला समझते थे उसको उन्होंने उन रचनाओं में नहीं पाया। ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर यह है कि टाल्सटाय ने कला के साथ किसी दूसरी और वस्तु का समावेश कर लिया। जैसे एक मनुष्य दिल बहलाने के लिए ताश के पत्तों का हुनर—अपने हाथ की सफ़ाई—इस ढंग से दिखलाता है कि देखनेवाले दांतों तले उँगली दबाने लगते हैं, वे आश्चर्य में डूब जाते हैं, उनका मन बहलता है। थिएटरों में कई प्रकार के ऐसे हुनर—ऐसे तमाशे—दिखलाये जाते हैं जिनकी कला को देखकर दर्शक अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और समझते हैं कि उनके टिकट का दाम क़ीमत से अधिक वसूल होगया। परन्तु महात्मा गाँधी और स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे आदर्शवादियों को मन बहलाने वाले इन नाटकों, खेल-तमाशों और ताश-शतरंज की चालों में कोई कला नहीं दिखलाई देती। वे उनमें मानवसमाज का उत्थान करनेवाली कोई शिक्षा नहीं पाते। इसीलिए वे उनका विरोध करते हैं और ऐसे खेलों में मन बहलाना समय का व्यर्थ खोना मानते हैं। आदर्शवादियों की जीवनचर्या में कला के मन बहलानेवाले ऐसे स्वरूप के लिए कोई स्थान नहीं। यहाँ तक तो कला का सम्बन्ध किसी काम को सफाई अथवा परिष्कृत रूप में करने के साथ है, इसीलिए मानव-समाज के संगठन के समय से ही काम को अत्यन्त कौशल से करनेवाले लोग कुशल कारीगर कहे जाने लगे। वे अपने-अपने विभाग में साधारण काम करनेवाले की अपेक्षा अपने हाथ

के हुनर को बड़ी चतुराई से दिखलाते थे—वे उसी कला के विशेषज्ञ माने जाते थे। जैसे तलवार चलाने की कला, कुशल अश्वारोहण, खनिज पदार्थों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की मीनाकारी, बर्तन बनाने की कारीगरी, रुई अथवा ऊनी कपड़ों पर सुई का विस्मयजनक काम, इत्यादि, ये सब हुनर 'कला' के अन्तर्गत हैं। इनमें सच्चरित्रता, शिक्षा, भावुकता अथवा ऊँचे दर्जे के उपदेश के लिए कोई गुंजाइश नहीं। यह केवल हाथ की सफाई, कारीगरी और व्यावहारिक कुशलता से सम्बन्ध रखने वाले हुनर हैं। कला का यही प्रारम्भिक स्वरूप है। प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर तथा जीवन-संग्राम में विजय की लालसा के हेतु जिस चतुराई और बुद्धिमत्ता का मनुष्य ने प्रयोग किया है, उसी गुण ने अपने विकास में कला का रूप धारण कर लिया है।

परन्तु जब मानव-समाज में ज्ञान की अधिक उन्नति हुई, जब मनुष्य ने अपने मस्तिष्क को साहित्य और संगीत से परिष्कृत किया, तब वह भी शिल्पियों की तरह कला को अपने क्षेत्र में स्थान देने लगा और उसने अपनी कला को परिष्कृत कला कहकर पुकारा। अब तक कला के व्यवहार में भावुकता, धर्म-दीक्षा और आदर्शवाद के लिए कोई स्थान न था। उसमें सत्य और शिव का कोई पचड़ा न था। वह केवल सौन्दर्य और व्यावहारिक चतुराई की वस्तु थी। पर जब विद्वान् वर्ग ने कला को अपनाया, तब उन्होंने अपने भाई कलाकार शिल्पियों की अपेक्षा उसे दूसरा ही रूप देने का प्रयत्न किया। इसीलिए आज इस वैज्ञानिक युग में कला के सम्बन्ध में बड़ी गड़बड़ मची हुई है। जो काम शिल्पियों और व्यवहार-कुशल पुरुषों के लिए सरल था, विद्वद्वर्ग के लिए वह झगड़े की चीज बन गया है। ऐसा क्यों हुआ?

सत्य बात यह है कि आज आदर्शवादी पूर्व ने व्यवहार-कुशल पश्चिम का मिलन प्रारम्भ हुआ है। पूर्वी ढंग का मस्तिष्क रखने वाले पाश्चात्य विद्वान् भी कला के स्वाभाविक विकास में आदर्शवाद का रंग चढ़ाना चाहते हैं, इसीलिए कला के क्षेत्र में इस प्रकार का मतभेद देखने

में आता है और एक नई समस्या कला के क्षेत्र में खड़ी होगई है। पुराना पेशेवर कलाकार कभी उपदेशक नहीं था, न उसने कभी ऊँचे दर्जे के आदर्श और विश्वबन्धुता के सिद्धान्तों का ही प्रचार किया। कला के क्षेत्र में साहित्य और संगीत के प्रवेश से मानों इसका उत्तरदायित्व बढ़ गया है। स्वाभाविक गति पर चलनेवाला कलाकार कहता है कि वह केवल कला के लिए ही जीता है, नैतिक उत्थान या पतन के साथ उस का कोई सम्बन्ध नहीं। इसी दल में फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी कलाकार सम्मिलित हैं। वे कला को उसी मार्ग से ले जाना चाहते हैं जिससे वह हज़ारों वर्षों से चली आ रही है। जैसा प्रकृति का स्वरूप है, जैसा बुरा-भला सामाजिक जीवन है और जैसी समस्यायें मानव-समाज के सामने हैं, ठीक उनका वैसा ही रूप वे साहित्य द्वारा संसार के सामने रखना चाहते हैं। उनकी जिम्मेदारी केवल यह है कि चित्र हू-बहू हो, उसमें कोई त्रुटि न आने पावे। इसके विपरीत आदर्शवादी यह कहता है कि हमारा कर्त्तव्य समाज को उन्नत करना है, उसकी बुराइयों को दूर करना है और उसकी समस्याओं को हल करना है। साहित्य आदर्श की पूर्ति का एक साधन है। वह कला ही क्या जो लोगों को सुधारे ही नहीं! लोगों का मन बहलाइए, लेकिन उस मन-बहलाव में उपदेश की सुरभि भरिए। बस यही समस्या है।

अब कला के साथ सुन्दर उपदेश को जोड़ना, यह एक नई समस्या कलाकार के सामने उपस्थित होगई है। कलाकार यह तो मान सकता है कि तमाशा अथवा कहानी या कविता ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को समाज के लिए निकम्मा न बना दे, उसका विकास न रोक दे, परन्तु यह बात वह स्वीकार नहीं करता कि अवश्य ही कलाकार को धर्माचार्य भी होना चाहिये। उसका यह मत है कि धर्माचार्य का मस्तिष्क पक्षपात-पूर्ण होता है, वह एकांगी होता है, उसकी आगे बढ़ने की शक्ति मारी जाती है, क्योंकि सच्चरित्रता और धर्म विकास की चीजें नहीं हैं जो देश काल के अनुसार आगे बढ़ सकें, इसलिए इसके साथ कला को बाँधना

सर्वथा अनुचित होगा। कला का स्वरूप यह होना चाहिये कि जो शाब्दिक अथवा रँगीला चित्र खींचा जाये वह बिलकुल ठीक और स्वाभाविक हो। उसमें मनोविज्ञान की कोई त्रुटि न हो और मानवीय स्वभाव तथा सामाजिक जीवन का पूरा फोटो हो। यदि कलाकार को पहले से फ़र्ज़ की हुई कसौटियां अथवा आदर्शों के साथ जोड़ दें, तो वह कभी भी नई चीज़—कोई रचनात्मक कला—जगत् के सामने पेश नहीं कर सकता। उसकी दशा वही होगी जो किसी साम्प्रदायिक विद्वान् की होती है, जो अपने दिल में पहले से जमे हुए सिद्धान्तों के अनुसार शास्त्रों की व्याख्या करने लगता है। कलाकार को यथाशक्ति अपने इर्द-गिर्द के मज़हबी अथवा आदर्शवाद के सिद्धान्तों से बिल्कुल स्वतन्त्र रहना चाहिये। तभी वह संसार के ज्ञान की वृद्धि कर सकता है।

इतना कथन करने के वाद अव मैं कला की भिन्न-भिन्न विकसित अवस्थाओं को ब्योरेवार पाठकों के सामने रखता हूँ। पहली अवस्था कला की व्यावहारिक है। मानवसमाज की प्रारम्भावस्था से ही कला का जन्म हुआ, जव समाज भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त था। अपने अपने वर्ग के चिन्ह लोगों ने निश्चित किये और उन्हें अपने तीरों, नावों और घरों पर वनाया। किसी ने मृग का रूप अपनाया तो किसी ने गिद्ध का, एक ने सिंह की शक्ल अपने डोंगे पर खींची तो दूसरे वर्ग ने हाथी को अपना प्यारा निशान माना। इस प्रकार पत्थर-युग से लेकर खनिज पदार्थों के विकसित युग तक मनुष्य धीरे-धीरे कला में उन्नति करता गया। ज्यों-ज्यों उनके सौन्दर्य का ज्ञान वढ़ा, त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न पेशेवर कलाकार अपना समुदाय वनाते गये। यह कला ही उनका धन्धा होगया। स्त्रीसौन्दर्य का केन्द्र है और मनुष्य उसकी खूवसूरती को वढ़ाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यत्न करता है। उसी उद्योग में उसने प्राकृतिक पदार्थों को सुई द्वारा कपड़े पर चित्रित किया और उससे अपनी दुलहिन की पूजा की।

इसी युग में वीर लोग उत्पन्न हुए, जिन्होंने युद्ध की नई कला का अविष्कार किया और कलाकार वीरों को जितना सुन्दर, जितना अधिकरण-कुशल

और जितना योग्य बना सकते थे उतना बनाया। रोटी के संग्राम में भिन्न-भिन्न प्रकार के हुनरों की ईजाद हुई और इस प्रकार व्यावहारिक कला का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हुआ।

इसके बाद आया देवी-देवताओं का युग। इसे हम काल्पनिक युग कहते हैं। इस युग में कला में श्रद्धा, अन्धविश्वास और मनमानी कल्पना ने स्थान पाया। प्रत्येक सम्प्रदाय में इसके कलाकारों की कल्पनाओं के चित्र आज हमारे सामने हैं। निश्चय ही इस युग में कला ने बड़ी उन्नति की है और बड़े-बड़े प्रसिद्ध कलाकार इस युग के प्रतिनिधि हैं, जिन्होंने कला द्वारा अमरत्व-पद प्राप्त कर लिया है। ईसाई मज़हब के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के पुराने गिर्जे इस कला के ज्वलन्त उदाहरण हैं। माता मरियम और ईसा मसीह के सैकड़ों भिन्न-भिन्न चित्र उनके भक्त कलाकारों के प्रगाढ़ प्रेम का प्रदर्शन करते हैं। इसी युग के हज़ारों गद्य और पद्य के ग्रन्थ भी कलाकार लेखकों की कीर्त्ति को उज्ज्वल करते हैं। इसी प्रकार हिन्दू और बौद्ध कलाकारों की बनाई हुई मूर्त्तियाँ इस युग के उदाहरण हैं। यह हृदयप्रधान युग है, मस्तिष्क को इसमें कोई स्थान नहीं। भगवान् बुद्ध कैसे थे? हज़रत ईसा मसीह का चेहरा बचपन में कैसा था? इन प्रश्नों का ठीक उत्तर कोई नहीं दे सकता। परन्तु कलाकारों ने ऊँची से ऊँची उड़ान भरकर उनके चित्र खींचे हैं—शब्दों में, रंगों द्वारा और पत्थरों पर। प्रसिद्ध वैज्ञानिक टिंडल के शब्दों में—"यदि बैल और घोड़े को ईश्वर मानकर उसकी तसवीर खींचेंगे, तो वे अच्छे से अच्छा बैल और अच्छे से अच्छा घोड़ा बनाकर रख देंगे।" भगवान् बुद्ध की मूर्त्तियों को देखिये। चीनियों ने उनका स्वरूप मंगोलियनों जैसा बनाया है और मध्य एशिया के लोगों ने अपने जैसा। जैसी जिसकी सूझ हुई, वैसी ही उसने अपने इष्टदेव की शक्ल बनाई। जिस काली की मूर्त्ति को मैं देखना भी पसन्द नहीं करता, जिस जगन्नाथ जी की मूर्त्ति मुझे इतनी ही बीभत्स मालूम होती है, जिस गणेश जी के सिर पर हाथी का सिर देखकर मैं लज्जा अनुभव करता हूँ, चित्र बनानेवाले कलाकारों ने इन्हें इसी रूप में

देखा था। मस्तिष्क से शून्य कला की यही अवस्था होती है। इसमें सत्य के लिए कोई स्थान नहीं, मनमानी कल्पना और अन्धविश्वास ही इसके शस्त्र हैं। मैं कला के इस युग का अधिक प्रशंसक नहीं हूँ।

अब आता है तीसरा युग, जिसे मैं बोध-जन्य युग कहता हूँ। पौराणिक युग की यह प्रतिक्रिया है। इस युग के प्रवर्तक मार्टिन लूथर और स्वामी दयानन्द जैसे सुधारक हैं। इन लोगों ने रोमन कैथोलिक, बौद्ध और पौराणिक मस्तिष्क-शून्य कला का विरोध किया। इन्होंने यह कहा कि कला में भी ज्ञान को स्थान मिलना चाहिये, जो मानव-समाज को उन्नत करे और उसे अंध-विश्वासों से निकाले। इसी का विकसित स्वरूप कला का आदर्शवाद है। इस युग में आदर्शवादी लेखक हुए, जो सच्चरित्रता और शिक्षा के विकट पक्षपाती थे। काल्पनिक युग की कला मानों उनके लिए विष थी। इसी कारण वे उस कला के अत्यन्त विरोधी हुए। ऐसे ही सुधारकों को हम विशुद्धतावादी (Puritans) कहते हैं, जिन्होंने काल्पनिक युग में फैली हुई कला की बुराइयों का घोर विरोध किया। वे अपनी छाप कला पर छोड़ गये और कला में आदर्शवाद ने प्रवेश किया। ऋषि टाल्सटाय और महात्मा गांधी इसी शैली के प्रवर्तक हैं, जो कला में अत्यन्त ऊँचे दर्जे की सच्चरित्रता को लाना चाहते हैं और मानव-समाज का उत्थान ही जिनका लक्ष्य है।

चौथा युग है प्रकृतिवादियों का, जो जैसी चीज है वैसी ही चित्रित करना चाहते हैं। ये प्रकृति के उपासक हैं और बिलकुल उसकी नक़ल करना चाहते हैं। मैं इस कला को "Imitative Art' कहता हूँ और दूसरे लेखक 'Realistic Art' कहते हैं। मेरे विचार में इस कला के उपासक प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी हैं। उन्हें अन्धविश्वास से कोई मतलब नहीं, वे झूठी कल्पना नहीं करते और न बेसिर-पैर की उड़ानें भरते हैं। उनका कोई मज़हब नहीं; न वे देवी-देवताओं के भक्त हैं; पीर-पैग़म्बर उनके पास खड़े नहीं होने पाते और न वे समाज के माने हुए सच्चरित्रता के नियमों के पाबन्द हैं। वे कलाकार हैं। उनमें निरी-

क्षण की अद्भुत शक्ति है। प्रकृति ने उन्हें एक अलग इन्द्रिय दी है, जिसके द्वारा वे प्राकृतिक और मानव-समाज के फूलों को सूंघ लेते हैं। उनका लक्ष्य है वस्तु का नंगा चित्र खींचना, जैसी जो वस्तु है उसे वैसा ही दिखलाना। वे पहाड़ों पर घूमते हैं, नदी-तट पर जाते हैं, बाग़-बग़ीचों की सैर करते हैं और सौन्दर्य की खोज में संसार की खाक छानते हैं; जहाँ भी जो सुन्दर वस्तु उन्हें मिलती है उसे वे अपनी कविता अथवा रंगों में भर लेते हैं। स्त्री-पुरुषों की नंगी तसवीरें खींचने में उनको लज्जा नहीं, और न समाज की अश्लील बातों पर उपन्यास लिखने में उन्हें कुछ संकोच ही है। समाज के उत्थान या पतन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। वे कलाकार हैं और कला के लिए ही जीते हैं।

कला का पाँचवाँ युग है रचनात्मक काल। इस युग का कलाकार अपने व्यक्तित्व को समझता है। वह इंजील के खुदा की तरह अपनी शक्ल का आदम बनाना चाहता है। वह ऐसी चीज़ चित्रित करने की इच्छा रखता है जो उसकी हो और संसार से भिन्न हो—जिस पर कोई दूसरा कलाकार अपना हक़ न जमा सके। जैसे स्त्री और पुरुष मिलकर ऐसी सन्तान की रचना करते हैं जो उनकी है और संसार से भिन्न है। उस संतान पर उनके व्यक्तित्व की छाप है और कोई भी दूसरा उस पर अपना हक़ नहीं जमा सकता। ठीक इसी प्रकार इस युग का कलाकार यही धुन रखता है कि मैं कुछ रचना करूँ, जो मेरी हो—बस मेरी ही। यह तभी हो सकता है जब उसे आत्मानुभूति हो और उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास हो। जिस स्त्री या पुरुष ने अपने आपको दूसरे के व्यक्तित्व में मिला दिया, उसका व्यक्तित्व मिट गया। वह कभी भी नई चीज़ संसार को नहीं दे सकता। चौथे युग का कलाकार बेशक कलाकार है, लेकिन वह नक़लची है; वह अभी उम्मीदवार है, कला करना सीखता है। वह कलाकार तभी हो सकेगा जब वह अपने आपको इस विश्व से पृथक् कर फिर विश्व का अध्ययन करना सीखेगा। उस दिन उसमें उसकी आत्मा की जागृति होगी और तभी वह नई रचना कर सकेगा।

इसलिए रचनात्मक कला का प्रतिनिधि योरुप और एशिया के कलाकारों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाता है । एशिया की कला अपने पौराणिक युग में है, जिसकी व्याख्या करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे कलाकार उसका वचाव करते हुए कहते हैं—"एशिया की कला का सम्वन्ध हृदय की अनुभूति के साथ है, निरीक्षण के साथ नहीं।" इसका अर्थ यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को अटपट पागलों की तरह अनुभव करने लगे और वह कैसी ही मूर्त्ति खींचकर रख दे, तो वह भी एक प्रकार की कला ही मानी जायगी। ऐसा ही हुआ भी है । आज भी वहुत से ऐसे मस्तिष्कशून्य देवी-देवताओं के चित्र, फ़रिश्तों की मूर्त्तियाँ और स्त्रियों के रंगीन चित्र हैं जिनका अस्तित्व मस्तिष्क कभी स्वीकार नहीं कर सकता। कलाकार भी पुराने पण्डितों की तरह विचित्र हृदय की अनुभूति द्वारा कला करनेवाले लोगों की कृतियों की व्याख्या करते हुए आपस में लड़ मरेंगे और जनसाधारण को अविद्यान्धकार में ढकेल देंगे । रचनात्मक कला का माननेवाला यह कहता है कि हृदय और मस्तिष्क का वरावर विकास हुए विना सच्ची कला का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। जव मनुष्य विज्ञान की सहायता से मस्तिष्क को अन्धविश्वासों से अलग रक्खेगा, जव वह रोमन कैथोलिक, पौराणिक और वौद्धकालीन शिशु-कला को वच्चों का खेल समझ लेगा, जव उसके हृदय से मजहवी पक्षपात विल्कुल निकल जायँगे और जव वह हृदय और मस्तिष्क की एकता कर अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता की स्थापना कर लेगा, तभी इस विश्व के पदार्थ उसे अपना सन्देश सुना सकेंगे ।

निस्सन्देह दो प्रकार के जगत् हैं—वाह्य और आभ्यन्तरिक; किन्तु वाह्य जगत् के विना आभ्यन्तरिक जगत् की रचना नहीं की जा सकती। जो वाह्य जगत् को वुद्धिपूर्वक अध्ययन कर सकता है, उसी का आभ्यन्तरिक जगत् भी निर्दोष हो सकता है। यह वात ग़लत है कि मिट्टी में लथ-पथ रहनेवाला, गन्दी से गन्दी चीज़ खा लेनेवाला और आवारा घूमनेवाला अघोरी आभ्यन्तरिक जगत् को भली प्रकार देख सकता है। समाज में फैले हुए इन झूठे

सिद्धान्तों का मैं घोर विरोधी हूँ। इसी कारण एशिया की उन्नति रुक गई और ऐसे ही भ्रांति-पूर्ण सिद्धान्तों के मानने से आज भारतवर्ष के लोग अपनी बेहूदा मूर्तियों का पीछा न छोड़ सके। मस्तिष्क-शून्य हृदय की अनुभूति एक ऐसी भ्रमात्मक उक्ति है जिसकी लीला भारत के बड़े-बड़े ग्रेजुएट और दिग्गज पण्डित भी आज तक नहीं जान सके। हृदय की अनुभूति के साथ मस्तिष्क का विकास लाज़िमी है। दोनों साथ-साथ चलने चाहिएँ, तभी निर्दोष कला का स्वरूप संसार के सामने आ सकेगा और सौन्दर्य की महिमा हम समझ सकेंगे।

यह बात ठीक नहीं है कि पश्चिम की कला में हृदय की ज्योति की झलक नहीं दिखलाई देती। राजनैतिक क्षेत्र को छोड़कर बाकी सब विभागों में पाश्चात्य देशों के विद्वान् बड़ी सचाई और ईमानदारी से सत्य की खोज करते हैं। जब उन्हें अपनी भूल स्पष्ट मालूम हो जाती है तब वे उसे बड़ी उदारता से स्वीकार कर आगे बढ़ने के लिए कमर कसते हैं। उनकी उदारता का यह ज्वलन्त उदाहरण है कि उनके बड़े-बड़े लब्धप्रतिष्ठ धर्माचार्यों ने महात्मा गाँधीजी को एक दूसरा ईसा मसीह स्वीकार किया है। एशिया के लोगों में ऐसी विशालहृदयता कहाँ! क्या हिन्दू लोग कभी किसी अच्छे से अच्छे योरुपीय को भगवान् कृष्णचन्द्र या मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र के समान मान लेंगे? क्या मुसलमान किसी श्रेष्ठतम चरित्रवाले पाश्चात्य महापुरुष को हज़रत मुहम्मद जैसा मान सकते हैं? क्या बौद्ध लोग किसी भी पश्चिमी सच्चरित्र विद्वान् को भगवान् बुद्ध की तरह मानकर उसका आदर करने को तैयार हैं? कदापि नहीं। एशिया के लोगों में इस सम्बन्ध में विनय और उदारता की अत्यन्त कमी है, इसी-लिए संसार की दौड़ में वे पीछे रह गये हैं। कला में भी उनकी यही अवस्था है। अपनी भोंडी कला को दोषयुक्त न मानकर वे 'हृदय की अनुभूति' की आड़ में उनकी उलटी-सीधी व्याख्या करने बैठ जाते हैं और अपनी कलाशून्य मूर्तियों तथा चित्रों में कोई न कोई विशेषता निकालने की भरपूर कोशिश करते हैं। पश्चिम के चित्रकार अपने मनोविज्ञान को

सहायता से अपनी कला को बहुत आगे बढ़ा रहे हैं और पूर्व अपनी पुरानी, दक़ियानूसी और भोंडी कला की आध्यात्मिक व्याख्या करने में लगा हुआ है। वह यह समझता है कि अपनी भूल मान लेने से शायद उसका गौरव कम हो जायगा। वह अपने अध्यात्मवाद के घमण्ड में अपनी कला की स्पष्ट भूलों को भी देखना नहीं चाहता और पुराने पण्डितों की तरह वेद के मंत्रों से ही सभी अच्छी-अच्छी बातें निकालकर अपनी कीर्ति स्थापित करना चाहता है। इसी बीमारी के कारण आज हम कला के यथार्थ स्वरूप को भी नहीं पहचान रहे हैं। विज्ञान ही संसार का भविष्य बनायगा और उसी का सहारा लेने से विश्व की कला के रहस्यों का उद्घाटन होगा। हमें अपनी आत्मा में स्वतन्त्रता की दामिनी को स्थापना करनी चाहिए और अपने नेत्रों में विज्ञान का प्रकाश लाना चाहिये। जब तक हम इन दो साधनों को नहीं अपनायेंगे, हमें कदापि बाह्य और आभ्यन्तरिक जगत् के गूढ़ रहस्यों का पता नहीं लगेगा।



अठतीसवाँ पुष्प

प्राणिमात्र से मनुष्य की सगोत्रता

"A Sacred Kinship, I would not forego,
Binds me to all that breathes." —*Boyesen*

"समः सर्वेषु भूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।"

एक दिन दोपहर को नदी के किनारे घास पर बैठे हुए मैंने एक गाय को अपने बछड़े सहित चरते हुए देखा। जब कभी वह बछड़ा अपनी माँ से कुछ दूर कूदता हुआ चला जाता, तब किस प्रेम से उसकी माँ उसकी ओर देखती और अपनी ममता भरी आवाज़ से उसे बुलाती ! उस समय यह प्रश्न मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ कि क्या मनुष्य कभी इस अवस्था में न था ? "मनुष्य भी एक पशु है", यह कथन तो मैंने बहुत बार विद्वानों के मुंह से सुना था, परन्तु मनुष्य पशु किस प्रकार है, इसका विचार मैंने कभी नहीं किया था। मनुष्य न देवता है, न पत्थर है, न वनस्पति है, वल्कि लाखों वर्ष की विकास-क्रियाओं (Evolutionary Processes) का परिणाम है। मनुष्य उन सब अवस्थाओं में से होकर गुजरा है जिनमें हम अन्य जीवों को देखते हैं।

मनुष्य का शरीर कणिकाओं (Cells) का बना हुआ है । अन्य पशुओं के भी शरीर इसी प्रकार बने हैं। पशुओं के शरीर की कणिकायें भी मनुष्य शरीर ही की कणिकायों जैसी हैं । सब कणों की उत्पत्ति वातुबीजों (प्रोटोप्लाज़्म) से है, जो कोयला (Carbon), जलजन (Hydrogen), नेत्रजन (Nitrogen) और अम्लजन (Oxygen) तत्वों से बनता है ।

मनुष्य के शरीर का ढांचा दूसरे पशुओं ही की तरह अधिकांश चूने

(Lime) का वना हुआ है । इससे यह प्रतीत होता है है कि सृष्टि के आरम्भ में कई शताब्दियों तक इसे समुद्र के अन्दर रहना पड़ा था और वहीं से अन्य प्राणियों की भांति धीरे-धीरे प्राकृतिक नियमों के अनुकूल इसकी उन्नति हुई है । यही नहीं, और प्राणियों की तरह मनुष्य भी अंडे से ही वृद्धि को प्राप्त होता है । मनुष्य, कुत्ता, मेंडक, कीड़ा सभी अपनी गर्भवत प्रथमावस्था (Embryonic condition) के वाद, कुछ समय तक, एक से होते हैं। उस अवस्था में यह जानना कठिन होता है कि इनमें से कौन कुत्ता, कौन मेंडक, कौन मनुष्य का कलल अर्थात् गर्भ (Embryo) है।

अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य भी अम्लजन (Oxygen) अन्दर ले जाता और कार्वन-डि-आक्साइड (Carbon-Dioxide) नामक पदार्थ वाहर निकालता है । इन्द्रियाँ सव की भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं, परन्तु काम वे एक सा देती हैं। इन वातों से मनुष्य का सम्वन्ध और प्राणियों से सिद्ध है । भेद केवल इतना है कि मनुष्य की इन्द्रियाँ उन्नत हैं। यदि मनुष्य के अंगों और उसके शरीर की वनावट की परीक्षा करके उनकी तुलना दूसरे प्राणियों के साथ की जाये तो साफ पता लगेगा कि मनुष्य यदि अपने को श्रेष्ठ समझ कर दूसरे प्राणियों से घृणा या उन पर अत्याचार करे तो यह उसकी भारी भूल है । शारीरिक सम्वन्ध में, आरम्भ से लेकर आज तक, मनुष्य की समता छोटे-से-छोटे प्राणी से हो सकती है और इसका सवसे निकट कुटुम्वी, वनमानुप, इससे वहुत ही थोड़ा भेद रखता है ।

विद्वान् वैज्ञानिक हक्सले (Huxley) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "मैन्स प्लेस इन नेचर" (Man's Placc in Nature) में इस विपय की पूरी खोज की है । अन्त को आपने यह परिणाम निकाला है —

"The structural differences which separate man from the gorilla and chimpanzee are not so great as those which separate the gorilla from the lower apes."

अर्थात् मनुष्य की अपेक्षा गोरीला और चिम्पेंजी बन्दरों के शरीर की बनावट में उतना अधिक भेद नहीं है जितना कि गोरीला और दूसरे प्रकार के नीची जाति वाले बन्दरों में है।

वानर और मनुष्य में शरीर सम्बन्धी जो भेद है वह मौलिक नहीं; वह केवल भिन्न-भिन्न दर्जे का है। पश्चिम के विद्वान् वैज्ञानिकों ने इस मनुष्य-मर्कट-सम्बन्ध का पता, लाखों वर्ष व्यतीत होने पर भी, लगाया है। एक-एक बात की पूरी तरह खोज की गई है। पृथ्वी के पृथक्-पृथक् भागों में जाँच की गई है। समुद्र की तहों में दबे हुए पिंजरों को निकाल कर उनकी परीक्षा की गई है। हर बात जानने के लिए वर्षों परिश्रम किया गया है। इसका फल जो निकला है वह यह है कि सब प्राणी आपस में, लाखों वर्ष एक दूसरे से जुदा होने पर भी, बन्धु हैं और सब एक ही परिवार के अंग हैं।

उदाहरण के लिए जब हम मनुष्य-गर्भ (Embryo) की वृद्धि की, पशु के गर्भ की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से तुलना करते हैं तब दोनों में कोई भेद नहीं पाते। मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक जीवकण (Protozoan) होता है, जिसका व्यास $\frac{१}{१२५}$ इंच के क़रीब होता है। दूसरी अवस्था में वह बिना रुधिर और नाड़ियों के एक छोटी थैली की शक्ल का कण-समूह बनता है। तीसरी अवस्था में वह एक कृमि के रूप में आता है, जिसमें हृदय के स्थान पर सिर्फ एक नली रहती है। इस अवस्था में सिर, गर्दन और जोड़ आदि नहीं होते। चौथी अवस्था में वह सबसे साधारण पीठ की हड्डियों वाले प्राणियों की अवस्था में आता है। इस प्रकार मनुष्य-गर्भ के कई अवस्थान्तर भेद होते हैं। ये भेद बिना कारण के नहीं। ये उसकी पिछली अवस्थाओं का इतिहास बताते हैं। लाखों वर्ष के क्रमविकास में उस पर क्या-क्या बीती है, सो सब वे प्रकट करते हैं। उसके सम्बन्धियों का पता बतलाते हैं। किस स्थान से कहाँ-कहाँ कालचक्र ने उसको घुमाया है, कहाँ-कहाँ रह कर उसने अपनी सब आदतें सीखी हैं,

किन-किन के साथ उसने वालक्रीड़ा की है; इन सब छिपी हुई बातों का पता इन्हीं भेदों से खुलता है ।

प्रकृति के इस सर्वव्यापक क्रम-विकासविषयक नियम का वर्णन यद्यपि प्राचीन भारतवर्ष के ऋषियों तथा यूनान के विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में हज़ारों वर्ष हुए किया था, परन्तु इसको सर्वसाधारण के सामने इस ढंग से लाने का काम महात्मा डारविन ने किया है। इस नियम की सर्वव्यापकता के प्रमाण आजकल हम वैज्ञानिक, सामाजिक, दार्शनिक, मानसिक तथा अन्यान्य विद्याओं का परिशीलन करने में पाते हैं।

डारविन के प्रतिपादित इस नियम के अनुसार खोज करते हुए शिकागो के विद्वान् अध्यापक मूअर साहव ने "सार्वलौकिक सगोत्रता" (The Universal Kinship) नामक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने शारीरिक, मानसिक और धार्मिक, तीन प्रकार के प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्राणिमात्र आपस में वन्धु हैं—वे सव सगोत्रीय हैं। शारीरिक सगोत्रता की वात थोड़े में कही जा चुकी है। अव मानसिक सगोत्रता की वात सुनिये ।

मनुष्य का यह सिद्धान्त कि वह सव प्राणियों से श्रेष्ठ है और सव प्राणी केवल उसी के फ़ायदे या आराम के लिए हैं, ठीक नहीं। मनुष्य भूल से अपने को वहुत वड़ा समझता है । मूर्खता से अपने से निर्वल प्राणियों को दुःख देता है । उसे अपनी पिछली अवस्था की खवर नहीं। सत्य तो यह है कि मनुष्य न तो ईश्वर के रूप में उत्पन्न किया गया है, न स्वर्ग से गिरे हुए किसी देवता के रूप में। मनुष्य वन्दर का सगोत्रीय है और उसी के रूप का भी है। उसके शरीर की वनावट वन्दर से खूव मिलती है । संसार के और प्राणी भी किसी-न-किसी अंश में उससे सम्वन्ध रखते हैं ।

वहुधा लोग यह शंका करते हैं कि मनुष्य की मानसिक अवस्था वहुत वढ़ी-चढ़ी है, अतएव उसका सम्वन्ध पशुओं से किसी प्रकार नहीं हो सकता। ऐसे आदमी केवल अपने आपको देख कर इस तरह का फैसला करते हैं। उन्हें भूमण्डल की भिन्न-भिन्न मानव-जातियों की मानसिक अवस्थाओं के

भेद की परीक्षा करनी चाहिये । उन्हें मानसिक शक्ति का परस्पर मुक़ावला करके विचार करना चाहिये कि देश, काल आदि से सम्वन्ध रखने वाले किन नियमों के अनुसार ये भेद होते गये हैं । कितनी अधम अवस्था में, ठीक वन्दरों की तरह, वहुत-सी मनुष्य जातियाँ अव भी दुनिया में विद्यमान हैं। यदि पूरी तरह ध्यानपूर्वक देखा जाये तो पता लगेगा कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि का ज्ञान रखने वाले जीवात्मा का प्रादुर्भाव प्राणियों के प्रारम्भिक शरीर में भी पाया जाता है । समुद्र की तहों में रहने वाले विचित्र प्राणियों में भी ये चिन्ह किसी न किसी अंश में—वहुत साधारण अवस्था में—पाये जाते हैं । जहाँ शारीरिक वृद्धि धीरे-धीरे होती रहती है वहाँ उत्तम साधनों के मिलने के कारण जीवात्मा भी अपनी शक्तियों को प्रकट करता जाता है । मानसिक वृद्धि भी उसी नियम का फल है । मानसिक उन्नति भी अंगों की उन्नति के साथ होती है । 'मानसिक विकास' (Mental Evolution) के रचयिता विद्वान् रोमानेस (Romanes) अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—

"I hold that if the doctrine of organic evolution is accepted, it carries with it, as a necessary corollary, the doctrine of mental evolution."

अर्थात् यदि शरीर-विकास का सिद्धान्त मान लिया जाये तो उसके साथ ही मानस विकास का सिद्धान्त भी सिद्ध समझना चाहिये ।

हम चाहे जिस प्रकार विचार करें, हमें मानना ही पड़ेगा कि शरीर के जिस भाग को हम मस्तिष्क (brain) कहते हैं, उसकी उन्नति विकास-नियम के अनुसार ही हुई है । शरीर के अवस्यान्तर भेद की परीक्षा करने में हम मनुष्य का सम्वन्ध प्राणिमात्र से पाते हैं । उनके शरीर के किसी न किसी भाग की समता हम छोटे कीटकों तक में देखते हैं । जव हम मनुष्य की आदतों की जाँच करते हैं और उन्हें, किसी न किसी रूप में, अन्य प्राणियों में भी पाते हैं—अपने-अपने दर्जे के अनुसार किसी

में अधिक किसी में कम——तब हमें मानना ही पड़ता है कि विकास का नियम सर्वव्यापक है। जो मनुष्य किसी समय पशुओं का सा स्वभाव रखता था, नहीं नहीं पशु ही था, आज वह विकास सिद्धान्त की बदौलत इस उन्नत अवस्था को पहुँच गया है।

मनुष्य को छोड़ कर साधारण पशुओं में कुत्ते को देखिए तो पता लगेगा कि उसके पुराने पूर्वज भेड़िये का काम करते थे और गीदड़ भी उन्हीं के वंशज हैं। पर कुत्ते ने अपने स्वभाव में बहुत उन्नति की है। इसके पूर्वज तेज़ी, तुन्दी, खूंख्वारी और धोखेबाजी के लिए कितने प्रसिद्ध थे और अब भी हैं; पर इन सब दुर्गुणों को कुत्ते ने किस प्रकार दूर कर दिया है! किस प्रकार मनुष्य के संग से उसने अपनी अवस्था को सुधारा है! पृथ्वी पर शायद ही कोई दूसरा पशु इतना विश्वासपात्र, इतना प्यारा, इतना घरेलू होगा। इसी तरह शेर की मौसी बिल्ली को देखिये। इसकी कथा तो आपने बहुत सुनी होगी। इसके परिवार के लोग दूर-दूर पाये जाते हैं। उनके कितने ही दर्जे हैं। उनके स्वभावों की परीक्षा कीजिये तो पता लगेगा कि जैसे मंगोलियन जाति के लोग भिन्न-भिन्न देशों में रहने और भिन्न-भिन्न जलवायु का संसर्ग होने के कारण आज अनेक अवान्तर भेदों में विभक्त हैं, परन्तु सबकी उत्पत्ति एक ही वंश से है, उसी प्रकार बिल्ली के परिवार की भी दशा हुई है। कारण यह है कि बिल्ली मनुष्यों के पास रहने लगी है, इसलिये इसने अपने पूर्वजों की बहुत-सी बातें छोड़ दी हैं और धीरे-धीरे अपनी उन्नति कर रही है।

किसी भी सभ्य जाति के इतिहास को लीजिये। जो जाति आज कला-कौशल, विज्ञान, साहित्य, संगीत, सदाचार आदि के लिए प्रसिद्ध है, उसकी मानसिक उन्नति असभ्य अवस्था में वन्य पुरुषों ही से हुई है। इस बात का प्रमाण पुराने इतिहास और पुरानी खोपड़ियों आदि की परीक्षा से मिलता है।

जब हम किसी असभ्य जंगली आदमी की ओर देखते हैं, तब मनुष्य-समाजकी बाल्यावस्था का चित्र हमारे सामने आ जाता है। हज़ारों वर्षों

से असभ्य अवस्था में रहने वाले आदमियों का इतिहास जाने विना आजकल के सभ्य आदमियों की सामाजिक अवस्था का ज्ञान पूरी तरह नहीं हो सकता। गिलवराइथ (Gilbraith) साहब बहुत दिन तक उत्तरी अमरीका की सीओक्स नामक एक असभ्य जाति के वीच में रहे थे। इस जाति की सामाजिक अवस्था के विषय में वे कहते हैं —

"They are bigoted, barbarious and exceedingly superstitious. They regard most of the vices as virtues. Theft, arson, rape and murder are regarded by them as the means of distinction. The young Indian is taught from childhood to regard killing as the brightest of virtues. In their dances and at their feasts, the warriors recite their deeds of theft, pillage and slaughter as precious things."

मतलव यह कि चोरी, व्यभिचार और हत्या आदि को यह लोग पुण्य समझते हैं। लड़कपन ही से इन लोगों को यह सिखलाया जाता है कि औरों को मार डालने से वढ़कर संसार में और पुण्य नहीं। अपने नाचने, गाने आदि के उत्सवों में ये लोग इस तरह के कामों की तारीफ़ वड़े अभिमान से करते हैं।

वहुत सी वातें, जिन्हें हम लोग पाप समझते हैं, असभ्यों की दृष्टि में पुण्यदायक हैं। जव फीजी-निवासी कुछ खाने को नहीं पाते, तव अपनी वूढ़ी स्त्रियों को मार कर खा जाते हैं। वे कुत्तों को नहीं मारते; कहते हैं कि वूढ़ी औरतें किसी काम नहीं आतीं, कुत्ते तो शिकार में मदद देते हैं।

इन सव वातों का विचार करने और संसार की भिन्न-भिन्न जातियों के इतिहास के क्रम को पक्षपात-रहित होकर जांचने से यह सावित होता है कि मनुष्य-समाज की वर्तमान अवस्था सदा से ऐसी ही नहीं रही है। किन्तु दर्जे-व-दर्जे देश-काल के अनुसार उन्नति होती गई है। जो जाति हज़ारों वर्ष हुए असभ्य दशा में थी, वह आज क्रम-विकास के सर्वव्यापक नियमों के अनुसार श्रेष्ठ अवस्था को पहुंची है। मनुष्य में दया, करुणा, न्याय, धैर्य्य,

सत्यता, क्षमा, दम आदि गुणों की वृद्धि लाखों वर्षों के क्रम-विकास का फल है। मनुष्य यदि यह समझे कि ये गुण मैंने शुरू से ही पाये हैं—मैं कभी पशु, कीट आदि अवस्थाओं में था ही नहीं—तो यह उसकी बहुत बड़ी अज्ञानता है। सब प्राणी दुःख से निवृत्ति पाकर सुख की इच्छा करते हुए एक ही पथ की ओर जा रहे हैं। यदि कोई इस यात्रा में दो-चार क़दम आगे या पीछे है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरे यात्रियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। पुरुषार्थ का लक्षण करते हुए सांख्य के कर्त्ता महर्षि कपिल ने इस बात की पुष्टि की है। उन्होंने पुरुषार्थ के नियम की सर्वव्यापकता संसार में बहुत ही अच्छी तरह सिद्ध कर दिखाई है। क्या कीट, क्या पतंग, क्या पशु, क्या पक्षी, क्या असभ्य, सभी दुःख की अत्यन्त निवृत्ति चाहते हैं। ज्यों-ज्यों प्राकृतिक नियमों के अनुसार शारीरिक साधनों में उन्हें सहायता मिलती जाती है, त्यों-त्यों वे "दुःख की अत्यन्त निवृत्ति" के उद्देश्य पर अधिक ध्यान देते जाते हैं। ऐक्य, प्रेम, मित्रता आदि गुणों का अस्तित्व हम मनुष्य की पशुतुल्य अवस्था में भी पाते हैं। यही गुण धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होकर उस उद्देश्य की सिद्धि में अग्रसर होते हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने पीछे आने वाले यात्रियों को प्रेम की दृष्टि से देखे और समझे कि ये भी उसी सुख-प्राप्ति के स्रोत की ओर आ रहे हैं। नैतिक विषय में मनुष्य का पशुओं के साथ किस प्रकार सम्बन्ध है, अब इस पर भी थोड़ा सा सुन लीजिये।

"जिस तरह का व्यवहार तुम चाहते हो कि कोई तुम्हारे साथ न करे, उस तरह का व्यवहार तुम भी दूसरे के साथ न करो," अर्थात् "स्वस्य च प्रियमात्मनः" यह धर्म का एक व्यापक लक्षण है। धर्म्माध्यक्ष और उपदेशक लोग इस लक्षण के आधार पर हमेशा ही उपदेश दिया करते हैं, परन्तु सब लोग इसके अनुसार व्यवहार करने का यत्न नहीं करते। यदि हम बहुत बढ़कर कदम मारते हैं तो यह समझते हैं कि इस नियम का सम्बन्ध मनुष्य जाति तक ही है। पर यदि हम विचारपूर्वक देखते हैं तो मालूम होता है कि यह नियम सारे प्राणियों से सम्बन्ध रखता है। जिन प्राणियों को

हम समझते हैं कि उन्हें सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, जिनको काटते हुए हमें तनिक भी दया नहीं आती, जिन्हें हम जड़ पदार्थ की तरह चीरते फाड़ते हैं, जिन्हें हम समझते हैं कि ये हमारे ही खाने-पीने के लिए पैदा किये गये हैं, उनकी इन्द्रियां यद्यपि हमारी इन्द्रियों की तरह उन्नत दशा में नहीं, तो भी वे सुख, दुःख और पीड़ा आदि का अनुभव करते हैं। वे दीन हैं, अनाथ हैं, इसीसे हम उनकी इस हीन अवस्था से लाभ उठाते हैं।

हम ऊंचे-ऊंचे आसनों पर खड़े होकर चिल्लाते हैं कि हमारा उद्देश्य संसार में सुख और शान्ति फैलाना है—एकमात्र यही हमारा उद्देश्य है—परन्तु क्या इस उद्देश्य की पूर्ति निरपराव जीवों को मारने और उन्हें अपना भक्ष्य वनाने से हो सकती है ? लाखों निरपराव और निर्बल पक्षी अपने परों के लिए मारे जाते हैं। इसलिए कि वे पुरुषों और स्त्रियों, दोनों की सुन्दरता वढ़ायें। लाखों उनकी पोस्तीनों के लिए काटे जाते हैं। मनुष्य वड़े घमण्ड से उस चमड़ी को पहन कर घूमता है और जरा भी लज्जित नहीं होता। वह नहीं सोचता कि मनुष्य कहला कर भी मैं पशुओं के काम कर रहा हूं। हम अपने आपको सभ्य कहते हैं, परन्तु क्या इसी का नाम सभ्यता है ? यदि अफ्रीका के जंगली आदमी खालें पहिनते हैं, गले में हड्डियों की मालायें डालते हैं, तो क्या हम उनसे कम हैं ? हम तो श्रेष्ठ नियमों को जानते हुए—नहीं नहीं उपदेश करते हुए भी—उनके विपरीत आचरण कर रहे हैं।

सच तो यह है कि मनुष्य इन धार्मिक नियमों को केवल अपने ही समाज के लिए समझता है। एक समाज के लोग जब दूसरे समाज वालों से लड़ते हैं, तब वे इतना भी भूल जाते हैं। तब वे इस तरह के उदार नियमों का अनुसरण केवल अपनी समाजसम्बन्धी बातों में ही करते हैं। ऐसे ही लोग पशुओं को विना जीव के समझते हैं और उनको दुःख देने में तनिक भी दया नहीं दिखाते। जो अपने पेशे के मनुष्यों को ही अपने दायरे में समझता है, वह उदाराशय नहीं। किसी एक समाज या एक जाति को ही अपना समझना वहुत वड़ी संकीर्णता है। ऐसी समझ उसी को हो सकती है

जो अपने देश के लोगों को मित्र और दूसरों को शत्रु समझता है । परन्तु उदार वही पुरुष है जो "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्त का क़ायल है । जिन तत्वदर्शी विद्वानों के नेत्र खुल गये हैं उनका सिद्धान्त यह है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

ऐसे महापुरुष छोटे-से-छोटे कीट में भी अपने सम्बन्ध का अनुभव करते हैं । वे जैसे अपनी माता के गर्भ से उत्पन्न हुए अपने भाई को देखते हैं, वैसे ही औरों को भी । "प्रेम ही परमेश्वर है" (God is Love), इस सत्यामृत को वही पान करते हैं। प्रत्येक प्राणी से वे प्रेम रखते हैं, उसके दुःख को अपना दुःख और सुख को अपना सुख समझते हैं । उनकी दृष्टि एक क्षण में लाखों वर्षों के ऐतिहासिक दृश्य को देख जाती है । वे जानते हैं कि ये सब यात्री उन्हीं के मार्ग से पीछे आ रहे हैं। इस प्रकार उन्हें एक ही गन्तव्य स्थान की ओर जाते देख उनको परमानन्द होता है । स्वतन्त्रता से विचरने वाले पक्षियों को वे बड़े प्रेम से देखते हैं। जंगल में घास पर गुजारा करने वाले पशुओं को वे प्रेम का भाजन बनाते हैं । उनका आत्मा प्राणिमात्र में अपने ही को देखता है । हमारे जितने बुरे काम हैं उनका असर ज़रूर बुरा होता है। यदि हम किसी पशु को काटते हैं तो उसके दुःख से वायु में कम्पन (vibrations) पैदा हो जाते हैं । वही अशान्ति का कारण बनते हैं। उनसे हमारे सुख या शान्ति का भंग हुए बिना नहीं रहता। जैसे पतित पुरुष के पास बैठने से उसके बुरे संस्कारों का असर हम पर पड़ता है और शुद्धाचरण पुरुष के पास बैठने से शान्ति और आनन्द मिलता है, वैसे ही हमारे भले-बुरे कामों का भी फल हमें तदनुरूप ही मिलता है। अनाथों को सताना मना है। इस बात पर हमें विश्वास भी है। हम जानते हैं कि निरपराध को दुःख देने से उसके रोने और आह भरने का बुरा असर पड़ता है; फिर भला निरपराध प्राणियों को दुःख देने से हमारे सुख का विघात क्यों न होगा ? अतएव हमें उचित है कि हम सुख और शान्ति

के लिए अपने प्रत्येक विचार और कर्म में उत्तम संस्कारों की वृद्धि करें, सब पर प्रेम और दया का भाव रक्खें, छोटे से छोटे प्राणी को भी न सतावें और अपने हृदय पर यह लिख लें—"प्राणिमात्र हमारे बन्धु हैं।"

Wilt thou draw near the nature of the gods ?
Draw near them, then, in being merciful;
Sweet mercy is nobility's true badge.



उन्तालीसवाँ पुष्प

सत्यज्ञान-विवेचना

लोग हमसे पूछते हैं कि हमने अपने आश्रम का नाम सत्यज्ञान-निकेतन क्यों रक्खा है? निस्सन्देह प्रत्येक सार्थक नाम के पीछे कोई न कोई आदर्श रहता है और हमारे इस आश्रम के नाम के पीछे भी एक महान् आदर्श है। इस विषय को स्पष्ट तौर से व्यक्त करने के लिए हमने एक रात जागरण किया। तारागणों से सुशोभित सुन्दर रात्रि में, अपने निकेतन के आम्र-कुंजों में आधी रात के समय घूम घूमकर मैं इस विषय पर विचार करने लगा—"मनुष्य के जीवन का आदर्श क्या है?" तब हमें जो उत्तर मिला उसे हमने कविता का रूप दिया और उसी रात्रि को निम्नलिखित छन्द प्रभाती के स्वर में गा-गाकर अपना चित्त प्रसन्न करने लगे—

सत्य ज्ञान के सुन्दर पथ को, जीवन का आदर्श बना;
भूमण्डल के विद्वानों ने, लिया इसे दिल से अपना।

ये पहली दो कड़ियां बना कर हमने गाना प्रारम्भ किया। हमें पता लगा कि जब से मनुष्य-समाज का संगठन हुआ है तब से बराबर संसार भर के विद्वानों ने मानव-जीवन का आदर्श सत्य ज्ञान को ही माना है। यह पथ हज़ारों वर्षों से धीमान् लोगों ने अपनाया है और सदा इसे प्रशस्त करने में उन्होंने अपनी शक्ति खर्च की है।

ऐसा क्यों किया? केवल इस लिए क्योंकि इस शरीर को छोड़ते समय हमारे साथ कोई वस्तु नहीं जाती। भाई-बन्धु, कुटुम्ब-कबीला और विशाल भवन सब यहीं रह जाते हैं। केवल हमारा अच्छा-बुरा ज्ञान ही हमारे साथ जाता है और उसी के अनुसार हमें भावी शरीर मिलता है। यही कारण है कि एक ही माँ-बाप के बच्चों में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ

और स्वभाव होते हैं। एक ही जैसे रज-वीर्य से बने हुए उनके शरीरों में आत्मा के पिछले संस्कारों के कारण—उसके भले-बुरे ज्ञान की वजह से—आकाश-पाताल का अन्तर पड़ जाता है। इससे पता लगता है कि इस जीवन का अन्तिम साथी धर्म नहीं बल्कि भला-बुरा ज्ञान है। हाँ, जीवन को उन्नत अवस्था में ले जानेवाला, उसे आनन्द-मार्ग पर चलानेवाला अन्तिम साथी सत्यज्ञान ही है। यदि आप उसे धर्म के नाम से पुकारें तो कोई हर्ज नहीं पड़ता। हमारा झगड़ा नाम से नहीं, हमें तो भाव से मतलब है; इसीलिये हमने उस रात्रि को यह बात भली प्रकार समझ ली कि सत्यज्ञान ही जीवन का असली तथ्य है और यह जो हमारे सामने प्रभु का रचा हुआ ब्रह्माण्ड है इसका अन्वेषण ही हमारा परम पुरुषार्थ है। वे ही सच्चे यात्री कहे जा सकते हैं कि जो इस आदर्श में पग बढ़ाते हैं, या पग बढ़ाने में सहायक बनते हैं। विचार करते-करते हमारे सामने उन महर्षियों के पवित्र नाम अंकित होगये कि जिन्होंने अपनी जीवनियाँ बलिदान कर सत्यज्ञान का सन्देश दिया। तब हमने कहा—

कपिल व्यास पतञ्जलि गौतम, विश्वामित्र वसिष्ठ ऋषि,
जीवन की आहुतियाँ देकर, गये ज्ञान-सन्देश सुना।
दयानन्द ने इसी खोज में, अपने घर को त्यागा था,
बुद्धदेव ने महल छोड़ कर, बौद्ध-धर्म की की रचना।
बाल ब्रह्मचारी शंकर ने, यह मारग अपनाया था,
यूनानी सुकरात सन्त ने, पिया प्याला ज़हर सना।

जब हमने इन पदों को बार-बार गाया, तो हमारा हृदय गद्गद् हो गया। उन पुराने ऋषि-महर्षियों ने सब प्रकार के भेदों को त्याग कर मानव-जाति को यह सुन्दर सन्देश दिया कि सत्य ज्ञान ही हमारी सच्ची सम्पत्ति है। कोई महापुरुष या स्त्री भी किसी देश में उत्पन्न हो, उसका किसी भी राष्ट्र से सम्बन्ध हो, परन्तु यदि वह सत्य ज्ञान का सन्देश दे तो उसका

नाता विश्व से हो जाता है और यही यथार्थ में मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। संयुक्त राज्य अमरीका के किसी विशाल नगर के वैज्ञानिक भवन में वैठा हुआ अमरीकन यात्री भगवान् वुद्ध के उपदेशों को वड़े प्रेम से पढ़ता है और हृदय से लगाता है। देश-भेद की दीवारें सत्यज्ञान-संदेश के सामने चकनाचूर हो जाती हैं और मनुष्य अपने आपको ज्ञान के उद्यान में विचरता हुआ देखता है।

भला सोचिये तो सही कि यूनान की राजवानी एथन्स में संगतराशी (पत्थर को घड़ना) करने वाले परमज्ञानी सुकरात के साथ हमारा क्या सम्वन्ध है? उन्हें पैदा हुए आज लगभग २४०० वर्ष होगए। उनका जन्म ईसा से ४७० वर्ष पहले हुआ था और मृत्यु ३९९ वर्ष पहले। उस घटना को आज शताब्दियाँ वीत गईं। लेकिन हम श्रीगंगाजी की इस घाटी में वैठे हुए आवी रात के समय आज भी उस संत का गुणानुवाद गा रहे हैं—केवल इसलिये न कि उस महापुरुप ने मानव-जाति के उपकारार्थ सत्यज्ञान के अन्वेपण के लिए हँसते-हँसते विप का प्याला पी लिया था। उन्होंने यह वतला दिया कि हमारे जीवन का एक ही उद्देश्य है—सत्य ज्ञान की खोज। प्रभु के इस अनन्त ज्ञान सागर में कैसे वहुमूल्य हीरे-मोती भरे पड़े हैं, जिनके विपय में हम कुछ नहीं जानते! विद्वान्-प्रवर सर एज़क न्यूटन ने अपनी सारी आयु ज्ञान-संग्रह करने के वाद यही कहा था कि वह अनन्त ज्ञान-सागर के किनारे खड़ा हुआ केवल घोंघे चुन रहा है। उपनिपदों ने भी अध्यात्म-सागर में गोते लगाने के वाद यही नतीजा निकाला—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अर्थात् जो कहता है कि मैं नहीं जानता हूँ वही जानता है और जो कहता है मैं जानता हूँ वह कुछ नहीं जानता। परमात्मा की अद्‌भुत सृष्टि पर विचार करते हुए और हिमालय के उन कठिन गिरि-शृंगों का स्मरण करते हुए हमने ये पंक्तियाँ गाईं—

चढ़े हिमालय के शिखरों पर, कर्मवीर निर्भय होकर,
सिखलाया सिद्धान्त अटल यह, सत्य-ज्ञान पर मर मिटना।
'देव' सफल जीवन-यात्रा यह, उनकी मानी जाती है,
जो करते बलिदान ज्ञान पर, तन-मन-धन सब कुछ अपना।

गिलगित के पास, सिन्धु नदी के किनारे, गगनचुम्बी उस नंगा पर्वत के शिखर पर कौन सी अद्‌भुत वस्तु रक्खी है जिसकी तलाश के लिए परम प्यारे जर्मनी को छोड़कर देशभक्त नीरोग जर्मन नवयुवक भारतवर्ष में आते हैं और उस नंगा पर्वत पर चढ़ने का प्रयत्न करने में अपने प्राण न्योछावर कर देते हैं! इस वर्ष जब इन वीरों के समाविस्थ होने की खबर जर्मनी में पहुंची तो उनके देशबन्धु फ़ौरन हवाई जहाज़ पर चढ़कर हिंदुस्तान आए और जी-जान लड़ाकर उन ज्ञान-प्रेमियों की लाशों की खोज करने लगे। बीस हज़ार फ़ीट ऊँची चट्‌टान पर कई सौ फीट लम्बी हिमशिला को बड़ी कठिनाई से खोदने के बाद इन जर्मन यात्रियों ने अपने प्यारे देशबन्धुओं को बर्फ के नीचे शान्ति की नींद सोते हुए पाया। उन्होंने बड़ी श्रद्धा से उसी स्थान पर क़ब्र खोद कर उन्हें समाधि दे दी और संसार को यह बतला दिया कि जर्मन जाति के बच्चे सत्य ज्ञान को ही अपना जीवनादर्श समझते हैं। वे डरेंगे नहीं, अपने अन्वेषण से हटेंगे नहीं, बल्कि दूसरे वीर अपना दल बना कर उस खोज को आगे बढ़ायेंगे और इन शहीदों के जय-जयकार गाते हुए नंगा पर्वत पर विजय प्राप्त करेंगे। ये हैं सच्चे रहस्यवादी, जो अपनी जान की बाज़ी लगाकर प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन करने का प्रयत्न करते हैं। रंग-बिरंगे शब्द गाकर नहीं, झूठी-सच्ची बातें मिलाकर नहीं, अपना स्वार्थ बढ़ाकर नहीं, अपनी कीर्ति फैलाकर नहीं, बल्कि विनय से इस अद्‌भुत लीला की रचना करने वाले उस प्रभु को नमस्कार कर बाधाओं के साथ कुश्ती लड़ते हैं और भावी अन्वेषकों के लिए मैदान साफ करते हैं।

इस प्रकार उस आधी रात को सत्य ज्ञान के विषय में विवेचना करते हुए यह कविता मेरे हाथ लग गई। मैंने उसे शिरोधार्य किया, बार-बार गाया

और मन में निश्चय कर लिया कि अब अपनी शेष आयु इसी पथ पर चलने का प्रयत्न किया जायगा। कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सकता कि उसने सब कुछ जान लिया है। हमें बड़े धैर्य्य से इस मार्ग पर बढ़ते जाना चाहिये और ज्ञान-भण्डार में सदा कुछ न कुछ भरते जाना चाहिये, तभी हमारा जीवन सफल कहा जा सकेगा।



चालीसवाँ पुष्प

आम्र वृक्ष के नीचे

यह ऋतु वर्षा का है। श्रावण का महीना ख़त्म होगया और भादों का आरम्भ होता है। श्रावण के महीने में श्री गंगाजी की इस घाटी में हज़ारों नर-नारी उषाकाल से ही गंगा-स्नान के लिए घर से निकल पड़ते हैं। मेरे निकेतन की सामने की सड़क पर स्त्री-पुरुषों की टोलियाँ गाती हुई और राधाकृष्ण का नाम उच्चारण करती हुई नित्यप्रति जाह्नवी-स्नान के लिए जाया करती थीं और मैं अपनी कुटी की छत पर बैठा हुआ सोचा करता था—

"हज़ारों वर्षों से भारतीय जनता इसी प्रकार इस पवित्र नदी में स्नान करती चली आ रही है। यहाँ पर अफ़गानों और मुग़लों का राज्य रहा, चोर-उचक्के यात्रियों को लूटते-खसूटते रहे, चारों ओर विद्रोह का राज्य रहा और अंग्रेजी शासन भी अपने दिन पूरे कर मृत्यु की ओर चला गया। लेकिन भारतीय जनता सहस्रों सालों से जैसी चली आती थी, वैसे ही आज भी चली जा रही है। संसार की दूसरी जातियों ने नदी-नालों के विषय में, अग्नि-आकाश की बाबत और वायु-जल के सम्बन्ध में कितना अधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है और कितना सदुपयोग वे उस ज्ञान का कर रही हैं, परन्तु इस देश के लोग अभी तक अपने पुराने मार्ग से टस से मस नहीं हुए। क्या इनमें दूसरी जातियों से धार्मिक जीवन की मात्रा अधिक है? अनुभव इसका उत्तर "नहीं" में देता है। दूसरे देशों में लोग एक दूसरे के अधिकारों का आदर करते हैं, स्त्रियों को कोई अश्लील शब्द नहीं कह सकता। गली-कूचों में कोई लड़ता-झगड़ता दिखाई नहीं देता, सब एक दूसरे के साथ शिष्टाचार से वर्त्तते हैं और अपने नित्य के जीवन में पब्लिक सफाई का बड़ा ख्याल करते हैं। इसके विपरीत मेरी यह भोली-भाली जनता अविद्यान्धकार में कैसी डूबी हुई है! पवित्र नदियों

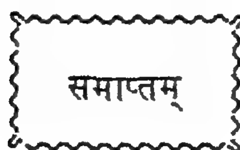
के किनारे यह गन्दगी फैलाती है, आपस की बोलचाल में अश्लील मज़ाक करती है, स्त्रियों का आदर करना नहीं जानती, दुकानदारी में कैसा झूठा सौदा करती है और अपने वर्ताव में ईमानदारी का चलन करना जानती ही नहीं —तिस पर श्रावण के स्नान, "मुख से राधाकृष्ण बोल, तेरा क्या लगेगा मोल" के गीत गाना और एकादशी के व्रत रखकर अपना पेट जलाना —इन सबसे लाभ क्या! शायद मेरे ये अबोध देशबन्धु ऐसा समझते हैं कि नित्य के व्यवहार में धर्म की कोई आवश्यकता नहीं, धर्म केवल स्नानों, व्रतों और पूजा-पाठ में ही निहित रहता है, तभी तो इन्हें जीवन की पवित्रता की ओर कुछ भी ध्यान नहीं और बाहर के आडम्बरों के लिए ये सब योजनायें! ऐसी जनता को सत्यमार्ग पर कैसे लाया जाये?

मेरा कर्त्तव्य क्या है? मुझे अपने देशवासियों के सामने सच्ची-सच्ची बातें रखनी ही होंगी। जिन देवी-देवताओं और पीर-पैगम्बरों को किसी भी] अवस्था में देवी-देवता अथवा पीर-पैगम्बर नहीं कहा जा सकता, जिनके आचरण देवी-देवताओं जैसे नहीं हैं, उनकी पूजा सर्वथा निन्दनीय है। आज बुद्धिवाद के इस युग में इन्हें स्पष्ट तौर से सच्ची-सच्ची बातें बतलानी ही होंगी। मुसलमानों को मुर्दों की पूजा से हटाकर एक ईश्वर की ओर लाना पड़ेगा और हिन्दू-मुस्लिम दोनों को जीवन की पवित्रता की महत्ता समझानी होगी। हज़ारों वर्षों से ग़लत मार्ग पर चलनेवाली इस हिन्दू-जनता को अब ज्ञान-प्रकाश दिखलाने का समय आगया है। ये रहना नहीं जानते, खाना नहीं जानते, शिष्टाचार नहीं जानते और न जानते हैं जीवनानन्द को—ऐसी अवस्था में भला ये स्वराज्य का सुख भी क्या ले सकेंगे! यदि गंगाजी की इसी घाटी में दस हज़ार जर्मन बस जायें तो वे इसे स्वर्ग बना दें। नहर के दोनों किनारों पर सुन्दर सड़कें और पार्क बन जायें; बिजली की गाड़ियाँ पाँच-पाँच मिनट के बाद यात्रियों को ऋषिकेश, लछमनझूला पहुँचाया करें और इर्द-गिर्द के ग्रामों का सम्बन्ध हरिद्वार से जोड़ दें; मलेरिया का नाम न रहे, स्थान-स्थान पर नीरोग भोजनालय हों; किसी प्रकार की दुर्गन्ध और बदबू न रहे; व्यभिचार

और भाट के बाजार बन्द हो जायें; छोटे-छोटे पुस्तकालय पंचपुरी में स्थापित हो जायें और श्रीगंगा जी की नैसर्गिक छटा का ऐसा रमणीक दृश्य बने कि दूर-दूर देशों के लोग इसका दर्शन करने यहाँ आवें और भागीरथी के किनारे पर बने हुए साफ़ सुथरे स्नानागारों में स्नान कर अपने को धन्य-धन्य समझें। परन्तु हा! हमारे लोग तो मरे जाते हैं कथाओं के लिए, भीड़-भड़क्कों के लिए, मेले-ठेलों के लिए और उन निस्सार बातों के लिए जिनके कारण इनकी दुर्दशा सैंकड़ों वर्षों से हो रही है।

मैं किस प्रकार अपनी जाति के बच्चों में पुराने ऋषियों का बल-वीर्य और तेज ला सकता हूँ? किस प्रकार उनका परम पुरुषार्थ नये सिरे से जगाया जा सकता है? किस प्रकार इस गिरी हुई भारत-जाति को प्रभु के ज्ञानोद्यान का दर्शन हो सकता है? मनुष्य का धर्म है—धैर्य्य से उद्योग करते जाना। 'ज्ञान के उद्यान में' अपनी इस पुस्तक में मैंने ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर देकर देश की सोयी हुई आत्मा को जगाने का प्रयास किया है। प्रभु से मेरी सविनय प्रार्थना है कि वे इस शुभ कार्य में मेरी सहायता करें और सरस्वती माता मुझे ऐसा सन्देश दे कि जिसे मैं अपने देशवासियों को सुनाकर अपनी जीवन-यात्रा सफल बना सकूँ।

॥ इति शुभम् भूयात् ॥



संजीवनी बूटी



ब्रह्मचर्य के विषय में हमारे पास सदा पत्र आते रहते हैं और लोग वीर्य-रक्षा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रश्न पूछते रहते हैं।

स्कूलों के विद्यार्थी हस्तमैथुन द्वारा अपने वीर्य को खोकर नाना प्रकार की व्याधियों से ग्रसित हो जाते हैं। यह पुस्तक पहले सन् १९१५ में लिखी गई थी। इसके बहुत से संस्करण हो चुके हैं और इसकी हज़ारों प्रतियों का प्रचार देश में हुआ है। अब इसके दोनों भागों को इकट्ठा कर भोजन, व्यायाम, गृहस्थी कैसे ब्रह्मचारी रह सकते हैं, तम्बाकू की बुराइयाँ, आनन्दमय जीवन आदि अत्यन्त उपयोगी निबन्ध इसमें मिलाकर मुखपृष्ठ पर व्यायाम करते हुए लेखक का चित्र दिया गया है।

यह पुस्तक प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ रहनी चाहिए, जिससे घर के सभी लोग इसके द्वारा लाभ उठा सकें।

मूल्य : केवल दो रुपये

